निगमागमिक समाज संरचना मीमांसा

सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा
यजुर्वेद 7/14

लेखक :
आचार्य भक्तिपुत्र रोहतम

सहायक लेखक :
एकात्म देव

निगमागमिक समाज संरचना मीमांसा

आचार्य भक्तिपुत्र रोहतम

पिल्ग्रिम्स पब्लिशिंग
वाराणसी
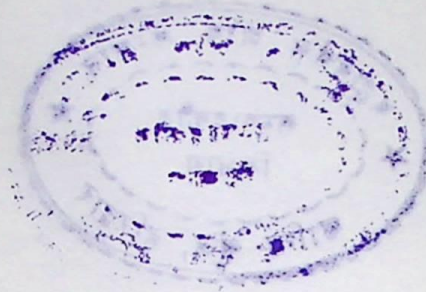
निगमागमिक समाज संरचना मीमांसा

आचार्य भक्तिपुत्र रोहतम

प्रकाशक

पिल्ग्रिम्स पब्लिशिंग

बी 27/98, ए-8, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी- 221010

टेलीफोन – 91-542 2314060

e-mail:pilgrimspublishingvns@gmail.com

website-www.pilgrimsonlineshop.com

www.pilgrimspublishingvns.in

प्रथम संस्करण – 2017

सम्पादन — वशिष्ठमुनि ओझा

आवरण — क्रिस्टोफर बर्चेट

लेआउट — सुरेश जायसवाल

ISBN : 978-93-5076-152-6

मुद्रण : भारत

विषय-सूची

पुरोवाक्

इस ग्रन्थ के लेखक का जन्म अयोध्या जनपद के एक सामान्य गाँव में हुआ, क्षेत्र, गाँव और पारिवारिक संस्कार के कारण बचपन से ही कण-कण व्यापी भगवान् राम के प्रति अगाध श्रद्धा रही, जो ध्रुव और प्रह्लाद की कथाओं से और भी गहरी हो गई। मेरी इसी भावना का अनुमान कर माता-पिता ने अत्यन्त अल्पायु १५ वर्ष की छोटी अवस्था में २४ जून १९७१ को विवाह कर दिया। उसके बाद भी आध्यात्मिक रुचि निरन्तर बढ़ रही थी, परमात्म सत्य को जानने और समझने की आकांक्षा तीव्र हो रही थी, गृहस्थ जीवन और आध्यात्मिक साधना का द्वन्द्व बढ़ रहा था। १४ जनवरी सन् १९७३ ई. को परमात्म सत्य को जानने की आकांक्षा इतनी प्रबल हुई कि एक तपस्वी का जीवन जीते हुए आध्यात्मिक साधना के लिए चित्रकूट पहुँच गया। सन् १९७५-७६ के आसपास जीवन की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना ने जीवन में परिवर्तन कर दिया।

विन्ध्य क्षेत्र में रामकथा की चर्चा में एक हरिजन (शूद्र) ने राम द्वारा शम्बूक वध के विषय में मुझसे पूछा, मैंने व्यासों से सुनी हुई कथा के आधार पर उन्हें बताया कि शम्बूक राम के शासन में एक आरक्षी सैनिक थे, और बिना सूचना दिये अपने कर्तव्य से चले जाने के कारण एक ब्राह्मण बालक को बाघ खा गया, जिससे नाराज होकर राम ने शम्बूक की हत्या की। दूसरे दिन वह सज्जन गीताप्रेस से छपी हुई वाल्मीकि रामायण की द्वितीय खंड पुस्तक ले आये और मुझे खोल कर शम्बूक वध का प्रकरण पढ़ने को दिया, मैं वह कथा पढ़कर भीतर से काँप गया, क्योंकि यहाँ वह कथा बिलकुल नहीं थी, जो मैंने किसी व्यास से सुन रखी थी और इन सज्जन को सुनाया था। यहाँ छपी कथा में वर्णित शम्बूक एक तपस्वी, सत्यवादी, किसी का अहित न करने वाला, जन्म से शूद्र था। जिसने कथा के अनुसार राम के पूछने पर अपना यही परिचय राम को

दिया। उसके मुख से शम्बूक शब्द सुनते ही राम ने चमचमाती तलवार से उसका सिर काट दिया, क्योंकि इस कथा के अनुसार शूद्र का तप करना महापाप था और मात्र उसके तप करने के कारण ब्राह्मण के पुत्र की मृत्यु हो गयी थी। यह कथा पढ़कर भीतर बहुत पीड़ा हुई। मैंने उन सज्जन से क्षमा माँगी और व्यथितचित्त होकर इस संबंध में निरन्तर चिन्तन कर रहा था। ऐसा लग रहा था मानो हर तरफ से कण-कण से कोई यह पूछ रहा हो जो राम सबमें रमा है, सबका अन्तर्यामी है, सबका हितचिंतक है, वह किसी निरपराध व्यक्ति की इस तरह हत्या कैसे कर सकता है? और यदि कर सकता है, तो परमात्मा कैसे हो सकता है? या महापुरुष भी कैसे हो सकता है?

वह दिन विचारों की इस पीड़ा में बीत गया, रात में नींद नहीं आयी। निरन्तर यह विचार चल रहे थे, रात्रि के अंतिम प्रहर में थोड़ी तन्द्रा आई, उस तन्द्रा में ही ऐसा लगा एक तेजस्वी रामाकृति छाया सम्मुख खड़ी कह रही है—"कण-कण व्यापी परमात्मा किसी निरपराध को कभी कोई दुःख नहीं देता, जन-जन में रमने वाले राम, जन-जन की पीड़ा को अपनी समझने वाले राम ने कभी किसी निरीह निरपराध का वध नहीं किया। जाओ संस्कृत पढ़ो, वेद पढ़ो, फिर रामायण पढ़ो, ऐसी अनेक दुष्टों द्वारा लिखी गई प्रक्षिप्त मिथ्या कथाओं का झूठ मेरी कृपा से तुम्हें स्पष्ट हो जायेगा। क्योंकि तुम्हें निरीह-निरपराध की पीड़ा का अनुभव हो रहा है, जो मेरी भक्ति का प्रथम सोपान है।" इसके बाद तन्द्रा टूट गई। संस्कृत पढ़ने की आकांक्षा से काशी आने का निर्णय हुआ। सन् १९७७ ई. में प्रयाग कुंभ से संस्कृत, वेद और वाल्मीकि रामायण पढ़ने की आकांक्षा लिये काशी आ गया।

काशी में आकर संस्कृत की साधना आरम्भ किया। धीरे-धीरे परमात्मा की कृपा से स्पष्ट हो गया कि, शबरी के प्रति राम के अत्यंत सम्मान से कुंठितचित्त मानसिकता के दुष्टों ने शबरी के आश्रम पम्पा सरोवर पर शबरी से मिलते-जुलते शम्बूक नाम की कल्पना कर उसकी हत्या की मिथ्या कथा लिख डाली है। क्योंकि राम की महनीयता से सम्पन्न रामायण के विशुद्ध रूप में रहते इस देश में जातिवाद का जहर घोलकर

जन्मना ऊँच-नीच की स्थापना नहीं की जा सकती थी। संस्कृत व्याकरण का अध्ययन कर वे्दों का अध्ययन करते हुए यजुर्वेद के तीसरे अध्याय का एक मन्त्र पढ़ते हुए मैं चौक गया, मन्त्र इस प्रकार है—

ब्रह्मणे ब्राह्मणम्, क्षत्राय राजन्यम्, मरुद्भ्यो वैश्यम्, तपसे शूद्रम्।[१]

मन्त्र का अर्थ बहुत सीधा था, सर्वाधिक चौंकाने वाले मन्त्र का चौथा वाक्य था—**'तपशे शूद्रम्'** जिसका अर्थ है तप के लिए शूद्र कहा, यह पंक्ति उस कथा के ठीक विपरीत थी। पहली बार तो ऐसा लगा कि कहीं मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ। मैंने आँखें मलीं, जाकर मुँह धोया, थोड़ा टहल कर फिर आया, फिर पढ़ा, पंक्तियां वही थी। मेरे लिये यह बात अत्यंत आश्चर्यजनक थी। मैंने सोचा, मैं जो इस मंत्र का अर्थ समझ रहा हूँ, यही है या इसमें कुछ परिवर्तन है, तो सद्यः ध्यान आया, यजुर्वेद का व्याख्यान रूप शतपथ ब्राह्मण है, मुझे शतपथ देखना चाहिये। मैंने शतपथ में यह प्रकरण खोजना प्रारम्भ किया, थोड़े प्रयास के बाद मुझे इन चारों वाक्यों का शतपथ का व्याख्यान मिल गया। वह तो और भी चौंकाने वाला था। वह इस प्रकार है—

ब्रह्मणे ब्राह्मणम् आलभते। ब्रह्म वै ब्राह्मणः। ब्रह्मैव तद्ब्रह्मणा समदर्धयति। क्षत्राय राजन्यम्। क्षत्रं वै राजन्यः। क्षत्रमेव तत्क्षत्रेण समदर्धयति। मरुद्भ्यो वैश्यम्। विशो वै मरुतः। विशमेव तद्विशा समदर्धयति। तपशे शूद्रम्। तपो वै शूद्रः। तप एव तत्तपसा समदर्धयति।[२]

पंक्तियां बहुत स्पष्ट हैं, जिन्हें थोड़ा भी संस्कृत का ज्ञान है, वे इन मन्त्रों का अर्थ समझ सकते हैं। मेरे लिए तो यह चौथी पंक्ति ही अत्यंत चौंकानेवाली थी, क्योंकि यहाँ स्पष्ट था कि 'तप के लिए शूद्र कहा, निश्चय ही तप ही शूद्र है, उस तपस्वी शूद्र के द्वारा किये जा रहे तप से वह तप ही समृद्ध होता है।'

यहाँ इस व्याख्या में तप और शूद्र शब्द को पर्यायवाची के रूप में श्रुति ने प्रयोग किया है। मैंने जो पाणिनीय व्याकरण पढ़ा था, उसके अनुसार **'शुच् शोके'** धातु से **'शुचेर्दश्च'** उणादि सूत्र से **शूद्र** शब्द बनता था। किंतु यहाँ शूद्र का अर्थ **तप** किया गया है। विवादित विषय में श्रुति

---

१. यजुर्वेद ३०.५। २. शतपथ १३।६।२।१०।

ही प्रमाण मानी जाती है। मैं परेशान था, आखिर **शूद्र** शब्द का अर्थ **तप** कैसे हुआ? जब पढ़ने बैठता तो इस पंक्ति का चिन्तन होने लगता। मैं पढ़ने की मेज पर बैठा था, पढ़ने में मन नहीं लग रहा था, आँखें दीवाल की तरफ शून्य में इसी तथ्य को खोज रही थी, अप्रत्याशित ढंग से हाथ मेज पर रखी सामने पुस्तक पर गया और पुस्तक का लगभग आधा भाग अचानक खुल गया, खुली पुस्तक के बड़े-बड़े अक्षरों पर ध्यान गया, वहाँ लिखा था—**'शोचतेर्ज्वलितिकर्मणः'** इस पंक्ति पर ध्यान जाते ही मेरे आश्चर्य का ठिकाना न था, क्योंकि यह पंक्ति कह रही थी, **शोचति** शब्द **ज्वलति** कर्म वाला है। अर्थात् शोचति का अर्थ **जलता** है ऐसा होगा। मैंने पुस्तक को ध्यान से देखा, यह यास्क का निरुक्त ग्रन्थ था। मैंने वहाँ उसकी व्याख्या में देखा जहाँ लिखा था—**'शुच दीप्तौ'**।[१] मैंने तुरन्त निघण्टु खोला, वहाँ शुच्, तप आदि कई धातुएँ पर्यायवाची के रूप में लिखी थीं। तब मुझे उस तेजस्वी छाया का निर्देश याद आ गया। भीतर से स्पष्ट हो गया कि यह रहस्य परमात्मा राम की कृपा से ही खुल गया है।

काशी में संस्कृत साधना के क्रम में सन् १९७७ के प्रारंभ में ही शिक्षा क्षेत्र में गुरु भाई आनन्द जी के साथ ही वर्षों रहना हुआ। उसके पहले मैं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विषय में कुछ नहीं जानता था। हाँ, बचपन में जिस परिवार में जन्मा, वहाँ घर के सभी लोग जनसंघ को वोट देते थे। किन्तु राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विषय में कोई जानकारी नहीं थी। आनन्द जी का सम्बन्ध राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से था। हम दोनों देर रात तक आध्यात्मिक और शिक्षा विषय पर चर्चा करते रहते थे, इस तरह हम दोनों एक दूसरे से प्रभावित थे और दोनों में एक-दूसरे के प्रति गहरी आत्मीयता भी हो गई थी। इसलिए जो कोई संघ का स्वयंसेवक आनन्द जी से मिलने आता था। वे उसे हमसे भी मिलाते थे। उसी समय विश्व हिन्दू परिषद के संगठन मंत्री जवाहरलाल मिश्र और विद्यार्थी परिषद के कार्यकर्ता प्रेमपति द्विवेदी का मेरे प्रति लगाव बढ़ गया। संयोगवशात् इस संस्कृत साधना के क्रम में ही परमात्मा की इच्छा से मैं रघुनाथ सिंह जी के सम्पर्क में आया, और उनके कहने से गंगा तट के उनके खाली भवन

---

१. निघण्टु १७।२।

'शान्ति निकेतन' में सन् १९८० से रहने लगा। यह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्यालय राम मन्दिर, गोदौलिया से काफी नजदीक था। इसलिए कार्यालय से गंगा नहाने के लिए आने वाले अधिकांश प्रचारक हमसे मिलते रहते थे। उस समय विद्यार्थी परिषद के प्रान्तीय संगठन मंत्री अशोक राय जो वर्तमान में अशोक भगत के नाम से जाने जाते हैं और विकास भारती चला रहे हैं, हमारे पास वहीं रुकते थे। तथा वनवासी कल्याण आश्रम के अवध बिहारी जी का आना-जाना भी बहुत था। धीरे-धीरे अध्ययन और साधना से अन्तर्मन में ये बात स्पष्ट हो गई थी कि विवाहित दम्पती आपस में एक-दूसरे के लिए आध्यात्मिक साधना में यदि समझपूर्वक रहें तो साधक होते हैं और इसके विपरीत बाधक होते हैं। मूलतः साधक या बाधक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार अपने लिये स्वयं होता है, न कि उसकी पत्नी या उसका पति।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि बचपन में ही माता-पिता ने विवाह कर दिया था, मेरे आध्यात्मिक साधना के लिए बाहर निकलने पर भी मेरी पत्नी ने अपना दूसरा विवाह न करके ससुराल में ही साधना करने का निश्चय कर लिया था। इस बीच पिताजी की अस्वस्थता में सन् १९७८ में घर जाना हुआ, पत्नी के आग्रह पर उनको आध्यात्मिक साधना की दीक्षा दी। सन् १९८७ में वो बीमार हुईं, तो उन्हें काशी अपने पास ले आया। यहाँ डॉक्टर आर एन वर्मा जो उनकी चिकित्सा कर रहे थे, उन्होंने कहा कि यदि कोई सन्तान हो जाए तो उसकी मानसिक चिन्ता दूर हो जायेगी। वह मानसिक चिन्ता ही उनकी बीमारी का मूल है। डॉक्टर की सलाह के एक वर्ष बाद बड़े पुत्र एकात्मदेव का जन्म हुआ, जो इस पुस्तक के सहायक लेखक हैं।

अपनी इस संस्कृत साधना और आध्यात्मिक साधना के बीच मैं अयोध्या गया था, वहाँ अयोध्या के कारसेवकपुरम् में विश्व हिन्दू परिषद के अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाहक अध्यक्ष मा. अशोक सिंघल ने हिन्दुओं की समरसता के विषय में संतों की एक छोटी गोष्ठी बुलाई थी। संयोग से उस समय मैं भी वहाँ चला गया। जहाँ अयोध्या के नृत्य गोपालदास जी आदि प्रसिद्ध संत उपस्थित थे। विविध संतों ने अपने विचार रखे, फिर कहा गया

कि आपमें से कोई और भी यदि कुछ विचार रखना चाहता है तो रखे। प्रभु की प्रेरणा से मैं उठा और दस मिनट में समरसता के विषय में वेद के उक्त मन्त्रों को प्रस्तुत किया। मा. अशोक सिंघल जी और वहाँ उपस्थित संतों ने भी मुझे बहुत ध्यान से सुना। कुछ लोगों ने कहा कि वेद में यह कहाँ है, मुझे लिखकर दीजिये। मैंने कहा कि मैंने एक छोटा-सा निबंध लिखा है जिसे मैं आप सबके समक्ष रख सकता हूँ। मा. अशोक सिंघल जी वहाँ से मुझे अपने कक्ष में बुलाकर ले गये, उन्होंने मुझसे कहा, महाराज जी! जो आप बोले हैं, यदि वेदों में यह है तो यह बहुत महत्वपूर्ण है, यह सब लिखकर आप सप्रमाण मुझे दीजिये। आपका इस हिन्दू समाज पर बहुत उपकार होगा। सम्भवत: यह सन् १९९१-९२ के आस-पास की बात है। मैंने एक २१ पृष्ठों का शोध निबंध लिखा और उसे शारदीय नवरात्र के अवसर पर प्रयागराज में मा. अशोक सिंघल के आवास पर उन्हें देने के लिए गया। जब मैं उनके आवास पर पहुँचा, तो प्रात: लगभग ९ बज रहे थे। वह मुझे देखकर बहुत प्रसन्न हुए, फिर वह लेख देखकर उन्होंने मुझसे कहा—महाराज जी! यह पूरा लेख पढ़कर सुनाइये और समझाइये। जलपान आदि के बाद मैंने वह लेख पढ़ना और समझाना शुरू किया, मैंने उस समय वेदों के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा का दर्शन किया। वहाँ जो भी विश्व हिन्दू परिषद का पदाधिकारी उनसे मिलने आ रहा था, उसको वे उसी चर्चा में बैठा लेते थे। सुबह १० बजे से सायं ५ बजे तक विविध प्रश्नो और उत्तर के रूप में यह चर्चा चलती रही, वे समरसता के विषयों को समझते रहे और प्रसन्न होते रहे। वेद के प्रति उनकी यह श्रद्धा मुझे जीवन में कभी विस्मृत नहीं हो सकती। चर्चा की समाप्ति पर उन्होंने मुझसे कहा, महाराजजी! आप इस संदर्भ में एक ग्रन्थ लिख दें, तो हमारे समाज का बड़ा उपकार होगा। परमात्मा ने ही हमें और आपको मिलाया है। उस समय जो निबंध मैंने मा. अशोक सिंघल जी को दिया था, उन्होंने उसकी अनेक प्रतियाँ मा. चम्पतराय जी के माध्यम से अनेक लोगों को बँटवायी थीं।

सन् २००६ नवम्बर में मेरी नियुक्ति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में धर्मागम के असिस्टेंट प्रोफेसर के पद पर हो गई। जो कुछ भी मैंने वेदों

को, वाल्मीकि रामायण को, और संस्कृत के विविध ग्रन्थों को पढ़कर जाना था, मुझे लगा, पहले इससे संस्कृत के विद्वानों को अवगत कराना चाहिये। साथ ही भीतर कहीं यह चिंतन भी हो रहा था कि यदि हिन्दी में लिखूँगा, तो यहाँ काशी के विद्वानों को लगेगा कि मूर्ख है, संस्कृत आती नहीं, ऐसे ही कुछ लिखा होगा। इन विचारों के कारण मैंने अपने शोध के दौरान जिन गंभीर विषयों का अनुशीलन किया था। उन सबको आत्मसात करते हुए अपना पहला ग्रंथ **'निगमागमयोस्तत्त्वविमर्श:'** संस्कृत में लिखा जो सन् २०११ में प्रकाशित हुआ। यह ग्रन्थ भी मैंने मा. अशोक सिंघल के आवास प्रयाग में जाकर उन्हें भेंट किया। तब उन्होंने कहा—यह तो ठीक है, किन्तु जन-सामान्य के लिए हिन्दी में आपका लिखना अत्यन्त आवश्यक है। कुछ दिनों बाद मैंने यह ग्रन्थ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रचारक मा. स्वान्तरंजन जी के साथ मिलकर सरसंघचालक मा. मोहन राव भागवत जी को भी लखनऊ में भेंट किया। उन्होंने कहा कि संस्कृत में लिखना तो बहुत अच्छी बात है, किन्तु अभी जनसामान्य के लिये हिन्दी में लिखना भी आवश्यक है। अत: आप यदि इसे हिन्दी में भी लिखें तो अच्छा होगा।

विश्वविद्यालय में नियुक्ति के बाद मैं पठन-पाठन में लगा तो धीरे-धीरे छात्रों का मेरे पास पढ़ने का क्रम काफी बढ़ गया। इस व्यस्तता में मैं लिखने के लिए समय ही नहीं निकाल पा रहा था। सन् १९८६-८७ से ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रचारक मा. रामचन्द्र पांडेय जी का हमारे साथ आत्मीय भाव बन गया था, उन्होंने भी कई बार हमसे संस्कृत की पुस्तक को हिन्दी में लिखने का आग्रह किया था, जिसे मैं स्वीकृति तो देता था, किन्तु वह वादा ही बना हुआ था। एक दिन वह अपने साथ सुनील खेमका जी को लेकर हमारे आवास पर पहुँचे और हमसे कहा, कि खेमका जी आपके पास एक टाइपिस्ट दे रहे हैं, आप उसको बोलकर लिखाना शुरू करें। नहीं तो आपकी हिन्दी पुस्तक नहीं हो पायेगी। यह उनका और सुनील खेमका जी का आग्रह बहुत प्रबल था, परिणामत: एक सप्ताह के भीतर एक टाइपिस्ट की व्यवस्था हो गयी, जो प्रतिदिन सुबह ८ बजे से १० बजे तक मेरे आवास पर आकर मेरे बोलने के अनुसार

ग्रन्थ को टाइप करने लगा। तब मुझे भी लगा कि यह बात मुझे पहले ही क्यों न सूझी? शायद प्रभु ने रामचन्द्र पांडेय जी को ही इसका निमित्त बनाना उचित समझा होगा। अन्त में मा. राजेन्द्र जी से इस संबंध में चर्चा हुई जो इन्हीं तथ्यों पर विमर्श करने के लिए हमारे पास आये थे। उनकी मानवीय समरसता में अत्यन्त निष्ठा है, उन्होंने स्पष्ट कहा कि ऐसी जो भी चीजें, जो हमारे आचार्यों को राक्षस सिद्ध करने के लिए दुष्टों द्वारा योजित की गई हैं, उन्हें इन पवित्र ग्रन्थों से निकाल देना चाहिये और विद्वानों तथा शासन को मिलकर ऐसी धर्मविरुद्ध बातों के पठन-पाठन पर तत्काल प्रतिबन्ध लगा देना चाहिये। उन्होंने हमें इन सारे तथ्यों को क्रमबद्ध और व्यवस्थित तरीके से ग्रन्थ में स्पष्ट करने की प्रेरणा दिया। इस प्रकार यह ग्रन्थ तैयार हुआ है जो भारतीय मूल वैदिक संस्कृति को स्पष्ट करने के उद्देश्य से लिखा गया है। निश्चित रूप से भगवान् राम की कृपा से वेदों का यह सत्य, जो इस ग्रंथ में उद्घाटित हुआ है, वह भारत की उस महनीय संस्कृति का दर्शन कराते हुए भारतजन को भारत की महनीयता की ओर प्रेरित करेगा। भारत का जन-जन भा रत होगा, इसी सद्भावना के साथ आपका सहृदय...

आचार्य भक्तिपुत्र रोहतम

धर्मागम विभाग का. हि. वि. वि.

प्रथम अध्याय

आधार

१ - मीमांसा की आवश्यकता क्यों?

हम देखते हैं कि हमारी समाज संरचना नाना कर्म परिकल्पित वर्ण भेद में और उसी के क्रम में प्राप्त जाति भेद में बँटी हुई दिखाई देती है। बहुत से लोग सब में मनुष्यत्व सामान्य होने पर भी, अपने को अन्य मनुष्यों से श्रेष्ठ मानने के, अथवा अन्य मनुष्यों से अपने को हेय मानने के अहंकार से ग्रस्त हैं। केवल इतना ही नहीं, बल्कि कुछ लोग तो ऐसे भी दिखाई पड़ते हैं कि, जो अपने को जन्मना श्रेष्ठ मानने के अहंकार के द्वारा, दूसरों को इसी जन्म आधारित वाह्य परिकल्पित वर्ण आश्रित-जाति व्यवस्था के द्वारा ही, हेय सिद्ध करने में लगे हैं। न केवल इतना ही, अपितु दुस्साहस के साथ बलपूर्वक, जबरदस्ती ऐसा ही समाज में स्थापित भी करना चाहते हैं।

प्राणिमात्र में परमात्मा का दर्शन करने वाला भारत, इस तथा कथित जातिवाद की भूमि पर, स्पष्ट रूप से बँटा हुआ, और संघर्षरत दिखाई पड़ता है। इस प्रकार से किसी समय में 'सारे प्रणियों के हित में लगा हुआ भारत, वर्तमान समय में इस झूठे जातिवाद के कीचड़ में फँसा हुआ दिखाई पड़ता है।

इसलिए जन जन में व्याप्त परमात्मा की करुणामयी अनुग्रह शक्ति मुझे वैदिक वर्णव्यवस्था के उस तथ्यात्मक स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए विवश कर रही है, जो वैदिक काल में सत्कर्म जन्य आजीविका, सहकारमय सामाजिक समरसता के साथ ही, ग्रामीण समग्रता की जननी रही।

क्या है वेदों में उसका स्वरूप? कहाँ से विकृत हुई यह व्यवस्था हृदयहीनता की पराकाष्ठा तक वैदिक एकात्म समरसता की भञ्जक हो गयी।

जो कुछ भी हेय है, षड्यन्त्र के द्वारा आरोपित है, छलपूर्वक जोड़ा गया है, वेदों की ज्ञान प्रकाशात्मिका परमात्मा की अनुग्रह शक्ति, उस अंधकार को अपने इस ज्ञान प्रकाश के द्वारा हटा देने के लिए उत्कण्ठित हो रही है। जिससे विवश हुआ मैं, उस परमात्मा की इच्छानुसार ही इस कर्म में प्रवृत्त हो रहा हूँ।

२-प्रथमतया कृषि विज्ञान की उत्पत्ति और जन सामान्य किसान

मूलरूप से मनुष्य भी इस प्रकृति का एक प्राणी है, यह सृष्टिरूप प्रकृति ही परमात्मा का शास्त्र है। मनुष्यों ने धीरे-धीरे इसी से ज्ञान प्राप्त किया। इस विषय में ऋग्वेद का यह मंत्र इस प्रकार का निश्चायक निर्णय देता है।

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठोऽध्वरेष्वीड्यः।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशे विशे।।[1]

अन्वय- इह धातृभि: वनेषु विभ्वं चित्रं प्रथम: धायि यम् अप्नवान: भृगव: विशे विशे विरुरुचु:, ते भृगव: अध्वरेषु ईड्य: होता।

इह-यहाँ इस संसार में **धातृभि:-** ज्ञान धारण करने में समर्थ लोगों ने **वनेषु**- बनों में, जंगलों में नाना आकारों में, फैले हुए, दिखाई पड़ रहे इस लोक में **विभ्वं-** चैतन्य विद्या से व्याप्त **चित्रं**- अनेक प्रकार के आश्चर्य गुणों वाले अद्भुत विज्ञान को **प्रथमः धायि**-सर्वप्रथम धारण किया। **यम-** जिस विज्ञान को **अप्नवानः-** अपना बनाते हुए- आत्मसात करते हुए, उसे जीवन व्यवहार में उतारते हुए, और उस ज्ञान की शिक्षा के द्वारा अपनी विद्या संतानों को उत्पन्न करते हुए, **भृगवः**-विद्या के द्वारा अविद्या को भूज डालने वाले अर्थात् जला डालने वाले परिपक्व विज्ञान से सम्पन्न ऋषियों ने **विशे-विशे**-जन जन के लिए **विरुरुचुः**–उस विज्ञान को प्रकाशित किया। अत: **ते भृगवः** वे ज्ञानदाता ऋषिगण **अध्वरेषु-** हिंसारहित सत्कर्मों में **ईड्यः** - हमारे पूज्य **होता-** सत्कर्म के उपदेष्टा एवं कर्ता हैं।

मीमांसा- वह इस प्रकार से, 'निश्चित समय में मास, ऋतु और वर्ष में, प्रकृति में हो रहा स्वाभाविक परिवर्तन। वनों में, वृक्षों में, वनस्पतियों

---

१ ऋग्वेद ४/७/१

में, औषधियों में और चराचर जीवों में ऋतुओं का प्रभाव, तदनुसार उनका स्वभाविक क्रियाकलाप, जीवों में पारस्परिक आत्मीयता, स्त्री-पुरुष भेद, उनमें अपने से विपरीत लिंगीय आकर्षण, उस आकर्षण के द्वारा उनका परस्पर सचेतन शरीर सम्बन्ध, उससे नवजीवन की उत्पत्ति, प्रजनन। सभी चर जीवों के द्वारा अपनी रक्षा के लिए किये जा रहे आहार प्राप्ति, नीड निर्माण, घर, घोंसला, निवास आदि निर्माण के उपाय। जीवों की विविधता, भिन्न-भिन्न प्रकार से आहार, विहार आदि की आवश्यकता और अपेक्षा। जिस प्रकार चलने-फिरने वाले चर जीवों में प्रजनन होता है, उसी प्रकार वृक्ष आदि अचर जीवों में प्रजनन के लिए भूमि में वनस्पतियों का, औषधियों का, वृक्षों का, बीज बोना और आवश्यकतानुसार जलादि के द्वारा भूमि को सींचना। उससे क्रमश: उनकी उत्पत्ति, बीज से अंकुर, अंकुर से किसलय, किसलय से वनस्पति, औषधि, वृक्ष, फिर उसमें फूल, फूल में पराग और प्रकृति के मिलन से फल। इस प्रकार से भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न वनस्पतियों और औषधियों की उत्पत्ति के द्वारा कृषि विज्ञान आदि ज्ञान धारणात्मक धर्म को सर्वप्रथम धारण किया। उस ज्ञान को कर्म में उतारते हुए, अहिंसक कृषि आदि कर्मों का सम्पादन करते हुए, अपने उस ज्ञान को बढ़ाते हुए, दूसरों में बाँटते हुए और इस प्रकार अपनी ज्ञान संतान को बढ़ाते हुए, ज्ञान के द्वारा अज्ञान को जला डालने वाले, परिपक्व विज्ञान से सम्पन्न उन ऋषियों ने जन-जन के लिए कृषि कर्म आदि अहिंसक सत्कर्मों की विशेष रूप से रचना किया और गुरु-शिष्य परम्परा से उसे जन-जन तक फैलाया।

इस मंत्र की व्याख्या में ऐतरेय श्रुति लिखती है—

''जगतीं वैश्यस्यानुब्रूयात्''[१]

यहाँ इस मंत्र में जगती छन्द वैश्य अर्थात् किसान का अनुकरण करने के लिए कहा, स्वयं श्रुति इस तथ्य को भी स्पष्ट करती है—

''जागतो वै वैश्य:''[२]

निश्चय ही कृषक ही जागतिक है, मूलत: किसान का ही नाम वैश्य है। कृषि में पैदा की गयी वस्तुओं की आवश्यकतानुसार संचार व्यवस्था

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण-५/२। २. ऐतरेय ब्राह्मण-५/२।

संपादन करने के लिए महापुरुषों ने पशुपालन और खेती में उत्पन्न, आवश्यक अन्न, फल, वस्त्र, पशु आदि क्रय विक्रयात्मक वाणिज्य कर्म की व्यवस्था किया। इसलिए आरम्भिक काल में कृषि और वाणिज्य कर्म करने वाला एक ही वर्ण मनुष्यों का था। जिसे वेद विश् अर्थात् वैश्य नाम से कहते हैं। यही बात शतपथ श्रुति कहती है—

''आद्या हीमाः प्रजाः विशः[१]''

सृष्टि के आदि में, प्रारम्भिक ज्ञान की दशा में, सभी मनुष्य किसान ही थे। इसीलिए **'विश्'** शब्द निघण्टु में मनुष्य के नामों में पढ़ा गया है। शतपथ श्रुति कहती है—

''भूमो वै विट्[२]''

निश्चय ही विशाल मानव समुदाय ही वैश्य है।

और पुनः—

''विशो वै विश्वेदेवाः[३]''

निश्चय ही किसान ही विश्व में देव हैं। अथवा सभी विद्वान् किसान समुदाय से ही आये हैं। इसीलिए सभी मनुष्यों की आकांक्षा की अभिव्यक्ति अथर्ववेद में इस प्रकार हुई है—

''यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे फालेन रोहति।
एवा मयि प्रजा पशवोऽन्नमन्नं विरोहतु।।[४]''

मंत्रार्थ- जिस प्रकार हल से अच्छी तरह जोती हुई उर्वरा भूमि में बीज बढ़ता है, अर्थात् बीज से अंकुर, अंकुर से किसलय, किसलय से वनस्पति और वृक्ष, वनस्पति और वृक्ष से फूल और फूल से फलपर्यन्त क्रम से बीज ही वृद्धि को प्राप्त होता है, बहुत होता है, उसी प्रकार से मेरे शरीर से, मुझ माता-पिता के शरीर से, बालक-बालिका रूप संतति, उसी प्रकार हमारे घर में गौ आदि पशु संतति, अन्न से अन्न की भाँति बढ़े, वृद्धि को प्राप्त हो, बहुत हो।

३-कृषि विज्ञान के व्यवस्थापक आदि प्रजापति महाराज वैवश्वत मनु– निम्नलिखित वेद मंत्रों से यह स्पष्ट होता है कि, कृषि विज्ञान की

---

१. शतपथ ब्राह्मण - ४/२/१/१७। २. शतपथ ब्राह्मण -३/९/१/१७।
३. शतपथ ब्राह्मण -५/५/१/१०। ४. अथर्ववेद -१०/६/३३।

नियमित व्यवस्था महाराज मनु के द्वारा इस समाज को, इस संसार को दी गयी। देखें यह मंत्र—

यद् यामं चक्रुर्निखनन्तो अग्रे कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया।
वैवस्वते राजनि तज्जुहोम्यथ यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम्।।[1]

मंत्रार्थ– सृष्टि के आदि में भूमि को जोतते हुए अन्नोत्पादन विद्या के ज्ञाता किसानों ने उस ज्ञान को उसी प्रकार जन-जन तक फैलाने के लिए जिन नियम समूहों की रचना किया, वे पृथ्वी के प्रथम सम्राट वैवस्वत मनु राजा के प्रति समर्पित हैं। हम इस नये अन्न से उनकी पूजा करते हैं। हे महात्मन्! यह मेरा अन्न मधुमय स्वादिष्ट और स्वास्थ्यप्रद हो।

प्रजा के लिए, किसानों के हित के लिए, ऋषि विश्वामित्र के द्वारा देखा गया, परमात्मा की प्रार्थनारूप यह मंत्र भी यहाँ विचार योग्य है—

इन्द्रः सीतां निगृह्णातु तां पूषाभिरक्षतु।
स नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्।।[2]

मंत्रार्थ- इन्द्र-वर्षा के अधिष्ठाता देव, हल से जोती हुई भूमि में हल का फाल जहाँ तक जाता है, उस सीता तक कि भूमि को वर्षा के जल से सींच देवें, उस जोती हुई भूमि जिसमें बीज बो दिया गया है, और जो सींच भी दी गयी है, उस भूमि की और उसमें उत्पन्न हुई वनस्पति की, इन वनस्पतियों के उत्पादन पोषणकर्ता देव पूषा सूर्य चारों तरफ से इसका पोषण करें। अन्न फल प्रदान करने वाली वनस्पतियों में रस का प्रवाह करने वाली यह जोती और सींची हुई भूमि हमको उत्तम उत्तम ऋतु के अनुकूल अन्न और फल देने वाली हो। अर्थात् यह भूमि हम सबको सभी ऋतुओं में उन-उन ऋतुओं में होने वाले अन्न और फल को देती रहे।

मीमांसा– इस प्रकार यह स्पष्ट है कि, आदि वैदिक काल में सभी लोग किसान थे। वर्णविभाग बाद में किया गया। जन्मना जाति जैसा कोई विभाजन नहीं था। अब यह विचार करना है, कि हमारे पूर्वज किसानों, ऋषियों ने, किस प्रकार से समाज को आगे बढ़ाने के लिए, किस प्रकार की समाज संरचना किया था।

---

१. अथर्ववेद-६/११६/१। २. अथर्ववेद ३/१७/४।

४-क्षत्र, क्षत्रिय और राजन्य की व्यवस्था

इस प्रकार उक्त मीमांसा से यह स्पष्ट है कि आदि वैदिक काल में सम्पूर्ण मानव समुदाय सामान्य किसान ही था। किसान का ही वैश्य और विड् यह नाम भी था, उस समय कार्यों के सम्पादन के लिए वर्ण-विभागात्मक कोई भी व्यवस्था नहीं थी, सारा ही जनसमुदाय अपनी-अपनी आजीविका वृत्ति में लगा हुआ था। समाज में मनुष्य अपने-अपने व्यवहार में और अपने कुटुम्ब के व्यवहार में लगा हुआ था, लोग अपनी रक्षा में और अपने कुटुम्ब की रक्षा में लगे हुए थे। समुदाय की रक्षा के लिए, समाज की रक्षा के लिए कुछ भी नहीं था। उसी प्रकार समुदाय की उन्नति के लिए भी कुछ नहीं था। किन्तु अपने-अपने कुटुम्ब के व्यवहार से विलक्षण समुदाय का व्यवहार भी लोगों में स्वाभाविक रूप से होता है, जैसे पड़ोसी के भूखे बच्चे के रुदन पर उसको भोजन कराने की इच्छा। किन्तु इस प्रकार के संवेदनात्मक व्यवहार की रक्षा के लिए कोई व्यवस्था नहीं थी। इसलिए ऐसी संवेदनात्मक भावनाओं से भावित सज्जनों, महापुरुषों, ऋषियों ने क्षत्र-तत्त्व की, राष्ट्र-तत्त्व की रचना की। यह क्षत्र-तत्त्व ही, राष्ट्र-तत्त्व ही वर्ण विभागात्मक समाज की संरचना का मूल है। जैसा कि यह अथर्ववेद का मंत्र कहता है—

''भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदः, तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं, तदस्मै देवा उपसन्नमन्तु[१]।।''

मंत्रार्थ– समग्र कल्याण की इच्छा से लोगों की भावनाओं के द्रष्टा ऋषियों ने, तप अर्थात् श्रम और दीक्षा अर्थात् शिक्षा में प्रवेश किया, अर्थात् प्रकृति से ज्ञानार्जन किया और उस प्रकृति से प्राप्त शिक्षा को श्रमात्मक कर्म से जीवन में उतारा, उससे राष्ट्र, राष्ट्र के रक्षक बल और ओज अर्थात् राष्ट्र रक्षण के अनुरूप तेजस्विता की उत्पत्ति हुई। इसीलिए विद्वान् लोग राष्ट्र, राष्ट्र रक्षक बल, उस राष्ट्र रक्षक भावना और उस भावना से सम्पन्न राष्ट्राध्यक्ष राजा की वन्दना करते हैं।

---

१. अथर्ववेद १९/४।

मीमांसा– उसे इस प्रकार समझें— मनुष्यों में दो प्रकार की प्रकृति पायी जाती है। पहली– संकट में पड़े किसी भी व्यक्ति, प्राणी के रक्षा करने की, भूखे को भोजन और प्यासे को पानी देने की। चूँकि यह प्रकृति मनुष्य के सहज स्वभाव में होती है, इसीलिए इसे दैवीय प्रकृति भी कहते हैं। दूसरी– इसके विपरीत है, दूसरे का छीन कर खाने की, अपने सुख के लिए दूसरे को दुख देने की, इसे आसुरी प्रकृति कहते हैं। समाज में इन दोनों प्रकार की प्रकृतियों के मनुष्य हैं। इसीलिए समाज में दैवीय प्रकृति की और दैवीय प्रकृति के लोगों की रक्षा और आसुरी प्रकृति, व आसुरी प्रकृति के लोगों पर रोक लगाने के लिए, राष्ट्र, राजा, राजन्य की, न्याय की, स्थापना और अन्याय, अपराध को रोकने के लिए दण्ड की व्यवस्था की गयी। यही तथ्य इस मंत्र में दर्शाया गया है।

द्वितीय अध्याय
चातुर्वर्ण्य मीमांसा

१-कर्म वर्ण-विभाग-कर्ता, और विभाग द्वारा समाज के उत्कर्ष हेतु, वेद प्रार्थना

समाज में अनेक प्रकार के कार्य हैं। सभी मनुष्य अपनी अपनी योग्यता के अनुसार यदि कार्यों को बाँट कर करें, तो समाज तेजी से उन्नति की ओर बढ़ सकता है। इस तथ्य को उन ऋषियों, महापुरुषों ने देखा, समझा, तदर्थ परमात्मा से प्रार्थना की, और फिर तदनुरूप ही व्यवस्था का संपादन किया। जैसा कि यजुर्वेद के ३०वें अध्याय में वर्णित है—

''देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय।

दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु[१]।।''

मंत्रार्थ– देव सविता–हे दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव, सभी प्राणियों में अन्तर्यामी रूप से स्थित, सत्कर्मों के प्रेरक परमात्मन्! ऐश्वर्ययुक्त धन के लिए, सत्कर्मकर्ता को यज्ञ अर्थात् सत्कर्म में प्रेरणा करें। हे दिव्य गुण स्वभाव, वाणी के स्वामी, सबके पालक अन्तःस्थित ज्ञान के शोधक, परमात्मन्! हम सब के चित्तवर्ती ज्ञान को पवित्र करें। वहीं वाणी के स्वामी सबके पालक परमेश्वर, हम सबकी वाणी को स्वादयुक्त करें।

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।

धियो यो नः प्रचोदयात्[२]।।

मंत्रार्थ–उस सर्वान्तर्यामी, सबके प्रेरक, सच्चिदानन्द स्वभाव, स्वयं प्रकाशमान, वरण करने योग्य परमात्मा का हम वरण करते हैं। सभी पापों को भष्म कर देने के सामर्थ्ययुक्त तेज को धारण करने वाले उन परमात्मा का हम ध्यान करते हैं, जो हम सबकी बुद्धियों को भलाभाँति सत्कर्म में प्रेरित करें।

---

१. यजुर्वेद माध्यंदिनसंहिता ३०/१। २. यजुर्वेद माध्यंदिनसंहिता ३०/२।

मीमांसा– इस ऋचा के द्रष्टा ऋषि का नाम विश्वामित्र है। सम्पूर्ण संसार के मनुष्यों के साथ मित्रात्मभावना से हितचिन्तक इस मंत्र के द्रष्टा होने के कारण उनका नाम विश्वामित्र हुआ। इस मंत्र में परमात्मा की प्रार्थना करता हुआ ऋषि उत्तम पुरुष के बहुवचन का ही प्रयोग करता है। क्योंकि वह अकेले होकर भी मित्रात्मभाव से सम्पूर्ण मानवों के साथ एकात्मता का अनुभव करता है। इसी तथ्य को ऋग्वेद का यह मंत्र स्पष्ट करता है—

विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्।[1]

समग्र विश्व के साथ तादात्म्य मित्रता का स्थापक ऋषि विश्वामित्र का यह एकात्म ज्ञान भा-प्रतिभा में रत 'भा-रत' जन की रक्षा करता है। अर्थात् विश्वामित्र का यह ज्ञान उन भारतजन की ही रक्षा करता है जो समग्र विश्व के साथ तादात्म्य स्थापित कर सम्पूर्ण मानवता के उत्कर्ष के लिए सर्वान्तरयामी परमात्मा से प्रार्थना करते हैं।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आसुव।।[2]

मंत्रार्थ– हे सविता देव! सभी दुरितों को, पापों को हमसे दूर कर दें, जो कुछ भी कल्याणप्रद है वह हम सब में लायें ।

विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः। सवितारं नृचक्षसम्।।[3]

मंत्रार्थ– हम सबके पालक व प्रेरक, मनुष्यों की भावनाओं के द्रष्टा, नानाविध कर्मों से उत्पन्न होने वाले धन की प्राप्ति के लिए लोगों की रुचियों के अनुकूल कर्म का विभाग करने वाले, सबके बसाने वाले परमेश्वर का हम कर्म में लगाने के लिए आवाहन करते हैं। किसलिए? सभी मनुष्यों को उनकी रुचि के अनुरूप कर्म में लगाने के लिए अर्थात् वर्ण विभाग के लिए।

मीमांसा– अब प्रश्न उठता है कि यह वर्ण शब्द क्या है? उस पर विचार करते हैं। वर्ण पद की निरुक्ति—

२- वर्ण पद की वैदिक व्याख्या

''वर्णो वृणोतेः[4]**''।**

''वृञ्-वरणे[5]**''** धातु से **''कृवृजृसिद्रूपन्यनिस्वपिभ्यो नित्**[6]**''** सूत्र

---

१. ऋग्वेद ३/५३/२। २. यजुर्वेद माध्यंदिन संहिता ३०/३। ३. य. मा.सं. ३०/४। ४. निरूक्त २/३। ५. पा.धातुपाठः५/८। ६. उणादिसूत्रम् ३/१०।

के द्वारा-**'न'** प्रत्यय करने से वर्ण शब्द बनता है, जिसका अर्थ हुआ कि जो अपनी रुचि के अनुकूल जिस कर्म का वरण करता है, वही उस व्यक्ति का वर्ण है। वर्ण शब्द के स्तुति, यश, रूप, अक्षर और स्वीकार अर्थ होते हैं।

पुनः वर्ण **''क्रियाविस्तारगुणवचनेषु**[१]'' और **''वर्ण प्रेरणे वर्णने च**[२]'' धातुओं से धातु के अपने अर्थ में **'अ'** प्रत्यय करने से भी वर्ण शब्द की सिद्धि होती है।

यहाँ उक्त निरुक्ति-अनुसार मनुष्यों के कर्म विभाग प्रकरण में मनुष्यों के द्वारा अपनी योग्यता और रुचि के अनुकूल जो-जो कर्म किये जाते हैं, वे कर्म ही उन-उन मनुष्यों के वर्ण है।

३-चातुर्वर्ण्य विमर्श

वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति हो चुकी है अब वर्ण्य और चातुर्वर्ण्य शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करते हैं। किसी भी धातु से भाव अर्थ में **'तस्यभावस्त्वतलौ**[३]' सूत्र से 'त्व' और 'तल' प्रत्यय होते हैं। किन्तु वर्ण्य शब्द से **''वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च**[४]'' इस सूत्र से वर्ण विशेषवाची तथा दृढ आदि शब्दों से ष्यञ् प्रत्यय और इमनिच् प्रत्यय का भी विधान किया गया है। इसी प्रकरण में **''गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च**[५]'' इस सूत्र से गुण वचन तथा ब्राह्मणादि शब्दों से जब उनका अर्थ कर्म हो तब और भाव में भी ष्यञ् प्रत्यय होता है। इन सूत्रों से जब ब्राह्मण आदि शब्दों से उक्त शिक्षा आदि कर्मों का कथन किया जायेगा तो ष्यञ् प्रत्यय होगा। इस प्रकार से व्युत्पत्ति हुई कि वरण किये जाने योग्य मुख्य चार प्रकार का कर्म क्रमशः शिक्षण, रक्षण, कृषि-वाणिज्य और श्रम शिल्प ही **'चातुर्वर्ण्य'** है।

करने योग्य सत्कर्मों की व्यवस्था के नियामक यजुर्वेद में वर्ण विभागात्मक गुण, कर्म, क्रिया-विस्तार के प्रकरण में ऊपर कहे गये उक्त चार मंत्रों के द्वारा सभी लोगों के हित के लिए और सभी लोगों के सुख के लिए प्रार्थना की गयी है। उसी के बाद लोगों की योग्यता के अनुसार उनके कर्म विभाग

---

१. पा. धातुपाठः १०/३३५। २. पा. धातुपाठ १०/१९,२०।
३. अ.५/१/११९। ४. अ.५/१/१२३। ५. अ.५/१/१२४।

रूप वर्ण नियोजन की प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन हुआ है। उनमें से प्रथम चार वर्णों का विमर्श हम यहाँ सर्वप्रथम करते हैं। समग्र वर्णों का वर्णन इसके बाद करेंगे। समाज में बहुतायत से प्रचलित उन चार वर्णों का इस अध्याय में वर्णन इस प्रकार है—

''ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम्.......... आलभते।[1]''

इन मुख्य चार वर्णों का शतपथ में व्याख्यान इस प्रकार है—

४-ब्राह्मणवर्णयोजना

१ ''ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते''। ब्रह्म वै ब्राह्मणः।
ब्रह्मैव तद्ब्रह्मणा समर्द्धयति।[2]

मंत्र का अर्थ जानने से पहले ब्रह्म शब्द का अर्थ जानना चाहिए। **बृह्-वृद्धौ, बृहि बृंह-बृद्धौ शब्दे च**[3],

धातुओं से ''**सर्वधातुभ्यो मनिन्**[4]'' इस सूत्र से मनिन् प्रत्यय करके ''**बृंहेनोऽच्च**[5]'' सूत्र के द्वारा मनिन् के बचे 'न' को 'अ' करके और 'ब' के 'ऋ' को 'र' करके ब्रह्म शब्द की सिद्धि होती है। ''**बृंहति वर्धते यत् तद् ब्रह्म।**'' अर्थात् जो बढ़ता रहता है, वह ब्रह्म है, अब प्रश्न यह है कि ऐसा क्या है, जो बिना विराम लिए निरंतर बढ़ता ही रहता है, ऐसा नहीं कह सकते कि ऐसा कुछ भी नही है, क्योंकि ज्ञान सदैव बढ़ता ही रहता है। इसलिए ब्रह्म शब्द का मूल अर्थ ज्ञान ही है। अब पुनः जहाँ कहीं ज्ञान की वृद्धि रूप संबंध दिखता है, वह भी ब्रह्म है। जैसे-जहाँ बहुत ज्ञान है, ऐसे चारों वेद भी ब्रह्म हैं ''**वेदो ब्रह्म**[6]'' मन से जानता है, इसलिए ''**मनोब्रह्म**[7]'' मन ब्रह्म है, श्रोत्र से जानता है इसलिए ''**श्रोत्रं ब्रह्म**[8]'' नेत्रों से जानता है इसलिए ''**चक्षुर्वै ब्रह्म**[9]'' सबके हृदय में अन्तर्यामी रूप से बैठा परमात्मा

---

१. यजुर्वेद ३०-५ से ३०-२२तक
२. यजुर्वेद ३०-५, शतपथब्राह्मणं ३/६/२/१०
३. पा.धातुपाठ १/४८८,४८९,४९०
४. उणादि सूत्र ४/१४६
५. उणादि सूत्र ४/१४७
६. जै.उ.४/२५/३
७. गो.पू.२/१०
८. शतपथ १४/६/१/४२
९. शतपथ १४/६/१०/८

सब कुछ जानता है, इसलिए श्रुति उसे "**परम ब्रह्म**" कहती है। "**हृदयं वै सम्राट परमं ब्रह्म**[१]" इस प्रकार स्पष्ट है कि, प्रकृष्ट ज्ञान ही ब्रह्म है, "**प्रज्ञानं ब्रह्म**[२]" जैसे ज्ञानवान् ज्ञानी वैसे हि ब्रह्मवान् ब्राह्मण, इसी प्रकार जब वेद ब्रह्म है, तो वेद की व्याख्या करने वाले शास्त्र भी ब्राह्मण कहे जाते हैं। जैसे—ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, ताण्ड्य महाब्राह्मण और गोपथब्राह्मण। संस्कृत में पुस्तक शब्द नपुंसक लिंग है, तदनुसार शास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त ब्राह्मण शब्द भी नपुंसक लिंग है। इसी प्रकार ज्ञानी व्यक्ति पुल्लिंग है। तदनुसार ज्ञानी के अर्थ में प्रयुक्त ब्राह्मण शब्द भी पुल्लिंग है। इस प्रकार वेद हुआ ब्रह्म और वेद का ज्ञानवान् ब्राह्मण। अब मंत्रार्थ देखें—

राष्ट्र का अध्यक्ष राजा अथवा राष्ट्र हित में राजा द्वारा संगठित विद्वत् समाज **ब्रह्मणे**-ज्ञान के लिए,राष्ट्र के बालक-बलिकाओं की शिक्षा के लिए, वेद की शिक्षा के लिए। **ब्राह्मणम्-** ज्ञानी को वेद के विद्वान शिक्षक को **आलभते-** सब जगह से प्राप्त कर इस व्यवस्था में नियुक्त करता है। **ब्रह्म**-ज्ञान **वै**-निश्चय ही **ब्राह्मणः-** अर्थात् निश्चित रूप से ज्ञान ही ब्राह्मण है। इस प्रकार ज्ञान से युक्त, ज्ञान देने में समर्थ व्यक्ति ही ब्राह्मण है, शिक्षक है, आचार्य है। निश्चय ही ब्रह्मचर्या के द्वारा, शिक्षाचर्या के द्वारा, ब्राह्मण से अर्थात् शिक्षक से सभी ब्राह्मचारियों अर्थात् शिक्षार्थियों में बढ़ता हुआ ज्ञान ही, ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व या गुरु का गुरुत्व या शिक्षक का शिक्षकत्व है। **तद्ब्रह्मणा-** उस ज्ञान के द्वारा, **ब्रह्म एव**-बढ़ता हुआ ज्ञान ही, **समर्द्धयति-** समृद्ध होता है। अर्थात् ज्ञान ग्रहण करने वाले ब्राह्मचारियों, शिष्यों, शिक्षार्थियों के साथ ही ज्ञान देने वाले ब्राह्मणों, शिक्षकों गुरुओं में भी बढ़ता हुआ ज्ञान, स्वयं राष्ट्रीय ज्ञान के रूप में समृद्ध होता है। इस प्रकार इस समृद्धि को प्राप्त होता हुआ, राष्ट्र में फैलता हुआ, यह ज्ञान गुरु की, शिष्य की और राष्ट्र की भी उन्नति करता है।

मीमांसा- शिशु के जन्म के बाद शारीरिक विकास के साथ ही सम्पूर्ण विकास के लिए पहली आवश्यकता उसकी शिक्षा की व्यवस्था है। क्रमशः विविध प्रकार के ज्ञान से उस शिक्षार्थी के अनुकूल विशेष प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता होती है। इसीलिए सभी मनुष्यों की उन्नति के लिए सर्वप्रथम

---

१. शतपथ १४/६/१०/१८। २. ऐतरेय उपनिषद् ५/३।

ब्राह्मण वर्ण अर्थात् शिक्षा विभाग की आवश्यकता होने के कारण वेद ने सर्वप्रथम उसी का उपदेश किया। वह शिक्षा, शिक्षा-विषयक, प्रशासन विषयक, कृषि और वाणिज्य विषयक अथवा श्रम और शिल्प विषयक, कोई भी हो सकती है। शिशु का जन्म किसी भी घर में हो। उसके माता-पिता किसी भी वर्णात्मक कर्म में लगे हों। ज्ञान प्राप्ति उसका अधिकार है। प्राचीन वैदिक काल में ब्रह्म, ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, ब्रह्मकुल, ब्रह्मचर्या नाम से प्रसिद्ध शब्दों के स्थान पर वर्तमान समय में क्रमशः ज्ञान, शिक्षक, शिक्षार्थी, शिक्षालय, शिक्षाचर्या नामक शब्द प्रयुक्त होते हैं।

वर्तमान काल में प्राचीन वैदिक शब्दों का मूल अर्थ छोड़कर गौण अर्थ अथवा भिन्न अर्थ का प्रयोग देखा जाता है। जैसे-वर्तमान समय में ब्रह्म शब्द का प्रयोग ज्ञान के लिए नहीं करते, बल्कि ब्रह्म शब्द का प्रयोग परमेश्वर के अर्थ में करते हैं। शिक्षार्थी और शिक्षार्थिनी को ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी नहीं कहते हैं, बल्कि जो विवाह नहीं करता है, विपरीत लिंगीय स्त्री या पुरुष से संबंध नही स्थापित करता है। ऐसे शुक्र की रक्षा करने वाले पुरुष या रज की रक्षा करने वाली स्त्री को क्रमशः ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी कहते हैं। मूलतः प्राचीन वैदिक काल में २५ वर्ष तक शिक्षा ग्रहण करने का समय होता था, शिक्षा काल को ब्रह्मचर्य आश्रम कहते थे। उस समय बाल विवाह की कल्पना भी नहीं थी। बाल्यकाल में शिक्षा ग्रहण करते हुए बालक बालिकों में युवा अवस्था के चाञ्चल्य का निषेध चरित्र शुद्धि के लिए आवश्यक था। इसलिए धीरे-धीरे शिक्षाचर्या के लिए प्रयुक्त होने वाला ब्रह्मचर्य शब्द स्त्री-पुरुष के विपरीत लिंगीय संबंध न रखने में रूढ़ हो गया। ऐसा प्राचीनकाल में नहीं था। जैसे प्राचीनकाल में पत्नी सीता के साथ ज्ञानाचरण, धर्माचरण करते हुए वनवासी राम को वाल्मीकि रामायण में ब्रह्मचारी कहा गया है।

वाल्मीकि रामायण में यह प्रसंग तब आया है। जब सूर्पणखा कामान्ध होकर राम से विवाह करने के लिए गयी, और उनके इनकार करने पर लक्ष्मण के पास गयी, और उन दोनों के न मानने पर सीता पर जानलेवा आक्रमण कर दिया। परिणामस्वरूप राम के कहने पर लक्ष्मण ने उसकी नाक और कान काट लिया, जिसपर वह भागी हुई खर-दूषण के पास गयी,

और उन दोनों के यह पूछने पर कि तुम्हारी यह दशा किसने की। वह इन श्लोकों द्वारा राम-लक्ष्मण का परिचय दे रही है।

फलमूलाशिनौ दान्तौ तापसौ ब्रह्मचारिणौ।
पुत्रौ दशरथस्यास्तां भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।।
तरुणी रूपसम्पना सर्वाभरणभूषिता।
दृष्टा तत्र मया नारी तयोर्मध्ये सुमध्यमा।।[१]

अर्थ–"फल-मूल खाने वाले अत्यन्त तेजस्वी, तपस्वी, ब्रह्मचारी दशरथ के दो पुत्र राम और लक्ष्मण वन में आये हैं। उनके साथ अत्यन्त रूपवती युवती सारे आभूषणों से सजी हुई उनके बीच में राम की पत्नी को मैंने देखा।"

उसके बाद के श्लोकों में वह खरदूषण से बताती है कि, मैं उनकी सुन्दर पत्नी को आप के लिए लाना चाहती थी। जिसके कारण उन्होंने मेरी यह दशा की। यहाँ इन श्लोकों में स्पष्ट रूप से अपनी अत्यन्त सुन्दर पत्नी के साथ रहने वाले राम को सूर्पणखा ने ब्रह्मचारी कहा। क्योंकि उस समय ब्रह्मचारी का अर्थ ज्ञानाचरण करना ही होता था। अन्यथा वार्तालाप के समय सूर्पणखा से बार-बार यह बताने पर भी कि यह मेरी पत्नी सीता हैं, इसलिए मेरा तुम्हारे साथ शादी करने का औचित्य नहीं बनता। इस सत्य से स्पष्ट है कि यदि ब्रह्मचारी शब्द का अर्थ स्त्री संबंध रहित होना होता, तो सूर्पणखा राम को ब्रह्मचारी कदापि न कहती। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल में ब्रह्मचारी का अर्थ ज्ञानाचरण ही था। अविवाहित रहकर वीर्य रक्षण करना नहीं।

अब कोई यह पूछ सकता है कि सूर्पणखा कोई सत्यवादिनी स्त्री नहीं थी, इसलिए वह झूठ भी बता सकती है। ऐसा संदेह कोई न करे क्योंकि आगे राम स्वयं भी अपना परिचय देते हुए अपने को ब्रह्मचारी कहते हैं।

सूर्पणखा के बताने पर राम की पत्नी सीता को छीनने के लोभ से और अपनी बहन सूर्पणखा के अपमान का बदला लेने के अहंकार से युक्त खरदूषण ने अपने १४ बलवान राक्षसों को राम और लक्ष्मण को मारने तथा उनकी पत्नी सीता को बलपूर्वक ले आने के लिए सूर्पणखा के साथ भेजा,

---

१. वा. रामायण अरण्य काण्ड १९/१५/१७।

वे १४ राक्षस सूर्पणखा के साथ पहुँच कर राम से पूछते हैं, कि तुम कौन हो? और ऐसा करने का दुस्साहस तुमने कैसे किया? उसके उत्तर में राम ने इन दो श्लोकों से अपना परिचय दिया है—

पुत्रौ दशरथस्यावां भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
प्रविष्टौ सीतया सार्ध दुश्चरं दण्डकावनम्।।
फलमूलाशिनौ दान्तौ तापसौ ब्रह्मचारिणौ।
वसन्तौ दण्डकारण्ये किमर्थमुपहिंस्यथ।।[1]

श्लोकार्थ–"हम दोनों भाई राम और लक्ष्मण दशरथ के पुत्र हैं। अपनी पत्नी सीता के साथ इस दुश्चर, अत्यन्त कठिन दण्डकवन में आये हैं। इस दण्डकवन में रहते हुए फल-मूल खाने वाले तेजस्वी तपस्वी ब्रह्मचारी हम दोनों को आपलोग क्यों मारना चाहते हैं? यहाँ राम ने अपनी पत्नी के साथ रहते हुए अपने ज्ञानाचरण को ब्रह्मचर्य शब्द से कहा है, न कि वे अपने को अविवाहित होना या अपनी पत्नी से असंबंधित होना बताया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि ब्रह्मचारी शब्द का अर्थ ज्ञानाचरण करने वाला ही है। न कि अविवाहित होना।

इसी प्रकार से ज्ञानी, आचार्य, शिक्षक के लिए प्रयुक्त होने वाला ब्राह्मण शब्द अपने मूल अर्थ को छोड़कर वर्ण विभाग के विकृत रूप जन्मना प्रचारित, वाह्य परिकल्पित, शरीरगत अहंकार का पोषण करने वाले मनुष्य जाति के विभाजन में प्रचलित हो गया है। किन्तु वेद का अर्थ करते समय शब्द के अर्थ के विरुद्ध और श्रुति के विरुद्ध भी ऐसा मिथ्या अर्थ कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता।

"**प्रज्ञानं ब्रह्म**[2]", "**वेदो ब्रह्म**[3]", **ब्रह्म वै ब्राह्मणः**[4] इत्यादि श्रुतियों का किसी को जन्म से ब्राह्मण कहने पर अनर्थ होगा।

५-क्षत्रिय वर्ण योजना (२)

"क्षत्राय राजन्यम्"। क्षत्रं वै राजन्यः। क्षत्रमेव तत्क्षत्रेण समर्द्धयति।[5]

---

१. वा.रामायण अरण्यकाण्ड २०/७-८। २. एतेरेय.५/३।
३. जैमिनीय उपनिषद् ४/२५/३। ४. शतपथब्राह्मण ३/६/२/१०।
५. यजुर्वेद ३०/५, शतपथब्राह्मण ३/६/२/१०

मंत्र का अर्थ जानने से पहले क्षत्र, क्षत्रिय और राजन्य पदों का अर्थ जानना चाहिए। **''क्षण्यते हिंस्यते नश्यते पदार्थो येन स क्षतः''** अर्थात् चोट हानि और क्षति को क्षत कहते है। **''क्षतात् त्रायते रक्षति इति क्षत्रम्''** अर्थात् जो किसी भी प्रकार की क्षति से रक्षा करे वह क्षत्र है। **क्षणु-हिंसायाम्** तनादिधातु से **'क्त'** प्रत्यय करने से क्षत शब्द सिद्ध होता है। किसी विपत्ति से, प्रजा के रक्षण में सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य और राष्ट्र, क्षत्र हैं। **''क्षत्रेण युक्तः क्षत्रियः''** और ऐसे राष्ट्र की रक्षा में सम्प्रभुता से सम्पन्न राजा, रक्षण कर्म में लगे हुए राज्य के सैनिक, अथवा प्रशासनिक कार्य में लगे हुए सभी कर्मचारी क्षत्रिय हैं। जैसा कि श्रुति कहती है **''क्षत्रं हि राष्ट्रम्''** राष्ट्र ही क्षत्र है।[१] इसके साथ हि जहाँ कही भी सम्प्रभुता-सम्पन्न रक्षण करने का सामर्थ्य है, वह क्षत्र है। जैसै—**''प्राणो हि वै क्षत्रम्। हैनं प्राणः क्षणितोः प्रक्षत्रमात्रमाप्नोति क्षत्रस्य सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद''।**[२] अर्थात् प्राण हि क्षत्र है, यह प्राण चलता हुआ जीवन की रक्षा करता है, इसलिए यह क्षेत्र के प्रकृष्ट क्षत्रत्व को प्राप्त होता है। जो कोई इस रहस्य को जानता है, वह राष्ट्र के साथ आत्मीय भाव से जुड़ता है, और लोगों की भावनाओं पर विजय प्राप्त करता है, अर्थात् लोगों का आत्मीय बन जाता है। इसी प्रकार शारीरिक क्षति से रक्षा करने वाला हृदय भी क्षत्र है। प्रायः लोगों का पालन और रक्षा करने के कारण पालक और रक्षक के लिए क्षत्र और क्षत्रिय शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसलिए श्रुति कहती है **''प्रजापतिर्वै क्षत्रम्**[३]**''** प्रजा का पालन करने वाला प्रजापति राजा ही क्षत्र है।

जो राष्ट्र-रक्षा के अधिकार से प्रकाशित होता है, उसे राजन्य कहते हैं, इस व्युत्पत्ति से **राजृ दीप्तौ** धातु से **राजेरन्यः**[४] इस सूत्र के द्वारा अन्यः प्रत्यय करने पर राजन्य शब्द सिद्ध होता है। अथवा इसी धातु से **''कनिन् युवृशितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः**[५]**''** इस सूत्र के द्वारा कनिन प्रत्यय करने से राजन्य शब्द की सिद्धि होती है। जो अपने दिव्य गुण, कर्म से प्रकाशित

---

१. ऐतरेय ७/२२।
२. शतपथ ब्राह्मण १४/८/१४/४।
३. शतपथ ब्राह्मण ८/२/३/११।
४. उणादिसूत्र ३/१००।
५. उणादिसूत्र १/१५६।

हो वह राजा है। **राजन्** शब्द से **'राज वसुराद्यत्'** इस सूत्र के द्वारा **'यत्'** प्रत्यय करके राजन्य शब्द बनता है। इस प्रकार से राजा का और राष्ट्र का कर्मचारी ही राजन्य होता है। इसलिए राज्य कार्य के संचालन में समर्पित कर्मचारियों को राजन्य कहा जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि क्षत्र तत्व मूलक ही राजन्य है। जैसा कि श्रुति कहती है **''क्षत्रस्य वा एतद्रूपं यद्राजन्यः**[१]'',यह जो राजन्य है, यह राष्ट्र का ही प्रतीक है **''ओजः क्षत्रं वीर्य राजन्यः**[२]'' ओज क्षत्र है, और सामर्थ्य राजन्य है।

अब इस मंत्र का अर्थ देखें—

क्षत्राय- प्राणियों के प्रति आत्मीय भावना, सत्यनिष्ठा, न्याय नीति, चरित्र और सामर्थ्य के द्वारा लोगों की और राष्ट्र की रक्षा के लिए, उसी प्रकार मिथ्याचरण से, दुश्चरित्रता से, निष्ठुरता से, पापों से समाज की रक्षा करने के लिए, एवं मिथ्याचारियों को, दुश्चरित्रों को, निष्ठुरों को, पापियों को दण्ड देने के लिए, **(राजन्यम्)** इस प्रकार के कार्य सम्पादन में सक्षम एवं कुशल राजपुरुषों, क्षत्रियों अर्थात् सैनिकों को **(आलभते)** अच्छी तरह से प्राप्त किया जाता है, अर्थात् राष्ट्राध्यक्ष राजा, या इस प्रकार के लोगों का चयन करने के लिए बनायी गयी चयन समिति, सम्पूर्ण राष्ट्र से ऐसे योग्य लोगों का चयन कर इस कार्य में नियुक्त किया जाय। अर्थात् राष्ट्र की रक्षा के लिए राष्ट्र-भक्तों की नियुक्ति की जाती है।

''**क्षत्रं वै राजन्यः**'' निश्चय ही जो यह क्षत्र-रक्षण सामर्थ्य है वह ही प्रशासक का, राजपुरुष का, राजपुरुषत्व या क्षत्रिय का क्षत्रियत्व है।

''**क्षत्रमेव तत्क्षत्रेण समर्द्धयति**''। इस पालन-रक्षण-रूप क्षत्रिय कर्म के द्वारा जन-जन में पालन-रक्षण सामर्थ्य की समृद्धि होती है। वह इस प्रकार से जब कोई रक्षा करने वाला, किसी की किसी भी प्रकार के संकट से रक्षा करता है, तब जिसकी रक्षा की गयी है, उसमें रक्षा करने वाले के प्रति श्रद्धा जागृत होती है, और साथ ही रक्षा करने की भावना भी जागृत होती है। राष्ट्र में रक्षा और न्याय की स्थापना होती है। दुराचरण, निष्ठुरता, और पाप मिटता है। इस प्रकार से राष्ट्र सत्य, न्याय, नैतिकता, रूप, रक्षण, धर्म से समृद्ध होता है। यह रक्षण कर्म अत्यन्त संवेदनामूलक है,

---

१. शतपथ १३/१/५/३। २. ऐतरेय ८/२।

इसलिए इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए राजा की प्रतिज्ञा का यह वेद वाक्य है—

''आत्मा क्षत्रमुरो मम[१]''

''रक्षण धर्म और राष्ट्र मेरा आत्मा है मेरा हृदय है।''

जैसा कि प्रारम्भ में ही यह विमर्श किया गया कि सृष्टि के प्रारम्भ में वर्ण विभाग नहीं था, आपस का ज्ञान ही आपसी व्यवहार का आधार था, इस ज्ञान के द्वारा ही आपसी व्यवहार चलता था, इस ज्ञान का सामूहिक उपयोग नहीं था, यह आपसी कुटुम्ब व्यवहार अतीव सीमित था। इसलिए इस आत्मीय विज्ञान का सामूहिक लाभ प्राप्त करने के लिए, समाज के अभ्युदय के लिए, ज्ञानियों ऋषियों ने **क्षत्र तत्व** की रचना की, इस विषय को शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार बताया गया है—

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयो-रूपमत्यसृजत क्षत्रम्। यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमः रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति। तस्माद्ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपासते, राजसूये क्षत्र एव तद्यशो दधाति , सैष क्षत्रस्य योनिर्यद्ब्रह्म। तस्माद्यद्यपि राजा परमतां गच्छति, ब्रह्मैवान्ततः उपनिश्रयति स्वां योनिम्। य उ एनं हिनस्ति स्वां स योनिमृच्छति। स पापीयान्भवति यथा श्रेयासं हिंसित्वा।[२]''

सृष्टि की, संस्कृति की प्रारम्भिक दशा में लोगों के व्यवहार का साधन एक मात्र **ब्रह्म** अर्थात् **ज्ञान** ही था। ज्ञान के द्वारा ही पारस्परिक व्यवहार चलता था। वह ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति के अलग-अलग एकाकी कर्मप्रयास के द्वारा अपेक्षित वैभव को नहीं प्राप्त कर सका। तब उस ज्ञानी समुदाय ने आपस में विमर्श से उदित ज्ञान के द्वारा समुदाय के हित की, अपेक्षा से, सम्पूर्ण समुदाय का अतिशय हित चाहते हुए, संवेदनामूलक हृदय प्रधान ज्ञान का जो अत्यन्त श्रेष्ठ रूप था, सबकी किसी भी प्रकार की क्षति से रक्षा करने की क्षमता एवं योग्यता के दृष्टिगत सम्पूर्ण समाज के हृदय रूप **क्षत्रम्**-राष्ट्र, राजा और राजन्य की रचना की। इस क्षत्र और क्षत्रिय का प्रसिद्ध प्राकृतिक रूपकों के द्वारा श्रुति

---

१. यजुर्वेद मा.सं.२०/७।

२. शतपथब्राह्मण१४/४/२/२३, बृहदारण्यक १/४/११

ज्ञान कराती है। ये जो लोक में प्रसिद्ध रक्षा करने वाले देव क्षत्रिय हैं, जैसे- इन्द्र अर्थात् जीवात्मा इन्द्रियों का अधिपति है, जैसे- वरुण जल में रहने वाले जलचर जीवों का अधिपति है, जैसे- चन्द्रमा रात्रि का अधिपति है, जैसे रुद्र, अर्थात् मुख्य प्राण इन्द्रिय और प्राणों का अधिपति है। रुद्र की यह व्याख्या स्वयं श्रुति इस प्रकार करती है—

कतमे रुद्रा इति। दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदस्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति।[१]

"कितने रुद्र हैं ? इस पुरुष में दश प्राण हैं, ग्यारहवाँ आत्मा है, इस प्रकार ग्यारह रुद्र हैं। मर्त्य शरीर से जब यह निकलने लगते हैं, तब रुलाते हैं, इसीलिए इन्हें रुद्र कहते हैं।"

जैसे पर्जन्य-बादल वनस्पतियों का अधिपति है, स्वामी है, जिस प्रकार यम अर्थात् संयम स्वास्थ्य का अधिपति है, जिस प्रकार मृत्यु रोगों का अधिपति है, और जिस प्रकार अन्तर्यामी परमात्मा सबका अधिपति है, जैसे ये सब क्षत्रिय-राजा अपने पाल्यों का पालन करते हैं, उसी प्रकार राष्ट्राध्यक्ष राजा को भी राष्ट्र व्यवस्था में नियुक्त पुरुषों, राजन्यों, क्षत्रियों-सैनिकों के द्वारा राष्ट्रहित के लिए बनाये गये नियमों के माध्यम से अपने शरीर की भाँति प्रजा का पालन करना चाहिए। क्योंकि राष्ट्राध्यक्ष क्षत्रिय अर्थात् राजा सारी प्रजा को अपनी संन्तानों के समान देखता है, अपने शरीर के अंगों की भाँति देखता है, और उसकी रक्षा के लिए अपना जीवन भी लगाने को सन्नद्ध रहता है, इसीलिए श्रुति कहती है— "**तस्मात्क्षत्रात्परं नास्ति**" इसीलिए क्षत्र अर्थात् राष्ट्र, राष्ट्ररक्षक राजा और राजन्य अर्थात् राष्ट्ररक्षा में नियुक्त कर्मचारी समुदाय से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। इसलिए ब्राह्मण भी ऐसे धर्म पालक राज्य सिंहासन के नीचे खड़ा होकर उसकी उपासना करता है। क्योंकि राष्ट्र रक्षक राजा और राष्ट्र रक्षा में लगा हुआ सैनिक रूप क्षत्रिय प्रजा का आत्मभूत है। राज्य के हित नियामक सत्कर्म रूप राजसूय यज्ञ में अपने ज्ञानात्मक यश की विद्वान् ब्राह्मण ऐसे क्षत्रिय में ही में स्थापना करता है। इस प्रकार यह रक्षात्मक ब्रह्म अर्थात् ज्ञान ही राष्ट्र राजा और राजन्य रूप क्षत्रिय की उत्पत्ति का मूल है।

१. शतपथ. ११/६/३/७

इसलिए यद्यपि राजा ज्ञान का हृदयरूप होने के कारण विद्वानों में भी सर्वश्रेष्ठ है, अन्त में अर्थात् राज्य कर्म निष्पादन के अनन्तर परमात्म-विज्ञान का ही आश्रय लेता है। क्योंकि उस परमात्मविज्ञान से ही उसकी उत्पत्ति हुई है। जो भी राजा या राज्य कर्मचारी अर्थात् क्षत्रिय इस जन-समुदाय को अपनी आत्मा के रूप में नहीं देखता है, अपने को शासक और प्रजा को शास्य समझता है, वह सभी प्राणियों में सर्वात्मरूप से विद्यमान परमात्मा की, ब्रह्म की हिंसा करता है। जो राजा प्रजा को निम्न भाव से देखता है, प्रजा में परमात्मा को नहीं देखता, ऐसा राजा श्रेष्ठ सर्वात्मभाव की हिंसा करके पापी होता है, शरीर को ही आत्मा समझने के अहंकार के कारण। इस प्रकार से ऐसा राजा अपनी योग्यता का विनाश कर देता है और नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि, जन समुदाय ने ही अपने विमर्शात्मक ज्ञान के द्वारा राष्ट्र, राजा और राज्य कर्मचारी रूप क्षत्रिय वर्ण की रचना किया, और समुदाय की रक्षा का विमर्श करने वाला समूह ही ब्राह्मण कहा गया। उन विमर्श करने वाले विद्वानों में जो सर्वश्रेष्ठ था, जिसमें सर्वाधिक समाज हित की संवेदना थी, उसे ही क्षत्रिय के रूप में, राजा के रूप में चुना गया। मूल रूप से सभी लोग किसान थे, उन्हीं में से क्षत्रिय और ब्राह्मण का चयन किया गया, यह बंात स्वयं श्रुति स्पष्ट कहती है—

''तस्माद् ब्रह्म च क्षत्रञ्च विशि प्रतिष्ठिते।[१]''

इसलिए ब्राह्मण और क्षत्रिय जन सामान्य में से ही चयनित होकर प्रतिष्ठित हुए हैं।

''विड्वै जनित्रम्[२]''

निश्चय ही सामान्य कृषक समुदाय ही उत्पादक है। उसी से सभी वर्ण उत्पन्न हुए।

''विशामेवैकमेतत्पतिं करोति।[३]''

एक मात्र प्रजा ही इस राष्ट्र के अधिपति का चयन करती है।

''ओजसैव वीर्य विश आदाय क्षत्रायापि दधदि।[४]''

---

१. शतपथ ब्राह्मण १२/२/७/१६। २. तैत्तिरीय सं.५/३/३/४।
३. शतपथ ५/३/४/१० । ४. काठक संहिता२१/१० ।

ओज के द्वारा ही प्रजा से वीर्य-सामर्थ्य लेकर राष्ट्र, राजा और राजन्य में स्थापित किया गया।

''विशो राजानमुपतस्थुर्ऋग्मियम्[१]''।

प्रजा ने ही राजा को स्थापित किया, यही सत्य है।

६ - वैश्यवर्णयोजना (३)

''मरुद्भ्यो वैश्यम्''। विशो वै मरुतः। विशमेव तद्विशा समर्द्धयति।[२]

मंत्र का अर्थ करने से पहले विश्, वैश्य और मरुत् पदों का अर्थ समझ लेना चाहिए। निघण्टु में विश् शब्द मनुष्य के नामों में पढ़ा गया है।[३] **विश् प्रवेशने** धातु से ''**अन्येभ्योऽपि दृष्यते**[४]'' इस सूत्र से ''**क्विप्**'' प्रत्यय करने से विश् शब्द बनता है। ''**विशन्ति अनुप्रविशन्ति सर्वकर्मसु-अधिकारित्वेन ये ते विशः**'' जो सभी कर्मों में अधिकार के साथ प्रवेश करते हैं, अथवा आवश्यकता अनुसार अनुप्रवेश करते हैं, वे सभी मनुष्य ही, कृषक ही विश् हैं। पुनः विश् प्रवेशने धातु से ''**गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च।**[५]'' सूत्र से कर्म और भाव अर्थ में ष्यञ् प्रत्यय करके वैश्य शब्द बनता है।

''**मृङ्-प्राणत्यागे**[६]'' धातु से '**मृग्रोरुतिः**[७]' इस सूत्र से '**उत्**' प्रत्यय करके '**मरुत्**' शब्द बनता है। इस वृद्ध के बिना मरते हैं, अथवा यह मारता है। इस अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त है। इससे शरीर में गमनागमन क्रिया के सामर्थ्य का संचार करने वाले प्राण, अपान, समान, ब्यान, उदान आदि ४९ वायुओं का ग्रहण किया जाता है। शरीर में श्वास के रूप में, प्राण वायु के रूप में, यह मरुत् शरीर को जीवन देता है, और इसके बिना प्राणी समुदाय मृत्यु को प्राप्त होता है। इसलिए यह मरुत् जीवनदाता और मृत्यु-दाता दोनों ही है। मरुत् शब्द से '**प्रज्ञादिभ्यश्च**[८]' इस सूत्र से मरुत् शब्द के प्रज्ञादि गण में पठित होने के कारण '**अण**' प्रत्यय होता है। और '**अचो**

---

१. ऋग्वेद संहिता ६/८/४।
२. यजुर्वेद ३०/५, शतपथ ३/६/२/१०।
३. निघण्टु २/३।
४. पा.अ. ३/२/१७८।
५. पा.अ.५/१/१२४।
६. पा.६/११३।
७. उणादिः१/९४।
८. पा.अ.५/४/३८

ञ्णिति[१]' इस सूत्र से मरुत् शब्द के मकार के अकार को दीर्घ करने से मारुत् शब्द बनता है। कोशों में 'मरुत्' और 'मारुत्' शब्दों के निम्नलिखित अर्थ दिखाई देतें हैं—

''**मरुतः स्पर्शनः प्राणः समीरो मारुतो मरुत्।**[२]''

मरुत्, स्पर्शन, प्राण, समीर, मारुत्, मरुत् ये सभी शब्द पर्यायवाची हैं। पुनः—

''**मारुतः श्वसनः प्राणः समीरो मारुतो मरुत्।**[३]''

मारुत, श्वसन, प्राण, समीर, मरुत् पर्यायवाची हैं।

इसी प्रकार श्रुति भी कहती है—

''**प्राणा वै मारुताः।**[४]''

निश्चय ही सभी प्रकार के प्राण ही मरुत् से उत्पन्न होने वाले मारुत् हैं।

''**सप्त सप्त हि मारुता गणाः।**[५]''

निश्चय ही सात-सात के सात गण ही मारुत्गण हैं ।

इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि प्राणियों में संचरित हो रही जीवनदायी प्राणवायु को ही मरुत् और मारुत् पद से कहा गया है, न कि सामान्य वायु।

अब मंत्र का अर्थ समझें—

अन्नादि भोग्य पदार्थों के उत्पादन के लिए और उन पदार्थों की समग्र राष्ट्र में सर्वत्र उपलब्धि सुनिश्चित करने के लिए सभी प्रकार के भोग्य पदार्थों की, संचार व्यवस्था के लिए कृषि और वाणिज्य की आवश्यकता है, इसी को श्रुति ने **वैश्यवर्ण** कहा है। कृषि के द्वारा उत्पादित खाद्य पदार्थों से ही जीवों का जीवन चलता है, इस प्रकार से खाद्य पदार्थ ही प्राणियों के प्राण हैं। इसी तथ्य को भगवान वेद निश्चित करते हैं, ''**मरुद्भ्यो वैश्यम्**'' प्राणियों के प्राणात्मक अन्नादि आवश्यक वस्तुओं की सर्वत्र समुपलब्धि सुनिश्चित करने के लिए, राष्ट्राध्यक्ष राजा और उस प्रकार के कार्य संपादन करने के लिए गठित प्रशासनिक सभा, इस प्रकार

१. पा. अ. ७/२/११५।
२. विक्रमादित्यकोश।
३. संसारावर्तकोश।
४. शतपथ ९/३/१/७।
५. शतपथ ९/३/१/२५।

के कर्म में मरुत् गणों की भाँति कुशल मानव समुदाय को **'आलभते'** सम्पूर्ण राष्ट्र से भलीभाँति प्राप्त करती है, अर्थात् समाज व्यवस्था में संयुक्त करती है। अभिप्राय यह है कि सम्यक् कृषि और वाणिज्य व्यवस्था के द्वारा आवश्यक वस्तुओं की सर्वत्र उपलब्धता शासन को सुनिश्चित करना चाहिए।

यहाँ इस तथ्य को ठीक-ठीक समझना चाहिए कि, सात-सात के वायु के सात समुदायों को श्रुति ने मरुद्गण बताया, अर्थात् ४९ प्रकार के प्राणवायु होते हैं। वह इस प्रकार से वृक्षों, वनस्पतियों के द्वारा छोड़ी जाने वाली वायु ही मनुष्य आदि चर जीवों की प्राणवायु है। इसी प्रकार मनुष्य, पशु आदि जंगमों के द्वारा छोड़ी जाने वाली अपानवायु वृक्षादि, वनस्पतियों की प्राणवायु है। ये मरुद्गण वृक्षादि, वनस्पतियों की छोड़ी गयी अपानवायु आक्सीजन को मनुष्य, पशु आदि जीवों तक प्राणवायु आक्सीजन के रूप में लाते हैं, और मनुष्य पशु आदि जीवों से छोड़ी गयी अपानवायु (कार्बनडाईआक्साइड) को वृक्षों वनस्पतियों तक उनकी प्राणवायु (कार्बनडाईआक्साइड) के रूप में पहुँचाते हैं। इस प्रकार से यह मरुद्गण मानवादि जंगमों को प्राणवायु देते हुए वृक्षादि वनस्पतियों के लिए प्राणवायु पैदा कर रहा होता है, और वृक्षादि वनस्पतियों को उनकी प्राणवायु देता हुआ मनुष्यादि जंगमों के लिए प्राणवायु को उत्पन्न कर रहा होता है। इस प्रकार से यह मरुद्गण सभी प्राणियों के द्वारा भोगा जाता हुआ भी नष्ट नहीं होता, बल्कि सभी प्राणियों को निरन्तर चेतना देता हुआ स्वयं ही चैतन्य चलता रहता है, क्योंकि एक प्रकार के प्राणियों का भोग ही दूसरे प्रकार के प्राणियों के भोग उत्पादन का रहस्य है। उपभोग में ही उत्पादन का रहस्य होने के कारण यह चैतन्य चलता हुआ, वायु भोगा जाता हुआ भी क्षीण नहीं होता है।

जैसे यह मरुद्गण सात-सात के सात गणों में सर्वत्र संचरित होता हुआ जीवन चेतना का नियामक है उसी प्रकार कृषि एवं पशुपालन से उत्पादित भोग्य वस्तुओं (अन्न, वस्त्र आदि) की सभी प्राणियों के अनुरूप यथायोग्य सभी वस्तुओं की सर्वत्र संचाररूप कृषि वाणिज्यात्मक वैश्य वर्ण व्यवस्था है। वैसे ही मनुष्य और पशु आदि अन्न-जल का उपयोग

करते हुए जिस मलमूत्र आदि का त्याग करते हैं, वही मलमूत्र आदि कृषि कार्य के लिए उर्वरक होता है, तथा कृषि में उत्पादित अन्न, शाक, घास, भूसा, पुवाल आदि आवश्यकतानुसार मनुष्य, पशु आदि प्राणियों का भोग होता है। इस प्रकार सभी प्राणियों के लिए अपेक्षित भोग्य पदार्थों का उत्पादन, और सम्पूर्ण राष्ट्र में यथावश्यक उनकी उपलब्धि की सुव्यवस्था ही राष्ट्र को वैश्यवर्ण से युक्त करना है।

''विशो वै मरुतः''– निश्चय ही सभी प्रणियों में प्रविष्ट चल रही प्राणवायु के समान प्राणदायिनी भोग्य वस्तुओं की संचार व्यवस्था द्वारा सर्वत्र सुलभता ही वैश्यत्व है।

''विशमेव तद्विशा समर्द्धयति''– इन भोग्य वस्तुओं के उत्पादन एवं संचरणात्मक कृषि और वाणिज्य कर्म के द्वारा उत्पादक किसान, उपभोक्ता जन सामान्य, और व्यापारी समृद्धि को प्राप्त करते हैं। इनकी समृद्धि में यह कृषि और वाणिज्य रूप में, समग्र राष्ट्र में संचरित हो रहा वैश्य कर्म ही समृद्धि को प्राप्त होता है। इस प्रकार इस कर्म के द्वारा किसान व्यापारी और उपभोक्ता की समृद्धि में यह सम्पूर्ण राष्ट्र ही समृद्ध होता है।

हम देखते हैं कि कृषि और वाणिज्य में उत्पादित भोगों का ही सभी प्राणी उपभोग करते हैं, तो भी उपभोग की जाने वाली वस्तुओं का क्षय-समापन नही होता है। क्योंकि भोग ही उत्पादन का रहस्य है। यही बात श्रुति इन शब्दों में कहती है—

''तस्माद्वैश्योऽद्यमानो न क्षीयते प्रजननाद्धि सृष्टः।[१]**''**

इसलिए वैश्य कर्म से उत्पादित भोग्य वस्तुएँ, सभी लोगों के द्वारा उपभोग की जाती हुई भी, कभी क्षीण नहीं होतीं, क्योंकि उपभोग ही उत्पादन का रहस्य है। लोक व्यवहार में यह स्पष्ट देखा जाता है कि, जिस वस्तु का जितना अधिक उपभोग होता है, वह वस्तु उतनी ही अधिक उत्पादित की जाती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि सृष्टि और मानव संस्कृति की आदिम अवस्था में ज़ब सारे मनुष्य किसान ही थे, वैश्य ही थे, उनसे ही ब्रह्म-ज्ञान की उत्पत्ति से ज्ञानी-ऋषि-ब्राह्मण हुए। उस जनसामान्य किसान से ही

---

१. ताण्ड्यमहाब्राह्मण ६/१/१०

पारस्परिक विमर्शविज्ञान के द्वारा उन ज्ञानियों, ऋषियों ने राष्ट्र, राजा और प्रशासनिक अधिकारी रूप क्षत्रिय वर्ण की रचना की। तो पुनः राष्ट्राध्यक्ष राजा के द्वारा एवं उस निमित्त, गठित की गयी सभा के द्वारा ब्राह्मण वर्ण योजना, क्षत्रिय वर्ण योजना, वैश्य वर्ण योजना कैसे कह सकते हैं? यहाँ इसे इस प्रकार समझना चाहिए कि संस्कृति के आदिम काल में सामान्य जन ही किसान था। वहाँ व्यक्ति-आश्रित ज्ञान था। वही ज्ञान पारस्परिक विमर्श के द्वारा कृषि विज्ञान आदि के रूप में बढ़ रहा था। तो भी उसका पूरे समुदाय के उत्थान के लिए व्यवस्थित रूप नहीं था। इसलिए पारस्परिक विमर्श के द्वारा सामुदायिक हित के साधक राष्ट्र, राजा और प्रशासनिक अधिकारी रूप क्षत्रिय वर्ण की रचना की गयी। फिर उस क्षत्रिय के द्वारा, सामुदायिक उन्नति के लिए, लोगों को ज्ञान-सम्पन्न बनाने के लिए, ज्ञानियों ने मिलकर **ब्रह्म**-वेद-ज्ञान, **ब्राह्मण**-ज्ञानी-वेदज्ञाता, **ब्रह्मचारी**-ज्ञान का आचरण करने वाले, ज्ञान पाने के इच्छुक बालक-बालिकायें एवं **ब्रह्मचर्या**-शिक्षाचर्या-ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया और **ब्रह्मकुल**-ज्ञान प्राप्त करने का स्थान-विद्यालय-शिक्षालय की सम्पूर्ण व्यवस्था रूप शिक्षात्मक ब्राह्मण वर्ण की व्यवस्था हुई।

उसी प्रकार लोगों की रक्षा के लिए, समाज की रक्षा और उन्नति के लिए, **क्षत्र**-राष्ट्र की, **क्षात्र नियम**-राष्ट्र रक्षा के नियमों की, उन नियमों का पालन कराने के लिए राष्ट्र रक्षा नियामक प्रशासनिक अधिकारियों-क्षत्रियों की और उन अधिकारियों में अपने कर्म में निष्ठा के उत्पादक धर्म अर्थात् क्षत्रिय धर्म की व्यवस्था की गयी। उसी प्रकार यद्यपि सामान्य जन किसान ही था, तो भी कृषि का व्यवस्थित रूप नहीं था, कृषि में उत्पादित वस्तुओं के संचार की उचित व्यवस्था नहीं थी। इसलिए कृषि के उत्पादन की समुचित व्यवस्था के लिए और कृषि में उत्पादित भोज्य पदार्थों के संचरणात्मक वाणिज्य व्यवस्था के लिए, राष्ट्र में **वैश्य वर्ण विभाग** की व्यवस्थित योजना की गयी। यही विषय शतपथ श्रुति में स्पष्ट किया गया है—

''स नैव व्यभवत्स विशमसृजत। यान्येतानि देवजातानि गणशः आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुदिति।[१]''

१. शतपथ १४/४/२/२४, बृहदारण्यक १/४/१२ ।

''स नैव व्यभवत्''– समाज में ज्ञान के विकास के लिए उक्त प्रकार के ब्रह्म कुल, ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, ब्रह्म, ब्रह्मचर्यात्मक ब्राह्मण वर्ण की व्यवस्था करने के बाद भी। लोक की-समाज की रक्षा के लिए, दुर्जनों का शासन करने के लिए, क्षत्र, क्षत्रिय और क्षात्र धर्म रूप क्षत्रिय वर्ण की व्यवस्था करने के बाद भी लोक अर्थात् जनसमुदाय रूप राष्ट्र अपेक्षित उन्नति रूप वैभव नहीं प्राप्त कर सका। क्योंकि भोग्य पदार्थों के संचार की व्यवस्था नहीं थी। इसलिए **''स विशमसृजत''**– उस श्रम और ज्ञान में प्रविष्ट हुए ऋषिकल्प राजा और ऋषियों ने लोगों में आवश्यक भोग्य वस्तुओं के उत्पादन और संचार व्यवस्था के लिए वैश्यवर्ण की रचना की। अब उस वैश्यवर्ण का प्रसिद्ध प्राकृतिक रूपकों के द्वारा श्रुति ज्ञान कराती हैं—जो यह प्राकृतिक देव गणशः कहे जाते हैं, उनके द्वारा। क्योंकि गणात्मक समुदाय में ही मिलकर वैश्य-कृषक अन्न और धनोपार्जन में समर्थ होता है, अकेले-अकेले नहीं। वसु आठ संख्या का गण है, रुद्र ११ संख्या का गण हैं, आदित्य द्वादश संख्या का गण है, विश्वेदेवा भी १२ संख्या गण हैं, और मरुत् सात-सात संख्या के सात गण हैं, जिनका श्रुति स्वयं इस प्रकार वर्णन करती है—

''कतमे वसव इति। अग्निश्च पृथिवी च वायु चान्तरिक्षञ्चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसवः। एते हीदं सर्व वासयन्ते। ते यदिदं सर्व वासयन्ते तस्माद् वसव इति।[1]''

वसु कितने हैं? अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र ये आठ वसु हैं। यह जो कुछ भी है उस सब को बसाते हैं। क्योंकि ये इस सब को बसाते हैं इसलिए वसु कहे जाते हैं।

जिस प्रकार से वसु परस्पर आश्रय के द्वारा, पारस्परिक सहयोग से मिल करके इस समस्त संसार को बसाते हैं, उसी प्रकार गणों के समुदाय में परस्पर आदान-प्रदान के द्वारा, पारस्परिक सहयोग से कृषि और वाणिज्य कर्म के द्वारा, भोग्य पदार्थों की उत्पत्ति और उनके सर्वत्र संचरण के द्वारा, यह वैश्यवर्ण लोगों को जीवनदायिनी शक्ति से सम्पन्न करते हुए राष्ट्र को बसाते हैं।

---

१. शतपथ ११/६/३/६ ।

रुद्र एकादश का गण है, वह श्रुति के शब्दों में इस प्रकार है—

''कतमे रुद्रा इति। दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदस्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति।[1]

''रुद्र कितने है? इस पुरुष जीव में पञ्च ज्ञान इन्द्रिय, पञ्च कर्म इन्द्रिय ये दश प्राण हैं, अथवा प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय ये दश प्राण हैं, आत्मा ग्यारहवाँ है, जब यह मर्त्य शरीर को छोड़ने लगते हैं, तब रुलाते हैं, इसलिए इन्हें रुद्र कहते हैं।''

जिस प्रकार से इन्द्रिय प्राणरूप रुद्र परस्पर आदान-प्रदान के द्वारा एक दूसरे को और जीवात्मा को भोग प्रदान करते हैं। उसी प्रकार गण-समूह में अपने-अपने कर्म में लगे हुए कृषक एवं व्यापारी वर्ग उपभोग की सभी आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन, और वाणिज्य संचरण के द्वारा सभी लोगों को सभी उपभोग की वस्तुएं सुलभ कराता हुआ, सबको भोग प्रदान करता हुआ, स्वयं भी भोग करता है। यह कर्म, गण या समूह में ही सुव्यवस्थित चलता है। एक-एक के द्वारा अलग-अलग नहीं चल सकता।

आदित्य द्वादश का गण है, जैसा कि श्रुति कहती है—

''कतम आदित्या इति। द्वादश मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदं सर्वमाददाना यन्ति। ते यदिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति।[2]

''कितने आदित्य हैं? वर्ष के बारह मास ही ये आदित्य हैं, ये ही इस सम्पूर्ण प्रकृति को ऋतुओं के रूप में विविध फल फूल आदि भोग प्रदान करते हुए चलते हैं। ये जो सबकुछ प्रदान करते हुए चलते हैं, इसलिए ये आदित्य हैं।''

जैसे ये संवत्सर के १२ महीने, परस्पर एक दूसरे से जुड़े हुए, एक दूसरे से लेते हुए, नई-नई ऋतुओं को उत्पन्न करते हैं, और उन ऋतुओं के द्वारा सबकुछ देते हुए और सबकुछ ग्रहण करते हुए भी चलते हैं। समग्र लोक में जीवन का संचार करते हैं। उसी प्रकार कृषि और वाणिज्य कर्म में लगा हुआ, जनगण ही ऋतु-अनुकूल सबकुछ पैदा करता हुआ, और

१. शतपथ ११/६/३/७। २. शतपथ ११/६/३/८।

वाणिज्य के माध्यम से सभी वस्तुओं, भोग्य पदार्थों को सर्वत्र सुलभ कराता हुआ, लोक में जीवन का संचार करता रहता है।

सूर्य की रश्मियाँ ही विश्व के देव हैं, क्योंकि वे सर्वत्र फैलती हुई सब कुछ उत्पन्न करती हुई चलती हैं, इस प्रकार सें अनन्त रश्मियाँ ही सम्पूर्ण भोगों के उत्पादक जीवन का संचार करने वाली हैं। जैसा कि श्रुति कहती है—

''रश्मयो (ह्यस्य) सूर्यस्य विश्वे देवाः[१]''

''सूर्य की रश्मियाँ ही विश्व में देव हैं,''

''अनन्ताः विश्वेदेवाः[२]''

''इसलिए विश्व में अनन्त विश्वदेव हैं।''

जैसे सूर्य की रश्मियाँ सर्वत्र जाती हुई सबकुछ पैदा करती हैं, सबकुछ करती हैं, सम्पूर्ण प्रकृति में, और सारे प्राणियों में जीवन का संचार करती हैं, उसी प्रकार इस कृषि और वाणिज्य में लगा हुआ यह जनगण भी सब कुछ पैदा करता हुआ, सबकुछ सर्वत्र सुलभ कराता हुआ, सबको उपभोग प्रदान कराता हुआ, स्वयं भी उपभोग करता हुआ, राष्ट्र की उन्नति में गतिमान रहता है। यही बात श्रुति कहती है—

''विशो वै विश्वेदेवाः[३]''।

''निश्चय ही यह कृषि एवं वाणिज्य में लगा हुआ जनगण ही विश्व देव है।''

''सर्वमिदं विश्वेदेवाः[४]''।

यह सबकुछ राष्ट्र, राजा, रक्षक, अधिकारी, कर्मचारी, आचार्य, शिक्षक, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैष्य, शूद्र यह सबका सब सामान्य जनगण विश्वदेव ही होता है।

वैश्य वर्ण का श्रेष्ठतम कर्म स्वरूप श्रुति प्रकाशित करती है, मरुद्गण के द्वारा—

''सप्तसप्त हि मारूता गणाः[१]''

''७×७ = ४९ मरुद्गणों की व्याख्या पहले ही की जा चुकी है, इसलिए यहाँ पुनः करने की आवश्यकता नहीं है।''

---

१. शतपथ ३/९/२/६/१२। २. शतपथ १४/६/१/११।
३. शतपथ ५/५/१/१०। ४. शतपथ ३/९/१/१४, ४/४/१/९,१८।

७-शूद्रवर्णयोजना (४)

''तपसे शूद्रम्'' तपो वै शूद्रः। तप एव तत्तपसा समर्द्धयति।[२]

मंत्र का अर्थ करने के पहले शूद्र पद का अर्थ और तप पद का अर्थ विचार कर लेना चाहिए। **'शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः**[३]**'** इस ज्वलतिकर्मा शुच् धातु से **'शुचेर्दश्च**[४]**'** इस सूत्र से **'शु'** के उकार को दीर्घ और **'रक्'** प्रत्यय और **'द'** करने से शूद्र शब्द बनता है। **''शोचति, ज्वलति, प्रकाशते, स्वश्रमेण यः सः शूद्रः''**।

जो अपने श्रम के द्वारा जलता है, प्रकाशित होता है, शूद्र कहा जाता है। उसी प्रकार से निघण्टु में कही गयी **'तप ज्वलने'**, **'तप ऐश्वर्ये**[५]**'** धातुओं से अपने ही अर्थ में **'सर्वधातुभ्योऽसुन्**[६]**'** सूत्र से **'असुन्'** प्रत्यय करने से तप शब्द बनता है। **''तापयति ज्वालयति अकर्मण्यतां शत्रून् वा येन तत्तपः''**। जिसके द्वारा अकर्मण्यता को और शत्रुओं को जलाया जाता है, वह तप है। अथवा **''तप्यते समर्थो भवति येन तत्तपः''** जिस श्रम के द्वारा अपने लक्ष्य को सिद्ध करने में व्यक्ति समर्थ होता है, वह श्रम ही तप है। क्योंकि श्रम से ही सामर्थ्य आता है, इसलिए श्रम ही तप है। जैसा कि श्रुति कहती है—

''तपसा वै लोकं जयन्ति।[७]**''**

तप के द्वारा ही, श्रम के द्वारा ही संसार की सभी वस्तुओं को जीत लिया जाता है।

''तद्धि जातं यत् तपसोऽधिजायते।[८]**''**

वही पैदा हुआ, जो तप से पैदा किया गया, श्रम से पैदा किया गया, अर्थात् अपने श्रम से पैदा किया हुआ अन्न-धन ही श्रेष्ठ उत्पादन है। श्रुति के इसी तथ्य को लोकोक्ति में भी कहा जाता है—

''श्रम का खाता हूँ, दान का नहीं।''

---

१. शतपथ ९/३/१/२५। २. यजुर्वेद ३०/५, शतपथ १३/६/२/१०।
३. निघण्टु १/१६। ४. उणादि २/१९।
५. निघण्टु १/१७। ६. उणादि ४/१९०।
७. शतपथ ३/४/४/२७। ८. काठकसं. ३४/१२।

अब मंत्र के अर्थ पर विचार करते हैं—

राष्ट्र की समृद्धि के लिए, कर्मों के उत्कर्ष के लिए, लोगों को आत्मनिर्भर बनाने के लिए, अन्न उत्पादन, संचरण, वितरण आदि कर्मों के अतिरिक्त, जीवन में आवश्यक शिल्पादि कर्मों के स्वतंत्र विकास के लिए, सभी कर्मों के आधारभूत जिस प्रकार के आवश्यक श्रेष्ठ श्रम की, तप की, आवश्यकता होती है, उस प्रकार के तप के लिए, उस प्रकार के तप-श्रम करने की सामर्थ्य से सम्पन्न श्रमिक, तपस्वी अर्थात् शूद्र को राष्ट्राध्यक्ष राजा या उस प्रकार के कार्य को सम्पन्न करने के लिए गठित की गयी प्रशासनिक सभा **(आलभते)** भलिभाँति प्राप्त करती है, अर्थात् उस प्रकार के कर्म में नियुक्त करती है।

''तपो वै शूद्रः।''

''निश्चय ही, लक्ष्य प्राप्ति के लिए किया जाने वाला श्रम ही,तप ही, शूद्र है।''

''तप एव तत्तपसा समर्द्धयति।''

''उस तपस्वी के द्वारा किये जा रहे तप से, वह तप ही समृद्ध होता है।''

मीमांसा- जिस कार्य को लक्ष्य करके तपस्वी-श्रमिक, अर्थात् शूद्र के द्वारा जो तप-श्रम किया जाता है, उस श्रम के द्वारा वह श्रमिक-तपस्वी उस लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् वह कार्य सफल हो जाता है। इस तपस्वी-श्रमिक-शूद्र के द्वारा किये जा रहे तप अर्थात् श्रम से लक्ष्य की सिद्धि के साथ ही उस तपस्वी अर्थात् श्रमिक की समृद्धि होती है, राष्ट्र की समृद्धि होती है। इस प्रकार कार्य की सिद्धि, तपस्वी श्रमिक की समृद्धि, राष्ट्र की समृद्धि, में यह तप ही समृद्ध होता है।

इस शूद्र वर्ण का क्या प्रयोजन है? ब्राह्मण वर्ण की व्यवस्था के द्वारा सभी लोगों की शिक्षा की व्यवस्था की गयी। क्षत्रिय वर्ण के द्वारा सभी लोगों के पालन, रक्षण और दुष्टों के लिए दण्ड की व्यवस्था की गयी। उसी प्रकार वैश्य वर्ण के द्वारा सभी भोग्य वस्तुओं के उत्पादन एवं व्यापार की व्यवस्था की गयी। सामान्य जन भी कृषक एवं वैश्य कहा गया है। इस प्रकार से सभी कर्मों की व्यवस्था होने के कारण इस शूद्र वर्ण का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता, ऐसी शंका का समाधान श्रुति स्वयं करती है।

''स नैव व्यभवत्स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं (पृथिवी) वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च।[१]''

''**सः**''- वह ज्ञानियों द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्ण की व्यवस्था से युक्त किया गया समाज ''**नैव व्यभवत्**''– अपेक्षित वैभव को नहीं प्राप्त हो सका, क्योंकि कृषि के कार्य में हल और फाल की आवश्यकता होती है, दैनिक व्यवहार में बर्तन की आवश्यकता होती है, रक्षा करने के लिए शस्त्र आदि की आवश्यकता होती है। वस्तुओं को लाने और ले जाने के लिए वाहन की आवश्यकता होती है, सबके लिए भवन, वस्त्र, आभूषण आदि की आवश्यकता होती है, यह सभी कार्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण में व्यवस्थित नहीं किये गये थे, इनकी सुव्यवस्थित व्यवस्था न होने के कारण केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्ण की संरचना से यह समाज अपेक्षित वैभव को नहीं प्राप्त कर सका। इसलिए इस प्रकार की आवश्यकता की पूर्ति के लिए उस ज्ञानी विमर्शशील समुदाय ने, उस प्रकार के कार्य-सम्पादन में सक्षम ''**शौद्रं वर्णमसृजत**'' शौद्र वर्ण का गठन किया अर्थात् **शौद्र**-जो श्रम से उत्पन्न हो वह शौद्र है। ऐसे श्रम के द्वारा अपनी पहचान बनाने वाले, श्रम करने में समर्थ श्रमिक वर्ग अर्थात् शौद्र वर्ण की रचना की। शूद्र ही शौद्र है, अपने ही अर्थ में ''अण्'' प्रत्यय करने से आदि वृद्धि होकर शूद्र से शौद्र शब्द बना है। अपने कुशल श्रम के द्वारा, उपर्युक्त हल, फाल, वस्त्र, आभूषण, घर आदि आवश्यकताओं की पूर्ति करता हुआ जो सभी लोगों की इन आवश्यकताओं का पोषण करता है, वही शौद्र वर्ण है। उस शूद्र वर्ण का प्राकृतिक दैवीय रूपक के द्वारा श्रुति ज्ञान कराती है। ''**इयं (पृथिवी) वै पूषा**''– निश्चय ही यह पृथ्वी ही पूषा है। ''**इयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च**''– यह पृथ्वी ही इस सबका पोषण करती है, जो कुछ भी इस पृथ्वी पर है।

मीमांसा– जिस प्रकार यह पृथ्वी सबका पोषण करती है, उसी प्रकार श्रम भी सभी कर्मों का पोषण करता है। और श्रमिक-शूद्र वर्ण भी सभी प्रकार के हल, फाल, पात्र, वस्त्र, आभूषण के द्वारा और उन-उन कार्यों में लग कर अपने शारीरिक श्रम के द्वारा सबका पोषण करता है। इसलिए पृथ्वी

---

१. शतपथ १४/४/२/२५, बृहदारण्यक १/४/१३

देवता शूद्र वर्ण का उदाहरण है। श्रम ही सभी कर्मों का आधारभूत होने के कारण सभी कर्मों की प्रतिष्ठा है, इसलिए वैदिक राष्ट्रात्मा राजा सिंहासनारूढ़ होने से पहले अपनी शपथ में घोषणा करता है—

"पद्भ्यां जङ्घाभ्यां धर्मोऽस्मि, विशि राजा प्रतिष्ठितः[१]।"

"पाँवों और जाँघों से मैं धारण करने का सामर्थ्य धर्म हूँ, इसलिए प्रजा में प्रतिष्ठित राजा हूँ।"

इसी बात को श्रुति इस प्रकार कहती है—

"एषु लोकेषु प्रतितिष्ठति य एवं वेद[२]"

"जो शूद्र वर्ण की संरचना के इस रहस्य को इस प्रकार जानता है, वह लोक में अपने सभी कर्मों में प्रतिष्ठित होता है।"

यह कैसे कहा जा सकता है कि सभी शिल्पों की स्वतंत्र स्थापना के लिए शूद्र वर्ण की रचना की गई? इस विषय में क्या प्रमाण है?

बताते हैं, वेद ही प्रमाण हैं, देखें ये वेद मंत्र—

"तपसे कौलालम्[३]"

तप के लिए कौलाल को भलीभाँति प्राप्त किया जाता है। **कुं मृत्तिकां लालयति इति कुलाकः, कुलालादेव कौलालःतम् कौलालम्,** अर्थात् जो मिट्टी के साथ खेलता है वह कुलाल है और कुलाल से ही कौलाल कहा गया। कुलाल अर्थात् कुम्हार श्रम करके तालाब की मिट्टी को अच्छी तरह तैयार कर फिर उस मिट्टी से चाक एवं दण्ड द्वारा अपने कलाकौशल से विविध प्रकार के बर्तन तैयार करता है। इस मंत्र से वेद ने स्पष्ट कर दिया कि सभी **शिल्प** शूद्र वर्णविभाग के अन्तर्गत आते हैं। जैसे–**कुलाल**-कुम्हार आदि।

८-चातुर्वर्ण्य का ऋग्वेदीय रूपक

ऋषियों के गतिमान तप और ज्ञान से उत्पन्न राष्ट्र और वर्ण व्यवस्था की एकात्म समरसता को दर्शाने के लिए ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में एक रूपक है। उस विषय में लोगों ने अपनी नासमझी के कारण बहुत ही भ्रान्ति फैला रखी है। मूलतः वह बहुत ही भावनात्मक और राष्ट्रीय एकात्मता-परक है। इसलिए उस पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है।

१. यजुर्वेद २०/९। २. ताण्ड्य ६/२/११। ३. यजुर्वेद ३०/७।

यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते।।[१]

यहाँ इस पुरुष सूक्त में सर्वप्रथम यह बताया गया है कि "**पुरुष एवेदं सर्वम्**"– परमात्मा ही यह सब कुछ हुआ है । अब जब कि यह सब कुछ परमात्मा ही हुआ है, इसलिए यह राष्ट्र भी, यह समाज भी, यह मानव समुदाय भी, वह परमात्मा ही हुआ है। इसलिए इस मानव समुदाय के उत्कर्ष के लिए बनाया गया कर्म विभागात्मक यह वर्ण भी, वह परमात्मा ही हुआ है। अब जब यह परमात्मा ही विराट रूप से यह सब कुछ हुआ है, तो इस वर्ण-व्यवस्था में और इस प्रकृति में भी उसकी किस प्रकार से कल्पना करनी चाहिए, इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए वेद स्वयं इस मंत्र में प्रश्न उठाते हैं—

मंत्रार्थ–"जिस विराट परमात्मा का व्याख्यान किया गया, उसकी कितने प्रकार की कल्पना की गयी है? कौन इस विराट पुरुष का मुख हुआ? कौन इसका दोनों बाहु हुआ? कौन इसका उपस्थ और जंघा हुआ? तथा कौन इसका पाँव हुआ?

जिसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।।[२]

अब पूर्व मंत्र में उठाये गये प्रश्नों का इस मंत्र द्वारा समाधान किया जा रहा है। विराट पुरुष की विविध धारणाओं में से एकात्म मानव समुदाय विराट पुरुषात्मक है, इस प्रथम धारणा को इस मंत्र से कहते हैं।

मंत्रार्थ– एकात्म मानव समुदाय रूप विराट पुरुष का ब्राह्मण मुख हुआ, दोनों बाहु हृदय पर्यन्त को क्षत्रिय-राजन्य किया गया, ऊरू-अर्थात् उपस्थ, उदर और जंघा, वैश्य अर्थात् कृषि कर्म में लगा हुआ किसान और वाणिज्य कर्म में लगा हुआ व्यापारी हुआ तथा इसी प्रकार शरीर का आधारभूत, जिसपर शरीर खड़ा होता है, दोनों पाँव ही शूद्र हुए। अथवा इन सबकी उक्त मुखादि अङ्गों से उत्पत्ति हुई। अब यहाँ इन चारों वर्णों के इन रूपकों पर विमर्श करते हैं—

---

१. ऋग्वेद १०/९०/११। २. ऋग्वेद१०/९०/१२

१. ज्ञान– क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति मुख से उत्पन्न होने वाले शब्दों से होती है, और ज्ञान ही ब्रह्म है। इस ब्रह्म-ज्ञान से जो सम्पन्न है तथा ज्ञान देने में समर्थ है वह व्यक्ति ही ब्राह्मण है। यदि थोड़े में कहा जाय तो ज्ञान ही ब्रह्म है, और यह ब्रह्म ही ब्राह्मण है। यह ज्ञान शब्द से पैदा होता है, और शब्द मुख से पैदा होता है। इसी तथ्य को वेद स्पष्ट करते हैं कि, मुख ब्राह्मण है या मुख से ब्राह्मण उत्पन्न हुआ। श्रुति स्वयं ही इस मंत्र की व्याख्या करते हुए कहती है—

''करोति मुखेन वीर्यं य एवं वेद।[१]''

जो इस रहस्य को जानता है वह अपना सामर्थ्य अपने मुख से प्रकट करता है।

अर्थात् जो मुख से ब्रह्मचारियों-शिक्षार्थियों को शिक्षित करने के लिए, ज्ञान देने के लिए, श्रम करता है, यही ब्राह्मण-शिक्षक का ब्राह्मणत्व-शिक्षकत्व है। यह मुख से ज्ञान का पैदा होना ही मुख से ब्राह्मण का पैदा होना है, न कि मुख से ब्राह्मण जाति का तथाकथित मनुष्य पैदा होता है। वेदों के इन मंत्रों के द्रष्टा ऋषि मुख से मनुष्य पैदा होने का अर्थ करने वाले आज के तथाकथित जातिवादियों को देखकर आज होते तो कितने दुखी होते कि हमारी संतानें इतनी मूर्ख हो गयीं कि मुख से आदमी पैदा करने का अर्थ कर रही हैं।

२. रक्षा और प्रशासन– आततायियों से, अपराधियों से रक्षणीय की रक्षा करने की भावना-संवेदना हृदय में उत्पन्न होती है, और तब उस रक्षणीय की रक्षा करने का पराक्रम हाथों से प्रकट होता है, वह ही यह रूपक है, कि हाथों से क्षत्रिय पैदा हुआ। तथ्य बिल्कुल स्पष्ट है कि हाथों से रक्षा करने का जो सामर्थ्य पैदा होता है, उसे ही क्षत्रिय कहा जाता है। किन्तु समाज में आज हाथ से क्षत्रिय जाति का मनुष्य पैदा हुआ, ऐसा मूर्खतापूर्ण अर्थ अपने को जन्मना श्रेष्ठ मानने वाले कुछ महामूर्खों द्वारा किया जाता है। श्रुति स्वयं इस तथ्य को स्पष्ट करती है।

''करोति बाहुभ्यां वीर्यं य एवं वेद[१]''

''जो इस रहस्य को इस प्रकार जानता है, वह सहृदय होकर अपना पराक्रम अपने बाहुओं से प्रकट करता है।''

---

१. ताण्ड्य महाब्राह्मण ६/१/६,७।

३. कृषि एवं वाणिज्य–जैसे शरीर में संग्रह, उपभोग और उत्पादन कर्म के संपादक अंग उदर, ऊरू और उपस्थ हैं, उसी प्रकार लोक में भोग्य वस्तुओं के उत्पादन कर्ता, भोक्ता और भोग्य वस्तुओं के विपणनकर्ता क्रमशः किसान उपभोक्ता और व्यापारी हैं। जिस प्रकार से भुक्त अन्न उदर में जाता है, और वहीं पचता है और फिर रस, रक्त आदि के रूप में सारे शरीर में संचरित होता है। मन, मस्तिष्क, हाथ और पाँव आदि सम्पूर्ण शरीर का पोषण होता है, सारे शरीर में कर्म करने का सामर्थ्य आता है, सन्तानोत्पत्ति के लिए आवश्यक शुक्र और शोणित क्रमशः पुरुष एवं स्त्री में उत्पन्न करता है, जिससे वो सन्तान को जन्म देने में समर्थ होते हैं। जिस प्रकार से यह भोजन किया गया अन्न उदर में पहुँच कर पाचन व्यापार के द्वारा, सारे शरीर में रस रक्त आदि के रूप में संचरित होता है, उसी प्रकार कृषि में उत्पादित अन्न आदि भोग्य पदार्थ भी वैश्यों के वाणिज्य के द्वारा समग्र राष्ट्र में संचरित होता है। सभी उसी का उपभोग करते हैं। उपभोग कर सामर्थ्य से सम्पन्न होते हैं। जिस प्रकार किसी व्यक्ति का उदर में गया हुआ अन्न यदि पाचन व्यापार के द्वारा पूरे शरीर में संचरित नहीं होता है, तो वह व्यक्ति रोगी हो जाता है। कर्म करने एवं सन्तानोत्पादन करने की उसकी सामर्थ्य नष्ट हो जाता है। केवल सामर्थ्य ही नष्ट नहीं होता, अपितु यदि रोग ठीक न हुआ तो मर जाता है। इसी प्रकार से जिस राष्ट्र में किसानों के द्वारा पैदा की जाने वाली भोग्य वस्तुओं का संचरण नहीं होता है, वह राष्ट्र रोगी हो जाता है। अपना सामर्थ्य खो देता है। उसी के लिए वेद में यह रूपक कहा गया है, **''ऊरू तदस्य यद्वैश्य''** इसी की व्याख्या करती हुई ब्राह्मण श्रुति–**''मध्यतः एव प्रजननात् विशमसृजत्''**[1] अर्थात् जिस प्रकार सभी प्राणियों के मध्य स्थान उपस्थ से प्रजनन होता है उसी प्रकार कृषि के माध्यम से किसान सम्पूर्ण अन्नोत्पादन करता है और समग्र राष्ट्र में उसके वाणिज्य की व्यवस्था में संयुक्त होता है। इसलिए कृषि और वाणिज्य कर्म में लगे हुए किसान और व्यापारी दोनों को विश् और वैश्य वर्ण से कहा गया है। इसीलिए वेद में सामान्य जन को भी विश् और विट् कहा गया है। जैसा कि यह श्रुति कहती है—

---

१. ताण्ड्य महाब्राह्मण ६/१/९

''आद्या हीमाः प्रजाः विशः[१]''

''सृष्टि के आरम्भिक काल में यह सारी प्रजा ही ''**विशः**'' कृषक थी, खेती करती थी, मनुष्य मात्र की यह आरम्भिक काल की एक मात्र आजीविका थी।''

धीरे-धीरे मनुष्य ने उसका लेन-देन, रूप व्यापार भी प्रारम्भ किया। मूलतः विश् और वैश्य शब्द किसान के लिए ही प्रयुक्त होते थे, प्रारम्भ में किसानों ने ही लेन-देन रूप व्यापार आपस में प्रारम्भ किया। इसलिए यह शब्द आरम्भिक अवस्था में उन दोनों कर्मों के लिए ही प्रयुक्त होता था, बाद में व्यापार का विस्तार हाने पर कृषि और वाणिज्य के लिए क्रमशः कृषक और वणिक् शब्द प्रयोग में आने लगे।

क्योंकि समग्र मानव समुदाय इस सामान्य प्रजनन-प्रक्रिया से ही पैदा होता है इसलिए जन सामान्य को ''**विड्**'' कहा जाता है। उस सामान्य जन से ही अपनी रुचि के अनुसार कर्मों का वरण-चयन करने के कारण उसे उन कर्मों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की संज्ञा दी गयी है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए श्रुति कहती है—

''तस्माद्वैश्योऽद्यमानो न क्षीयते प्रजननाद्धि सृष्टः[२]''

''इसीलिए जनसामान्य कृषक, वैश्य, सभी के द्वारा ग्रहण किया जाता हुआ भी क्षीण नहीं होता है। क्योंकि प्रजनन से ही उसकी सृष्टि हुई है।''

सभी कर्मों के वरण के लिए सामान्य जन से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र में अपनी रुचि एवं योग्यता के अनुसार मनुष्य जाता हुआ भी सामान्य कृषक अर्थात् वैश्यवर्ग क्षीण नहीं होता है। क्योंकि पैदा होने वाला हर व्यक्ति सामान्य जन ही है। कर्मों का चयन वह अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार बाद में करता है।

मीमांसा– लोक-व्यवहार में भी यह स्पष्ट देखा जाता है कि, कृषि एवं वाणिज्य के द्वारा उत्पादित की जा रही भोग्य वस्तुओं का ही सारा जन समुदाय उपभोग करता है। इस प्रकार सबके द्वारा उपभोग की जाने वाली कृषि एवं वाणिज्य में उत्पादित की जा रही भोग्य वस्तुओं का क्षय नहीं होता है, क्योंकि उपभोग की आवश्यकता के अनुसार ही उत्पादक अपनी

---

१. शतपथ ४/२/१/१७। २. ताण्ड्य ६/१/१०।

उन उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाता रहता है। बल्कि यह स्पष्ट देखा जाता है कि उत्पादक, किसान, वैश्य अपने उत्पादों के उपभोग को अधिकाधिक बढ़ाने के प्रयास में लगे रहते हैं। क्योंकि जिस उत्पादक के उत्पाद का जितना अधिक उपभोग होता है, वह अपने उस उत्पाद को अधिकाधिक बढ़ाता हुआ अधिकाधिक सम्पन्न होता चला जाता है। जो किसान, वणिक् आदि उत्पादक, इस रहस्य को जानते हैं, वे अपने उत्पाद को अच्छा से अच्छा बनाते हुए, उसका उपभोग बढ़ाने में तत्पर रहते हैं। आज भी लोक में यह तथ्य स्पष्ट है।

४. श्रम और शिल्प– किसी भी कार्य का सम्पादन श्रम के बिना नहीं हो सकता है। किसी भी कार्य का आरम्भ श्रम से ही होता है। सारा ही कर्म श्रम के अधीन है। इसे ऐसे भी कह सकते हैं कि कर्म का शरीर श्रम रूपी पाँवों पर ही खड़ा है। श्रम ही कर्म की प्रतिष्ठा है। श्रम का श्रेष्ठतम प्रतीक शरीर में पाँव के अतिरिक्त और कोई हो ही नहीं सकता। ज्ञान ग्रहण करने के लिए ब्रह्मचारी-शिक्षार्थी को, अथवा ज्ञान देने के लिए ब्राह्मण-आचार्य-शिक्षक को, यदि ब्रह्मकुल-गुरुकुल-विद्यालय में जाना है, तो सबसे पहले पाँव ही सक्रिय होते हैं, पहले पाँव से ही सामर्थ्य प्रकट करना होता है, उसके बाद ही मुख से सामर्थ्य प्रकट करने का नम्बर आता है। किसी भी आततायी से किसी भी रक्षणीय की हिंसात्मक पीड़ा के अवसर पर रक्षा करने के लिए पहले पाँव से ही दौड़ना होता है, हाथों का पराक्रम तो पहुँचने के बाद प्रकट होता है, उस समय भी पैरों का योगदान कम नहीं होता है। उसी प्रकार से कृषि और वाणिज्य में उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन की, एवं पुनः संचरणात्मक वाणिज्य व्यवस्था की कल्पना भी पाँवों की संचरणात्मक श्रम शक्ति के बिना नहीं की जा सकती। इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि, जैसे पैरों के ऊपर, शरीर की स्थिति है, ठीक उसी प्रकार श्रमरूप पैरों के ऊपर ही सम्पूर्ण कर्मों का शरीर स्थित है। इसी तथ्य को समझाने के लिए वेद में यह रूपक कहा गया—

''पद्भ्यां शूद्रोऽजायत''

पाँवों के द्वारा श्रम की, शूद्र की उत्पत्ति हुई। मूलतः श्रम ही, तप ही शूद्र है।

जैसा कि श्रुति कहती है—**''तपो वै शूद्रः''** निश्चय ही तप ही, श्रम ही, शूद्र है।

मीमांसा– इस वैदिक ज्ञानात्मक रूपक का जब कोई भी व्यक्ति ऐसा अर्थ करता है कि, विराट पुरुष के मुख से, बाहुओं से, ऊरू-उपस्थ से और पाँवों से क्रमशः ब्राह्मण जाति, क्षत्रिय जाति, वैश्य जाति और शूद्र जाति के मनुष्य पैदा हुए, अर्थात् विराट पुरुष के मुख से, हाथों से, उपस्थ से व पाँवों से मनुष्य निकले, तब ऐसा अर्थ करने वाला यह आदमी विक्षिप्त हो गया है। इसकी चिकित्सा करने की आवश्यकता है। क्योंकि परमात्मा ने सभी प्राणियों के जन्म लेने का तो एक ही मार्ग बनाया है, और वह उपस्थ है। प्रकृति में मनुष्यों की उत्पत्ति के लिए कोई अन्य मार्ग परमात्मा ने नहीं बनाया है। यहाँ 'अजायत' शब्द से उस-उस वर्ण विभाग में कहे गये कर्मों की उत्पत्ति कही गयी है, न कि मनुष्यों की, अन्यथा श्रुति स्वयं इस मंत्र की व्याख्या करते हुए यह कैसे कह सकती थी कि— **''करोति मुखेन वीर्यं य एवं वेद''** जो इस रहस्य को जानता है, अपना सामर्थ्य अपने मुख से प्रकट करता है, **''करोति बाहुभ्यां वीर्यं य एवं वेद''** जो इस रहस्य को जानता है, वह अपना सामर्थ्य अपने हाथों से प्रकट करता है। इसी प्रकार वैश्य कर्म के लिए कहा कि जो इस रहस्य को जानता है, वह अपने उत्पादन के उपभोग और उत्पादन को अधिकाधिक बढ़ाता है। इसी तरह श्रम का, शूद्र का, वैशिष्ट्य बताते हुए कहा—**''एषु लोकेषु प्रतितिष्ठति य एवं वेद''** जो श्रम के इस रहस्य को जानता है, कि इस श्रम पर ही कर्म की उन्नति का शरीर खड़ा है, वह इस लोक में प्रतिष्ठित होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि, वृणीत कर्म ही यहाँ वर्ण शब्द से कहा गया है, न कि जन्म लेने वाले मनुष्यों को जन्म के आधार पर ऊँच-नीच बनाने के लिए ।

९-वेद में चारों वर्णों का स्वत्व जागरण

वेद में चारों वर्णों की अपने-अपने कर्म में निष्ठा जगाने के लिए अत्यन्त उत्कृष्ट प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। जिससे लोगों की अपने अपने कर्म की महनीयता को समझते हुए दक्षतापूर्ण संलग्नता हो। अब हम यहाँ उस मंत्र की व्याख्या करेंगे। मंत्र इस प्रकार है—

अग्नेर्भागोऽसि दीक्षाया अधिपत्यं ब्रह्म स्पृतं त्रिवृत्स्तोम
इन्द्रस्य भागोऽसि विष्णोराधिपत्यं क्षत्रं स्पृतं पञ्चदशस्तोमो
नृचक्षसां भागोऽसि धातोराधिपत्यं जनित्रं स्पृतं सप्तदशस्तोमो
मित्रस्य भागोऽसि वरुणस्याधिपत्यं दिवः वृष्टिर्वात स्पृतं एकविंशस्तोमः।[1]

इस मंत्र की चार पंक्तियों में क्रमश: ब्राह्मण-शिक्षक-आचार्य, क्षत्रिय-प्रशासक-रक्षक-सैनिक, वैश्य-किसान व व्यापारी, शूद्र-शिल्पी व श्रमिक इन चारो वर्णों के स्वत्व को जगाया गया है। एक-एक पंक्ति में एक-एक वर्ण का। अत: उसी क्रम से एक-एक पंक्ति की अलग-अलग स्पष्ट व्याख्या करते हैं।

१०-ब्राह्मण-शिक्षक-आचार्य वर्ण या वर्ग का स्वत्व जागरण (१)

''अग्नेर्भागोऽसि दीक्षाया अधिपत्यं ब्रह्म स्पृतं त्रिवृत्स्तोम।''

यहाँ प्रथम पंक्ति में प्रथम वर्ण का उद्‌बोधन है। भगवान वेद ब्राह्मण वर्ण के, शिक्षक के, आचार्य के स्वत्व को जगाते हुए कहते हैं, हे आचार्य! हे ब्राह्मण! हे शिक्षक! **अग्नेर्भागोऽसि**-तू अग्नि का भाग है, **दीक्षाया अधिपत्यं**- तेरे उपर शिक्षा का दायित्व है। जिस प्रकार अग्नि अपने सम्पर्क में आने वाले को अग्नि ही बनाती है, उसी प्रकार हे आचार्य तू भी अपने ब्रह्मचारियों-शिक्षार्थियों को अपने ज्ञान से, अपने ही समान ज्ञानी बना देता है। इस प्रकार **ब्रह्म स्पृतं**—तूने ब्रह्म की, ज्ञान की रक्षा की है। **त्रिवृत्स्तोमः**—तू त्रिवृत् स्तोम है। ब्रह्मचारी-विद्यार्थी को तीन बार पढ़ाने से विद्या अवश्य ही आ जाती है, ऐसी मान्यता है। वास्तव में एक बार पढ़ाने से जब शिष्य नहीं समझ पाता तो आचार्य उसे तथ्यों को स्पष्ट करते हुए दुबारा समझाता है। और फिर शिष्य से पूछने पर, यदि उसे समझ में नहीं आया रहता तो, पुन: तीसरी बार बताता है। सामन्यतया तीन बार में विद्या आ ही जाती है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए श्रुति स्पष्ट करती है कि हे आचार्य! तूने अपने शिष्यों-ब्रह्मचारियों को तीन-तीन बार पढ़ाकर राष्ट्र को ज्ञान-सम्पन्न किया है। इसलिए तू त्रिवृत् स्तोम है। स्तोम का अर्थ स्तुति है, आचार्य शिष्य को

---

१. यजुर्वेद १४/२४, तै.सं.४/३/९/१।

तीन-तीन बार पढ़ाकर, राष्ट्ररूपी, समाजरूपी परमात्मा की त्रिवृत् स्तुति करता है। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि, यदि तीन बार पढ़ाना ही यहाँ अभिप्राय है तो, त्रिपाठ कहना चाहिए, फिर त्रिवृत् क्यों कहा? इसका उत्तर है कि, वृत्त गति का प्रतीक है, और तीन बार पढ़ाकर आचार्य की ज्ञान दान की प्रक्रिया समाप्त नहीं होती है, अपितु नये-नये ब्रह्मचारी आते रहते हैं, और उनको ज्ञान देने की प्रक्रिया शिक्षक द्वारा निरन्तर जारी रहती है। इसलिए भगवान वेद ने ब्राह्मण-आचार्य-शिक्षक को त्रिपाठ स्तोम न कहकर त्रिवृत् स्तोम कहा।

इस मंत्र की इस पंक्ति की एवं ऋग्वेद के रूपक की संयुक्त व्याख्या ब्राह्मणों में दिखाई देती है। वह इस प्रकार है—

''सोऽकामयत यज्ञं सृजेयेति समुखत एव त्रिवृतमसृजत तं गायत्रीछन्दोऽन्वसृज्यताग्निर्देवता ब्राह्मणो मनुष्यो वसन्त ऋतुस्तस्मात्रिवृत् स्तोमानां मुखम्, गायत्री छन्दसामग्निर्देवतानां, ब्राह्मणो मनुष्याणां, वसन्त ऋतूनां, तस्माद्ब्राह्मणो मुखेन वीर्यं करोति, मुखतो हि सृष्टः।।''

''करोति मुखेन वीर्यं य एवं वेद।[१]''

उस प्रजापति-राजा ने यज्ञ-सत्कर्म को राष्ट्र में व्यवस्थित करने की इच्छा की। तब उसने ज्ञान के उत्पादक, शब्दों के जनक मुख की भाँति, त्रिवृत् स्तोम-अर्थात् राष्ट्र को ज्ञान-सम्पन्न बनाने के लिए ब्रह्मचारियों को तीन-तीन बार पढ़ाकर ज्ञान-सम्पन्न बनाने वाले ब्राह्मण वर्ण की रचना की। उसी का अनुसरण करने वाली प्रार्थना गायत्री छन्द को भी उसके साथ जोड़ा। प्रकृति में उसका उदाहरण अग्नि है। ऋतुओं में वसंत है। जिस प्रकार ऋतुओं में वसंत सबसे प्रथम आता है, वैसे ही समाज की उन्नति के लिए नवजीवन का प्रारम्भ कर रहे सभी बालक-बालिकाएं ज्ञान से सम्पन्न हों इसकी प्रथम आवश्यकता है। इसलिए सर्वप्रथम आवश्यकता के दृष्टिगत ब्राह्मण वर्ण की अर्थात् आचार्य की व्यवस्था की गयी। जिस प्रकार अग्नि अपने सम्पर्क में आने वाली सभी वस्तुओं को अग्नि ही बनाती है, उसी प्रकार आचार्य भी अपने सम्पर्क में आने वाले सभी ब्रह्मचारियों को ज्ञान सम्पन्न करने के दायित्व को समझ सके, इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए

---

१. ताण्ड्य महाब्राह्मण ६/१/६,७

अग्नि को ब्राह्मण का देवता कहा। अर्थात् प्रकृति में अग्नि का, ऋतुओं में वसंत का, जो स्थान है, मनुष्यों में ब्राह्मण-शिक्षक-आचार्य का वही स्थान है। इसीलिए कहा कि त्रिवृत् स्तोमों का मुख है, गायत्री छन्दों का मुख है, ब्राह्मण मनुष्यों का मुख है और वसंत ऋतुओं का मुख है। इसलिए ब्राह्मण मुख से अपना सामर्थ्य प्रकट करता है, क्योंकि मुख से उत्पन्न होने वाले शब्द-ज्ञान के द्वारा ही उसकी रचना हुई है।

''जो आचार्य-शिक्षक ज्ञान के इस रहस्य को जानते हैं वे अपना सामर्थ्य अपने शिष्यों को ज्ञानवान् बनाने के लिए अपने मुख से प्रकट करते हैं।''

जिस प्रकार यहाँ **ताण्ड्य महाब्राह्मण** ग्रन्थ में उक्त ऋग्वेदीय रूपक एवं यजुर्वेद के इस मंत्र की प्रथम पक्ति की संयुक्त व्याख्या की गयी है, उसी प्रकार **कृष्ण यजुर्वेद** की संहिताओं में वेद में मिश्रित ब्राह्मणों में भी की गयी है। मूलत: वेद में ब्राह्मण का मिश्रित पाठ करने के कारण, वेद की शुद्धता न रहने के कारण ही उसे कृष्ण यजुर्वेद कहा जाता है। और शुद्ध यजुर्वेद को ही शुक्ल यजुर्वेद कहा जाता है। जैसा कि शंकराचार्य जी ने शतपथ ब्राह्मण के १४वें काण्ड रूप बृहदारण्यक उपनिषद् के इस अंश **''इमानि शुक्लानि यजूँषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते।''** की व्याख्या करते हुए कहा है—

''तानीमानी शुक्लानीत्यव्यामिश्राणि ब्राह्मणेन। अथवा यानीमानि यजूँषि तानि शुक्लानि शुद्धानीत्येतत्।[१]''

वे जो यह शुक्ल यजुर्वेद की ऋचायें हैं, उन्हें शुक्ल कहने का मतलब है कि वेद की संहिता में ब्राह्मण का मिश्रण नहीं किया गया है। अथवा यह जो शुक्ल यजुर्वेद कहा उसका अर्थ शुद्ध यजुर्वेद है, अर्थात् ब्राह्मण मिश्रित वेद को शुद्ध वेद नहीं माना गया है। इससे यह भी स्पष्ट है कि केवल संहिताओं को ही वेद माना जाता था। और उनकी व्याख्या ही ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। ब्राह्मण वेद नहीं हैं, बल्कि वेद की व्याख्या हैं। इसीलिए संहिताओं की भाँति ब्राह्मणों को कंठस्थ करने की प्रक्रिया नहीं थी, केवल संहितायें ही कंठस्थ की जाती थीं।

---

१. बृहदारण्यक ६/५/३ पर शाङ्करभाष्य

११-क्षत्रिय-प्रशासक-सैनिक वर्ग या वर्ण का स्वत्व जागरण (२)

इन्द्रस्य भागोऽसि विष्णोराधिपत्यं क्षत्रं स्पृतं पञ्चदशस्तोमः ।

मंत्र की इस द्वितीय पंक्ति में क्षत्रिय वर्ण का उद्बोधन है।

भगवान वेद क्षत्रिय वर्ण के स्वत्व को जगाते हुए कहते हैं, **इन्द्रस्य भागोऽसि–** हे क्षत्रिय! हे प्रशासक! हे राजन्य! तू इन्द्र का भाग है, **विष्णोराधिपत्यम्–** तेरे उपर भगवान विष्णु का दायित्व है।

मीमांसा– जो सबके भीतर प्रविष्ट हुआ सभी प्राणियों के अन्तर्यामी रूप से उनका नियमन करता हुआ पालन करता है, परमात्मा के उसी रूप का नाम विष्णु है। सभी प्राणियों के पालन का इस प्रकार का दायित्व जो भगवान विष्णु का है, हे क्षत्रिय, हे प्रशासक! वही दायित्व तेरा भी है। जिस प्रकार सारे प्राणियों में प्रविष्ट हुआ परमात्मा सबकुछ जानता है, उसी प्रकार क्षत्रिय-राजा भी राष्ट्रीय नियमों के द्वारा, गुप्तचरों के द्वारा, अपने प्रशासनिक अधिकारियों के द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्र में प्रविष्ट हुआ राष्ट्र की स्थिति को अच्छी तरह जाने। आवश्यकतानुसार शासन और पालन के द्वारा राष्ट्र की रक्षा करे। जैसे भगवान विष्णु दुष्टों को दण्डित करते हैं, अति दुष्टों, राक्षसों का संहार कर सज्जनों की, पवित्र अन्तःकरण वाले भक्तों की रक्षा करते हैं। उसी प्रकार राष्ट्राध्यक्ष राजा को भी दुष्टों को दण्डित कर, सज्जनों, राष्ट्रभक्तों की रक्षा करनी चाहिए, और राष्ट्र में सद्गुणों की स्थापना करनी चाहिए। जो राजा अपने दायित्व का अपने शासन के द्वारा इस प्रकार न्यायपूर्वक पालन करता है, दुष्टों को दण्डित करता है, प्रजा भी ऐसे राष्ट्राध्यक्ष राजा के प्रति भगवान के समान श्रद्धा करती है। इसलिए भगवान वेद कह रहे हैं कि हे राजन्! प्रजा और राष्ट्र का अपने शरीर की भाँति पालन करने के कारण, प्रजा का आत्मभूत हो जाने के कारण तू परमात्मा इन्द्र का भाग है।

क्षत्रं स्पृतम्– तूने इस प्रजा पालनात्मक सत्कर्म के द्वारा रक्षण धर्म की ही रक्षा की है। **पञ्चदशस्तोमः–** इस प्रकार प्रजा और राष्ट्र के रक्षण में तत्पर तू पञ्चदश स्तोम है।

मीमांसा– स्तोम का अर्थ होता है स्तुति और पञ्चदश का अर्थ है पन्द्रह। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन पञ्चतत्वों की शुद्धि, प्रदूषण

मुक्तता एवं आवश्यकता अनुसार उनकी उपलब्धि। प्राण, अपान, समान, ब्यान और उदान रूप पञ्चप्राणों की शुद्धि और सक्रियता अर्थात् समुचित चिकित्सा व्यवस्था के द्वारा प्रजा में आरोग्य की स्थापना। मन, वाणी, कर्म, अन्तःकरण और आत्मा की शुद्धि व सक्रियता के द्वारा प्रजा में न्याय, नैतिकता, चारित्र्य, सत्कर्म निष्ठा और राष्ट्र भक्ति की स्थापना । यह पञ्चदश १५ कर्म हुए। इन पंचदश कर्मों के द्वारा हे राजन्य! हे क्षत्रिय! हे प्रशासक! तूने राष्ट्रात्मा, परमात्मा की स्तुति की है इसलिए तू पञ्चदश स्तोम है। अथवा पञ्चज्ञानेन्द्रियों, पञ्चकर्मेन्द्रियों और पञ्चप्राणों की पूर्ण सक्रियता से क्षत्रिय, राजन्य व प्रशासनिक अधिकारी राष्ट्र की रक्षा और उन्नति में समर्पित रहते हैं। यही उनके द्वारा राष्ट्रात्मा परमात्मा की पञ्चदश स्तुति है, इसलिए वह पञ्चदश स्तोम है।

इस मंत्र की और ऋग्वेदीय मंत्र के रूपक अंश की संयुक्त व्याख्या ब्राह्मणों में इस प्रकार है—

''स उरस्त एव बाहुभ्यां पञ्चदशमसृजत तं त्रिष्टुप्छन्दोऽन्वसृज्यतेन्द्रो देवता राजन्यो मनुष्यो ग्रीष्म ऋतुस्तस्माद्राजन्स्य पञ्चदशस्तोमस्त्रिष्टुप्छन्द इन्द्रो देवता ग्रीष्म ऋतुस्तस्मादु बाहुवीर्यो बाहुभ्यां हि सृष्टः।''

''करोति बाहुभ्यां वीर्यं य एवं वेद।[१]''

स उरस्त एव बाहुभ्यां पञ्चदशमसृजत–उस प्रजापति राजा ने सुव्यवस्थित राष्ट्र की उन्नति के लिए सत्कर्म रूप यज्ञ की रचना के क्रम में हृदय और बाहु से पञ्चदश स्तोम रूप क्षत्रिय वर्ण की रचना की। **तं त्रिष्टुप्छन्दोऽन्वसृज्यत** उसी का अनुवर्तन करते हुए पञ्चदश अक्षरों वाले त्रिष्टुप् छन्द की रचना की। **इन्द्रो देवता राजन्यो मनुष्यो ग्रीष्म ऋतः**–देवताओं-इन्द्रियों का स्वामी इन्द्र अर्थात् आत्मा जिस प्रकार सभी इन्द्रियों और प्राणों पर शासन करते हुए उन्हें द्योतित करता है, उन्हें चैतन्य देता है, जीवन देता है उसी प्रकार राष्ट्राध्यक्ष राजा को भी प्रजा का अपनी इन्द्रियों और प्राणों के समान पालन करना चाहिए। ऋतुओं में ग्रीष्म ऋतु जिस प्रकार तपते हुए समुद्र से जल ग्रहण कर वर्षा के सम्पादन द्वारा धरती का सिंचन करता है, उसी प्रकार मनुष्यों में राजा अपने प्रशासनिक अधिकारियों के द्वारा प्रजा से किञ्चित्

१. ताण्ड्य ६/१/८/९

मात्रा में कर लेता हुआ, उसके सदुपयोग से सभी व्यवस्थाओं-शिक्षण, प्रशासन, कृषि, वाणिज्य एवं शिल्प को चलाता है। **तस्माद्राजन्स्य पञ्चदशस्तोमः–** इसलिए इस प्रकार नैतिकता पूर्वक अपने दायित्व का पालन करने वाले राजा को श्रुति पंचदश स्तोम कहती है। **इन्द्रो देवता ग्रीष्म ऋतुः** शरीर में इन्द्रियों का देवता आत्मा इन्द्र जिस प्रकार इन्द्रियों सहित शरीर का पालन करता है, उसी प्रकार प्रजा का पालन करने से राजा व प्रशासनिक अधिकारी इन्द्र देवता के अंश हैं। ऋतुओं में वह ग्रीष्म ऋतु है, स्तोमों में पञ्चदश स्तोम और छन्दों में पञ्चदश अक्षरों वाला त्रिष्टुप छन्द है। **तस्तस्मादु बाहुवीर्यो बाहुभ्यां हि सृष्ट–** अतएव बाहुओं से रक्षण सामर्थ्य के प्राकट्य रूप में ही उसकी उत्पत्ति है।

करोति बाहुभ्यां वीर्यं य एवं वेद– इसलिए जो क्षत्रिय-राजा या प्रशासनिक अधिकारी इस रहस्य को जानता है, वह हृदय की संवेदनाओं से युक्त हुआ प्रजा के रक्षण और पालन में ही अपने बाहुओं से सामर्थ्य प्रकट करता है।

१२-विश् कृषक-वैश्य वर्ण या वर्ग का स्वत्व जागरण (३)

नृचक्षसां भागोऽसि धातोराधिपत्यं जनित्रं स्पृतं सप्तदशस्तोमः

मंत्र की इस तृतीय पंक्ति में कृषि और वाणिज्य कर्म में लगे हुए जन सामान्य अर्थात् कृषक एवं व्यापारी रूप वैश्य वर्ण का उद्‌बोधन है।

भगवान वेद वैश्य वर्ण का स्वत्व जगाते हुए कहते हैं कि हे वैश्य! हे कृषक! ''**नृचक्षसां भागोऽसि**'' तू मनुष्यों की भावनाओं के द्रष्टा रूप में प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान साक्षी रूप परमात्मा का अंश है। यहाँ मंत्र में मनुष्यों की बहुलता के कारण साक्षी चेतन के लिए बहुवचन का प्रयोग किया गया है। चूँकि मनुष्यों की भावनाओं का प्रकटीकरण नेत्रों से ही होता है। इसीलिए मनुष्यों की भावनाओं के अभिव्यञ्जक साक्षी चेतन देवता को ''**नृचक्षस्**'' कहा गया है। प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान रहने के कारण उन उन देवों की दृष्टि से बहुवचन का प्रयोग करते हुए वेद ने ''**नृचक्षसां भागोऽसि**'' यह कहा। देवरूप जीवात्माओं की आकांक्षा सभी भोग्य वस्तुओं को प्राप्त करना होता है, जैसे अन्न, फल, दुग्ध, वस्त्र, घर, पत्नी,

पति, पुत्र, पुत्री, आमोद, प्रमोद, स्वास्थ्य, सौन्दर्य और वैभव आदि प्राप्त करना ही सभी मनुष्यों की आकांक्षाएँ होती हैं। उसी के उत्पादन में संलग्न होता है किसान और व्यापारी, दोनों को मिलाकर ही वैदिक काल में वैश्य वर्ण कहा जाता था। आज के शब्दों में उसी के स्थान पर कृषि और वाणिज्य विभाग का प्रयोग किया जाता है। इसीलिए वेद ने किसान और व्यापारी को नृचक्षस देवों का अंश कहा। वेद इस मुख्य वर्ण में लगे व्यक्तियों के दायित्व को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि, हे वैश्य! हे कृषक! **धातोराधिपत्यम्-** तेरे ऊपर धाता-ब्रह्मा का दायित्व है।

मीमांसा– जिस प्रकार इस सृष्टि का उत्पादक परमात्मा प्राणियों के उत्पादन के साथ-साथ उनके लिए अपेक्षित भोगों का भी उत्पादन करते हुए सृष्टि का उत्पादन करता हुआ उसको धारण करता है। उसी प्रकार से जन सामान्य किसान एवं वणिक् भी संतानोत्पादन के साथ-साथ अपेक्षित अन्न, जल, वस्त्रादि के उत्पादन में लगा हुआ इस मानव समुदाय को धारण करता है। इसी तथ्य को भगवान वेद ने कहा कि हे वैश्य! तेरे ऊपर धाता का दायित्व है।

जनित्रं स्पृतम्– इस कर्म के द्वारा के द्वारा तूने प्रजनन-क्षमता और उत्पादन की रक्षा की है। **सप्तदशस्तोमः –** तू सप्तदश स्तोम है।

मीमांसा- बारह महीने, पाँच ऋतुएं, मिलकर सप्तदश होते हैं। मधुमास, माधवमास, शुक्रमास, शुचिमास, नभमास, नभस्यमास, इषमास, ऊर्जमास, सहमास, सहस्यमास, तपमास और तपस्यमास यह वेद में बताये गये १२ महीने हैं। दो-दो महीनों की क्रमशः वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त और शिशिर यह छः ऋतुयें हैं। इनमें से अंतिम शिशिर के ६० दिनों में से ४० दिन वसंत के आगमन रूप मान लिए जाते हैं, क्योंकि वसंत अपने आने के ४० दिन पहले से ही अपने आगमन का प्रभाव दर्शाने लगता है। शिशिर के शेष बचे २० दिन हेमन्त में मान लिए जाते हैं, क्योंकि हिम-ठंडी का प्रभाव शिशिर के प्रारम्भिक २० दिनों में बना ही रहता है। इस प्रकार शिशिर के २० दिन हेमन्त में मिला देने से और ४० दिन वसंत में मिला देने से ५ ऋतुयें ही बनती हैं। ऋग्वेद में ही ऋतु के इन दोनों प्रकारों का उल्लेख किया गया है। वह इस प्रकार है—

पंचपादं पितरं द्वादशाकृतिं, दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं, सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम्[१]।।

हिन्दी व्याख्या—

पंचपादम् – पाँच ऋतुयें संवत्सर-वर्ष की आत्मा काल के पाँच पावों के समान हैं, क्योंकि इन ऋतुरूप पाँवों के द्वारा ही वह आवर्तित होता रहता है। "**पितरम्**"– चूँकि सभी प्राणियों एवं वनस्पतियों की उत्पत्ति इन ऋतुओं के अनुसार और इन्हीं से होती है, और इन्हीं के द्वारा उत्पादित भोगों से सभी प्राणियों का पालन होता है। इसलिए यह संवत्सर काल ही सबका पितर है। "**द्वादशाकृतिं**"- द्वादश महीने ही इस संवत्सर कालात्मा सूर्य की द्वादश आकृतियाँ हैं। "**पुरीषिणम्**"- पुरियों सहित सभी पदार्थों के शासक एवं पालक इस सूर्य के सामने पड़ने वाले भाग को "**दिवः आहुः**"- दिन कहते हैं, "**परे अर्धे**"- घूमती हुई पृथ्वी के आधे पृष्ठ भाग में काल चक्र के जानने वाले विद्वान् लोग रात्रि कहते हैं ।

"**अथ इमे अन्य उपरे विचक्षणम्**" – दूसरे अन्य काल चक्र के विद्वान लोग इसे ही "**सप्तचक्रे**"– सात दिन रूप साप्ताहिक दिनात्मक चक्र में गतिमान मानते हैं। इसी प्रकार अन्य विद्वान् "**षडर आहुः अर्पितम्**"- इस संवत्सर काल चक्र में छः ऋतुयें अर्पित मानते हैं।

इसी मंत्र की दृष्टि से १२ महीने और ५ ऋतुओं के इस संवत्सर कालचक्र के क्रम में किसान एवं व्यापारी सम्पूर्ण उत्पादन करता है। प्राणियों की आवश्यकतायें और प्रवृत्तियाँ ऋतुओं के अनुसार ही होती हैं, ऋतुओं के नियम से ही कृषि एवं वाणिज्य कर्म अच्छी तरह चलता है। इन १२ महीनों और ५ ऋतुओं में भलीभाँति अपने कर्म में लगा हुआ जन समुदाय बारह और पाँच बराबर सप्तदश १७ के सम्यक् ज्ञान द्वारा इनका सदुयोग करता हुआ, राष्ट्रात्मा परमात्मा की उन्नति में संलग्न हुआ मानो उसकी स्तुति करता है। इसे ही वेद ने कहा कि हे वैश्य! हे कृषक तू सप्तदश स्तोम है।

ऋग्वेदीय रूपक और इस मंत्र का संयुक्त व्याख्यान ब्राह्मणों में इस प्रकार है—

---

१. ऋग्वेद १/१६२/१२ ।

"स मध्यत एव प्रजननात्सप्तदशमसृजत तञ्जगती छन्दोऽन्वसृजत विश्वेदेवा देवता, वैश्यो मनुष्यो वर्षा ऋतुस्तस्माद्वैश्योऽद्यमानो न क्षीयते प्रजनाद्धि सृष्टः। तस्मादु बहुपशुर्वैश्वदेवो हि जागतो वर्षा ह्यस्यर्तुः। तस्माद् ब्राह्मणस्य च राजन्यश्च आद्यो अधरो हि सृष्टः।[1]"

स मध्यत एव प्रजननात्सप्तदशमसृजत – उस प्रजापति ने मध्य प्रजनन स्थान से अर्थात् उपस्थ से सप्तदश स्तोम रूप कृषक वर्ग अर्थात् वैश्य वर्ण की रचना की। **तञ्जगती छन्दोऽन्वसृजत** उसी जागतिक जन सामान्य कृषक वर्ग-वैश्य वर्ण का अनुवर्तन करते हुए जगती छन्द की रचना की। **विश्वेदेवा देवता** जन सामान्य की भावनाओं के देव विश्वेदेव ही वैश्य देवता हैं। **वैश्यो मनुष्यः** – क्योंकि सभी मनुष्यों की उत्पत्ति प्रजनन से ही होती है, इसलिए जन्म लेने वाला हर मनुष्य सामान्य कृषक एवं व्यापारी वर्ग में ही आता है। **वर्षा ह्यस्यर्तुः** इस कृषक एवं व्यापारी की ऋतु वर्षा ऋतु है, क्योंकि वर्षा ही उत्पादन की मुख्य ऋतु है। **तस्मादु बहुपशुर्वैश्वदेवो हि जागतो वर्षा ह्यस्यर्तुः** इसलिए बहुत पशुओं और बहुत जनसमुदायों एवं वर्षा ऋतु वाला किसान वैश्य ही मूलतः जागतिक है। **तस्माद् ब्राह्मणस्य च राजन्यश्च आद्यो अधरो हि सृष्टः** इसलिए ब्राह्मण और राजन्य के रूप में राष्ट्र सेवा के लिए इसका ही ग्रहण किया जाता है। क्योंकि यही आधारभूत मनुष्य है। क्योंकि इसकी उत्पादन रूप आधार से ही रचना हुई है। **तस्माद्वैश्योऽद्यमानो न क्षीयते प्रजनाद्धि सृष्टः** इसलिए यह जन सामान्य किसान समुदाय क्षीण नहीं होता है। क्योंकि हर जन्म लेने वाला मनुष्य मूलतः किसान ही होता है, अन्य सभी वर्ण उसी में से निकलते रहते हैं। इस प्रकार प्रजनन से ही सृष्ट होने के कारण इसके क्षीण होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

१३-शूद्र-श्रमिक-शिल्पी वर्ण या वर्ग का स्वत्व जागरण (४)

मित्रस्य भागोऽसि वरुणस्याधिपत्यं दिवः वृष्टिर्वात स्पृतं एकविंशस्तोमः।

मंत्र की चौथी पंक्ति में शूद्र वर्ण का उद्बोधन है।

भगवान वेद शूद्र वर्ण का स्वत्व जगाते हुए कहते हैं कि, हे शूद्र!

---

१. ताण्ड्य ६/१/१०।

मित्रस्य भागोऽसि– तू समस्त प्राणियों के परम मित्र भगवान सूर्य का भाग है। जिस प्रकार सूर्य अपने प्रकाश के द्वारा और अपेक्षित ताप-गर्मी के द्वारा सम्पूर्ण प्राणी समुदाय को जगाते हैं, जीवन का संचार करते हैं, चैतन्य प्रदान करते हैं, उसी प्रकार हे शूद्र! तू भी अपने श्रम के द्वारा, तप के द्वारा, सभी कर्मों को गति प्रदान करता है। व्यवस्थित श्रम के द्वारा ही शिल्प की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार से यह श्रम ही, यह तप ही, सभी कर्मों का मित्र है। इसलिए कहा—हे तपस्वी! हे शूद्र! तुम सबके मित्र सूर्य के भाग हो। **वरुणस्याधिपत्यम्** – तेरे ऊपर वरुण का दायित्व है, जल का अधिपति देव वरुण है। जिस प्रकार जल नीचे स्थान की ओर बढ़कर उसको भर देता है, उसी प्रकार जिस कर्म की गति नीचे अर्थात् कमजोर होती है, श्रम और श्रमिक वहीं लगकर उसको पूर्ण कर देते हैं। जिस प्रकार जल, जल में रहने वाले, धरती पर रहने वाले और आकाश में उड़ने वाले सभी प्राणियों के जीवन का आधार है। उसी प्रकार से श्रम, श्रमिक और शिल्पकार। घट, पट, वस्त्र, आभूषण, अस्त्र-शस्त्र आदि विविध शिल्पों के द्वारा मनुष्यों के जीवन का आधार है। इसलिए कहा हे शूद्र! तेरे उपर वरुण का दायित्व है। **दिवः वृष्टिर्वात स्पृतम्** – तूने गृह, वाटिका, तालाब आदि निर्माण शिल्पों के द्वारा दिन, वर्षा और वायु से रक्षा की है। साथ ही दिन की, वर्षा की, और वायु की रक्षा की है। पुनः दिन से, वर्षा से और वायु से रक्षा की है।

एकविंशस्तोमः – तू एकविंशस्तोम है।

मीमांसा–१२ महीने, ५ ऋतुएँ, मन, वाणी, कर्म और आत्मा, ये मिलकर २१ होते हैं। तूने महीनों और ऋतुओं का सदुपयोग कर नव-नव शिल्प निर्माण के लिए मन, वाणी, कर्म और शरीर से अपने को समर्पित कर दिया है। जिसके द्वारा नित्य नये-नये शिल्पों की रचना होती रहती है। राष्ट्र के उत्थान में, लोक को वैभव सम्पन्न बनाने के लिए, यह तेरी महान भूमिका ही तुझे एकविंशस्तोम बनाती है। यही तेरे द्वारा राष्ट्रात्मा परमात्मा की, की जा रही एकविंश स्तुति है। इसलिए वेद ने कहा–तू एकविंशस्तोम है।

ऋग्वेदीय रूपक एवं इस मंत्र की चतुर्थ पंक्ति के व्याख्यान रूप विनष्ट ब्राह्मण का विमर्श एवं विमर्श निर्मित शुद्ध ब्राह्मण का स्वरूप –

दुर्भाग्य से ऋग्वेदीय रूपक और इस मंत्र की चतुर्थ पंक्ति से सम्बद्ध वर्तमान में ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त व्याख्यान मंत्र के अनुकूल नही है। अपितु मंत्र विरुद्ध अत्यन्त विकृत है। वैदिक मानवीय कर्म समरसता को नष्ट करने वाला, परस्पर द्वेष उत्पन्न करने वाला, भारतीय संस्कृति के प्रति शत्रुता पूर्वक मुख्य ब्राह्मण को हटाकर छल से जोड़ा हुआ है। जैसे मंत्र में है कि, शूद्र मित्र देवता का भाग है। उसपर वरुण का दायित्व है, किन्तु प्राप्त वर्तमान ब्राह्मण में मंत्र विरूद्ध लिखा है—

(शतपथ का क्षेपककारों द्वारा परिवर्तित प्रक्षिप्तांश)

''स पत्त एव प्रतिष्ठाया एकविंशमसृजत तमनुष्टुब्छन्दोऽन्वसृज्यत न काचन देवता शूद्रो मनुष्यस्तमान्छूद्र उत बहुपशुरयज्ञियो विदेवो हि, न हितं काचन देवतान्वसृज्यत तस्मात्पादावजेज्यनातिवर्द्धते पत्तो हि, सृष्टस्तस्मादेकविंशस्तोमानां प्रतिष्ठा प्रतिष्ठाया हि सृष्टस्तस्मादनुष्टुभं छन्दांसि नानुव्यूहन्ति।

''पापवसीयसो विधृत्यै।''

''विधृतिः पापवसीयसो भवति य एवं वेद।[१]''

हिन्दी अनुवाद– उस प्रतजापति ने शरीर की प्रतिष्ठा रूप पाँव से एकविंश स्तोमरूप शूद्र वर्ण की रचना की। उसी के अनुरूप अनुष्टुप् छन्द की रचना की। मनुष्यों में शूद्र का कोई देवता नहीं, इसलिए शूद्र बहुत पशुओं वाला अयज्ञीय अर्थात् सत्कर्मों से रहित, और देवता रहित है। इसलिए वह किसी देवता का भाग नहीं है। उसका कर्म किसी देव का दायित्व नहीं है। उसके अनुकूल कोई देव नहीं है, इसलिए पैरों से बहुत चलता हुआ भी वृद्धि को नहीं प्राप्त होता है। इसलिए एकविंश स्तोम की प्रतिष्ठा है, क्योंकि प्रतिष्ठा से ही उसकी उत्पत्ति हुई है। इसलिए अनुष्टुप् को छन्दों में अनुव्यूह नहीं करते हैं ।

''उसके पाप के द्वारा ही विधि ने उसे बनाया।''

''उसका निर्माण उसके पापों के वश हुआ है जो ऐसा जानता है।''

---

१. ताण्ड्यमहाब्राह्मण ६/१/११,१२,१३

मीमांसा- इस व्याख्यान को सूक्ष्मता से देखने से ही स्पष्ट है कि मूल व्याख्यान कुछ और था जिसमे विपरीतार्थक शब्दों को जोड़कर तरह-तरह की काट-छाट कर इस विकृत ब्राह्मण को बनाया गया है। जैसे व्याख्यान की प्रथम पंक्ति में यह स्पष्ट कहा गया कि प्रतिष्ठा रूप पाँवों से एकविंश स्तोम रूप शूद्र वर्ण की रचना की। तदनुरूप ही अनुष्टुप् छन्द की रचना की। यहाँ तक व्याख्यान शुद्ध है। आगे जहाँ मंत्रानुकूल **मित्रो देवता** लिखा रहा होगा, उसे बदल कर *''न काचन देवता''* लिख दिया। चूँकि व्याख्यान का प्रारम्भ ही प्रजापति से हुआ। **''सोऽकामयत यज्ञं सृजेयेति।''** उस प्रजापति ने इच्छा की कि सत्कर्म की रचना करूँ। इस प्रकार सत्कर्मों की रचना करने की प्रतिज्ञा के साथ ही व्याख्यान शुरू हुआ था। इसलिए परिवर्तनकर्ता ने जिसकी दृष्टि में यज्ञ जीवन का सम्पूर्ण सत्कर्म न होकर, केवल कर्म काण्डीय यज्ञ मात्र है, उसने सत्कर्मों के इस व्याख्यानात्मक प्रसंग में प्रसंग-विरुद्ध *अयज्ञियः* लिख दिया। उसी प्रकार मंत्र में **मित्रोदेवता** स्पष्ट लिखे होने के बावजूद *विदेवः* लिख दिया। आगे जहाँ प्राकृतिक देवता वरुण के द्वारा शूद्र के कर्म की महत्ता का व्याख्यान था, उसे विकृत करते हुए *''न हि तं काचन देवतान्वसृज्यत''* ऐसा छल पूर्वक लिख दिया। चूँकि ऊपर व्याख्यानों में ब्राह्मण के लिए स्पष्ट कहा गया है कि, वह मुख से अपना सामर्थ्य प्रकट करता है, और इसी प्रकार क्षत्रिय के लिए कहा कि वह हृदय की संवेदना के अनुसार राष्ट्र और समाज की रक्षा के लिए बाहुओं से अपना सामर्थ्य प्रकट करता है। उसी प्रकार यहाँ इस पंक्ति में भी मंत्र के अनुसार लिखा हुआ रहा होगा कि वह पाँवों से श्रम करता हुआ अपने लक्ष्य को सिद्ध करता हुआ अतिशयता से उन्नति करता है। किन्तु यहाँ इस अर्थ में कहे मूल व्याख्यान **''पादावेज्यातिवर्द्धते''** को विकृत कर *''पादावेज्यनातिवर्द्धते''* लिख दिया। यद्यपि आगे **''तस्मादेकविंशस्तोमानां प्रतिष्ठा प्रतिष्ठाया हि सृष्टः''** ''इसलिए वह एकविंशस्तोम की प्रतिष्ठा है, क्योंकि वो प्रतिष्ठा से ही सृष्ट है'', यह शुद्ध कथन मानों चिल्ला-चिल्लाकर की गयी विकृति की घोषणा कर रहा है। इसी प्रकार अनुष्टुप् छन्द जो मूलतः छन्दों की प्रतिष्ठा है, वेद से लेकर वर्तमान ग्रन्थों तक सभी ग्रन्थों में सर्वाधिक प्रयोग अनुष्टुप छन्द का हुआ है। इस प्रकार अनुष्टुप् छन्द ही सभी

ग्रन्थों के आधार रूप में स्थित है। किन्तु ऐसे अनुष्टुप् छन्द को लिख दिया कि *अनुष्टुभं छन्दांसि नानुव्हन्ति* अर्थात् उसका छन्दों में परिगणन नहीं होता है। यह कथन भी इस ब्राह्मण को विकृत किये जाने की घोषणा कर रहा है। इस मंत्र से सम्बंधित तैतरीय संहिता में पठित ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण आदि सभी ब्राह्मण व्याख्यानों को भी इसी प्रकार विकृत किया गया है। आगे के क्रमशः १२ और १३ व्याख्यान तो नितान्त निराधार हैं। उनका मंत्र से किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। अपितु विकृतिकर्ता द्वारा शूद्र को पाप के कारण शूद्र रूप में जन्म लेने की निराधार मिथ्या धारणा स्थापित करने की कुचेष्टा की गयी है। जो अन्यत्र ब्राह्मण व्याख्यानों से ही स्पष्ट हो जाती है। वह सभी तथ्य यथास्थान क्रमशः हम यहाँ स्पष्ट करने का अवश्य प्रयास कर रहे हैं। मंत्रानुसार और इन ब्राह्मण व्याख्यानों का सूक्ष्मतापूर्वक विमर्श करने से जो ब्राह्मण व्याख्यान उभरता है– स्पष्ट होता है, वह इस प्रकार होगा—

''स पत्त एव प्रतिष्ठाया एकविंशमसृजत तमनुष्टुछन्दोऽन्वसृज्यत मित्रो देवता शूद्रो मनुष्य शरद ऋतुः। तस्मात्पादावेज्यातिवर्द्धते, पत्तो हि सृष्टः। तस्माच्छूद्रस्यैकविंशस्तोमानां प्रतिष्ठा प्रतिष्ठाया हि सृष्टः। तस्मादनुष्टुभः छन्दानां प्रतिष्ठा।''

विमर्श से प्राप्त शुद्ध ब्राह्मण की हिन्दी व्याख्या—

स पत्त एव प्रतिष्ठाया एकविंशमसृजत– उस प्रजापति ने प्रतिष्ठा रूप पाँवों से एकविंशस्तोम की रचना की। **तमनुष्टुछन्दोऽन्वसृज्यत–** उसी के अनुकूल अनुष्टुप् छन्द की रचना की। **मित्रो देवता शूद्रो मनुष्य शरद ऋतुः –** यह एकविंशस्तोम देवताओं में मित्र सूर्य है, मनुष्यों में शूद्र है, ऋतुओं में शरद ऋतु है। **तस्मात्पादावेज्यातिवर्द्धते–** इसलिए पाँवों से चलता हुआ, अर्थात् श्रमात्मक कर्म करता हुआ, अतिशयता से वृद्धि को प्राप्त करता है। **पत्तो हि सृष्टः–** क्योंकि शरीर की प्रतिष्ठा रूप पाँवों से ही उसकी रचना हुई है। जिस प्रकार शरीर पाँवों पर प्रतिष्ठित है, उसी प्रकार कर्म का शरीर भी श्रम रूप पाँवों पर ही प्रतिष्ठित है। **तस्माच्छूद्रस्यैक-विंशस्तोमानां प्रतिष्ठा प्रतिष्ठाया हि सृष्टः–** इसलिए शूद्र की एकविंश स्तोमों के रूप में प्रतिष्ठा है। क्योंकि प्रतिष्ठा से ही उसकी रचना हुई है।

तस्मादनुष्टुभः छन्दानां प्रतिष्ठा– इसीलिए अनुष्टुप छन्द, छन्दों की प्रतिष्ठा है।

१४- वैदिक स्तोम मीमांसा

विमर्श से प्राप्त उक्त तथ्यात्मक व्याख्यान की पुष्टि स्तोम के व्याख्यानात्मक आगे के इन ब्राह्मण वाक्यों से स्पष्ट होती है जो इस प्रकार हैं—

"यो वै स्तोमानुपदेशनवतो वेदोपदेशनवान् भवति।[१]"

निश्चय ही जो व्यक्ति इन स्तोमों को उपदेश रूप समझता है। वर्ण व्यवस्था में वर्णों के, कर्मों के, स्पष्टीकरण हेतु इन स्तोमों द्वारा आलंकारिक शब्दों में किये गये उपदेश के रूप में जानता है, वह उपदेश करने की योग्यता से सम्पन्न होता है, और उपदेश करने हेतु अपेक्षित प्राणादि शक्तियों से सम्पन्न होता है।

इसी तथ्य को श्रुति आगे इन शब्दों में स्पष्ट करती है—

"प्राणो वै त्रिवृदर्धमासः पञ्चदशः, संवत्सरः सप्तदश, आदित्यः एकविंश एते वै स्तोमा उपदेशनवन्त उपदेशनवान् भवति य एवं वेद[२]।।"

प्राणो वै त्रिवृत् - जो शिक्षा का, उपदेश का प्रतीकात्मक त्रिवृत् स्तोम है, निश्चय ही वह प्राण ही है। **अर्धमासः पञ्चदशः** - १५ दिनों का अर्धमास होता है, उसी प्रकार १५ की संख्या की साम्यता के कारण पञ्चदश स्तोम रूप क्षत्रिय वर्ण को अर्धमास कहा है। **संवत्सरः सप्तदश-** सप्तदश स्तोम संवत्सर के द्वादश महीनों और पञ्च ऋतुओं के योग रूप हैं। क्योंकि द्वादश महीने और पञ्च ऋतुएं ही सबको बसाती हैं, इसीलिए सबको बसाने के कारण ही इन्हें संवत्सर कहा जाता है। जिस प्रकार यह १२ महीने और पाँच ऋतुएं ही सम्पूर्ण प्रकृति को बसाती हैं, उसी प्रकार किसान भी इन्ही के क्रम से अपना उत्पादन और विपणन करते हुए सम्पूर्ण मानव समुदाय को बसाता है। इसलिए वह भी संवत्सर है, सप्तदश स्तोम है। **आदित्यः एकविंशः–** यह आदित्य ही एकविंश स्तोम है, द्वादश माह पाँच ऋतुएं तीन लोक और इक्कीसवाँ आदित्य स्वयं अथवा द्वादश महीने पाँच ऋतुएं, मन, वाणी, बुद्धि और इक्कीसवाँ आदित्यरूप आत्मा स्वयं

---

१. ताण्ड्यमहाब्राह्मण ६/२/१। २. ताण्ड्यमहाब्राह्मण ६/२/२।

मिलकर एकविंश स्तोम होते हैं। इनका तप ही, श्रम ही सारी व्यवस्था का आधार है। **एते वै स्तोमा उपदेशनवन्त उपदेशनवान् भवति–** यही स्तोम है। इन्हीं स्तोमों का उपदेश होता है, और इन्हीं स्तोमों के उपदेश को जो अपने जीवन में उतारता है वह उपदेश प्राप्त होने वाला होता है। **य एवं वेद–** जो इस प्रकार जानते हैं वह ही स्तोमों के उपदेश को जानते हैं।

इस प्रकार एकविंश स्तोम रूप शूद्र वर्ण के कर्म की महत्ता का स्पष्ट रूप से उपदेश किया गया है। यहाँ इस ब्राह्मण में स्पष्ट रूप से आदित्य-सूर्य को एकविंश स्तोमरूप कहा गया है। अर्थात् देवों में सूर्य एकविंश स्तोम है, और मनुष्यों में शूद्र एकविंश स्तोम है। यही तथ्य पूर्व ब्राह्मण में स्पष्ट किया गया था, जिसे विकृत करने हेतु लिख दिया गया कि एकविंश स्तोम का अनुवर्ती कोई देव नहीं है। इस मंत्र से यह स्पष्ट हो गया कि वर्तमान में ग्रन्थ में पूर्व में कहा गया—''**स पत्त एव**'' इत्यादि मंत्र कलुषित मानसिकता के लोंगों द्वारा विकृत किया गया, जिसके कारण वह मंत्र विरुद्ध हो गया और ग्रन्थ के अग्रिम इस मंत्र से सामञ्जस्य रहित हो गया।

''इमे वै लोकास्त्रिणवस्त्रिणवस्य वै ब्राह्मणेनेमे लोकास्त्रिष्पुनर्नवा भवन्ति।[१]''

निश्चय ही ये लोक त्रिणव हैं। ज्ञानी, आचार्य, ब्राह्मण के द्वारा तीन तीन बार आवृत्यात्मक अध्यापन के बाद यह लोक निरन्तर नव-नव ज्ञान से सम्पन्न होता हुआ नव-नव होता रहता है। जैसे शिक्षक, नये-नये ब्रह्मचारियों को शिक्षित करता हुआ, ज्ञान सम्पन्न बनाता हुआ, दूसरे नये-नये ब्रह्मचारियों को आवृत्यात्मक शिक्षा देने में संलग्न रहता हुआ, राष्ट्र को, लोक को नव-नव ज्ञान से सम्पन्न करता हुआ, राष्ट्र को पुनः नव-नव करता रहता है। इस प्रकार राष्ट्र और लोक नव-नव होता रहता है। और ३×३=९ अर्थात् त्रिगुणित की गति से विकसित होता हुआ त्रिणव होता है।

''एषु लोकेषु प्रतितिष्ठति य एवं वेद[१]''

जो वर्ण व्यवस्था व्याख्यानात्मक इन स्तोमों के इस रहस्य को इस प्रकार जानता है वह इन लोकों में प्रतिष्ठित होता है।

---

१. ताण्ड्य महाब्राह्मण ६/२/३

१५- ब्रह्मकुल ब्राह्मण, ब्रह्मचारी और ब्रह्मचर्या

ब्राह्मण ग्रन्थों में जहाँ पाप-कर्मियों की दृष्टि नहीं पड़ी है, जो अपने शुद्ध स्वरूप में विद्यमान हैं, ऐसे सैकड़ों स्थलों में वर्ण-व्यवस्था का सरस एवं उत्कृष्ट समरसता नियामक व्याख्यान उपलब्ध हैं। वहाँ स्पष्ट की गयी एकात्म समरसता का किञ्चित् दिग्दर्शन यहाँ कराता हूँ।

उक्त मीमांसा से जिस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि, जीवन की पहली आवश्यकता नवजीवन में प्रवेश कर रहे बालक बालिकाओं को विविध प्रकार के ज्ञानों से सम्पन्न कराने की होती है। उसी के लिए प्रजापति राजा और विद्वान् आचार्यों ने **ब्राह्मण वर्ण** विभाग की रचना की। वह ब्राह्मण वर्ण ही तत्कालीन शिक्षा विभाग है। जिसके अन्तर्गत ब्रह्मकुल, ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणी, ब्रह्मचर्या और ब्राह्मण होते हैं। वहाँ ब्रह्मकुल में ब्रह्मचर्या अर्थात् शिक्षा चलती थी। कालांतर में क्रमश: यह ब्रह्मकुल ही गुरुकुल हुआ, और वर्तमान में विद्यालय एवं विश्वविद्यालय कहा जाता है। उसी प्रकार से ब्रह्मचारी ही शिष्य और विद्यार्थी नामों से कहा जा रहा है। ब्राह्मण शब्द के स्थान में ही गुरु और शिक्षक क्रमश: प्रचलित हुए। उस समय का ब्रह्मचर्य ही वर्तमान का ज्ञानाचरण और शिक्षाचरण है। वेदों में प्रयुक्त ब्रह्मचर्या शब्द के स्थान पर शिक्षा एवं शिक्षाचर्या शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। इस वैदिक ब्रह्मकुल में सभी बालक बालिकायें शिक्षार्थी, ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य का पालन करते थे, अर्थात् ज्ञानाचरण करते थे। यह ब्रह्मकुल अध्यापन की, प्रशासन की, रक्षण धर्म की, कृषि वाणिज्य की, और विविध प्रकार के शिल्पों की शिक्षा देते थे। ब्रह्मचारी अर्थात् विद्यार्थी अपनी रुचि के अनुकूल स्वयं वरण किये गये ज्ञान को ब्रह्मकुल में अर्जित कर, स्नातक होकर, जिस कर्म में ज्ञानार्जित दक्षता प्राप्त होती थी, उसी कर्म में अपने अग्रिम जीवन में प्रवेश करते थे। यही कर्म उनका वर्ण कहा जाता था। जैसा कि बाद के स्मृति ग्रन्थों में भी शुद्ध बचे श्लोकों में स्पष्ट किया गया है।

१६- ब्रह्मचर्य आश्रम की पूर्णता अर्थात् शिक्षा की पूर्णता द्वारा शिक्षा के आधार पर वर्ण का निर्धारण

ताण्ड्यमहाब्राह्मण ६/२/१०

ब्रह्मकुल में शिक्षा प्राप्त कर जब ब्रह्मचारी का दीक्षांत संस्कार होता था तब वह द्विज होता था। क्योंकि शिक्षा के द्वारा ज्ञान सम्पन्नता प्राप्त होना ही उसका दूसरा जन्म होता था। यहाँ जिस प्रकार की शिक्षा का वरण कर वह उस प्रकार के कर्म में दक्ष होता था वही उसका वर्ण होता था। कालान्तर में वही उसकी जाति कही जाने लगी। जैसा कि प्राचीन बचे शुद्ध इन स्मृति वाक्यों से स्पष्ट होता है—

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः।
सम्भूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते।।[१]

माता-पिता परस्पर काम के वश होकर इस मनुष्य को पैदा करते हैं जिससे वह मनुष्य योनि में पैदा होता है, उसका यह जन्म मात्र है।

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साजरामरा।।[२]

वेद को विधिवत जानने वाला आचार्य इसको विधिपूर्वक जो सावित्री विद्या से जन्म देता है, वही जाति सत्य, अजर और अमर है।

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः।
तमपीह गुरुं विद्याश्रुतोपक्रियया तया।।[३]

श्रुति का- वेद का थोड़ा या बहुत अध्यापन कर, जो उपकार करता है, उस श्रुति-वेद को पढ़ाने से उसको भी इस संसार में गुरु समझना चाहिए।

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता।
बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः।।[४]

ज्ञानोत्पादन के लिए दीक्षा जन्म कर्ता और स्वधर्म की शिक्षा देने वाला ज्ञानी बालक भी क्यों न हो वृद्ध का पिता होता है।

मीमांसा– माता-पिता से तो मात्र जन्म दिया जाता है, वह मनुष्य मात्र का सामान्य है। किन्तु आचार्य अपनी शिक्षा से ब्रह्मचारी में, शिक्षार्थी में जो कर्म करने की योग्यता रूप जाति को जन्म देता है, वह नित्य होती है, वह अजर-अमर होती है। थोड़ा ज्ञान देने वाले को भी गुरु समझना चाहिए। ज्ञान देने वाला ज्ञानी बालक होने पर भी ज्ञान लेने वाले वृद्ध का गुरु होता है।

---

१. मनु २/१४७। २. मनु २/१४८।
३. मनु २/१४९। ४. मनु २/१५०।

किसी भी वर्ण की आजीविका हेतु अवलम्बन करने वाले किसी भी व्यक्ति की संतान जब ज्ञानार्जन के लिए ब्रह्मकुल में प्रवेश करती थी, तब उस समय उन सभी ब्रह्मचारियों-शिक्षार्थियों का वर्ण ब्राह्मण ही कहा जाता था। उनके माता-पिता ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि वर्णों में से किसी भी वर्ण के क्यों न हों, किन्तु ब्रह्मकुल में ज्ञानार्जन की अवधि पर्यन्त प्रत्येक ब्रह्मचारी का वर्ण ब्राह्मण ही कहा जाता था। यह तथ्य ब्राह्मण ग्रन्थों में ही स्पष्ट है—

''स ह दीक्षमाण एव ब्राह्मणतामभ्युपैति।[१]''

निश्चय ही वह शिक्षा प्राप्त करने का इच्छुक शिक्षार्थी, ब्रह्मकुल में शिक्षा के लिए प्रवेश पाते ही, दीक्षित होते ही, ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो जाता था।

''तस्मादपि दीक्षितं राजन्यं वा वैश्यं वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयाद् ब्रह्मणो हि जायते यो यज्ञाज्जायते।[२]''

इसलिए भी शिक्षा के लिए दीक्षित हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र को ब्राह्मण ही कहना चाहिए, क्योंकि जो ज्ञानार्जन रूप सत्कर्म से उत्पन्न होता है, वह ब्रह्म ही होता है। वह ज्ञान ही होता है।

''य उ वै कश्च यजते ब्रह्मणी भूयेवैव यजते।[३]''

जो कोई भी ज्ञानार्जन रूप सत्कर्म करता है, वह ब्राह्मण होके ही यह कर्म करता है।

इस प्रकार से ब्राह्मण अर्थात् ज्ञानी या शिक्षक के महत्व को दर्शाने के लिए श्रुति कहती है-

''अग्ने महाँ असि ब्राह्मण भारत।[४]''

हे भारत! ब्राह्मण अर्थात् आचार्य अग्नि के समान महान है। अर्थात् जिस प्रकार अग्नि अपने सम्पर्क में आने वाले को अग्नि ही बनाता है, उसी प्रकार ज्ञानी आचार्य भी अपने सम्पर्क में आने वाले ब्रह्मचारियों-शिक्षार्थियों को अपने समान ही ज्ञान सम्पन्न बनाता है।

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण ७/२३। २. शतपथ ३/२/१/४०।
३. शतपथ १३/४/१/३।
४. कौ.ब्रा. ३/२, शतपथ १/४/३/२, तैत्तिरीय ३/५/३/१ ।

यहाँ यह बताना भी समुचित है कि, प्राचीनतम वैदिक काल से वर्तमान तक आचार्य शब्द समान रूप से ब्राह्मण, गुरु, शिक्षक, अध्यापक इन शब्दों के लिए प्रयुक्त होता चला आ रहा है। जो सभी प्रकार के रूढ़ियों से बचा हुआ है।

इस ज्ञानार्जन के प्रसंग में ब्राह्मण-आचार्य का जैसा निर्देश हो सभी को उसके अनुसार ही आचरण करना चाहिए। ब्रह्मकुल की सर्वलोक हितकारी व्यवस्था की रक्षा के लिए। इसी तथ्य को श्रुति इस प्रकार कहती है—

''तस्माद्ब्राह्मणं प्रथमं यन्तमितरे त्रयो वर्णाः पश्चादनुयन्ति।''

इसलिए ब्रह्मकुल-विद्यालय-विश्वविद्यालय में आगे ब्राह्मण अर्थात् आचार्य चलता है, और शेष तीनों वर्ण उसका अनुसरण करते हुए उसके पीछे-पीछे चलते हैं।

मीमांसा– शिक्षा के क्षेत्र में विद्वान शिक्षकों, आचार्यों के निर्देशानुसार ही प्रशासनिक, छात्रावासीय भोजन आदि एवं शिक्षण के लिए अपेक्षित भवनादि की शिल्पात्मक व्यवस्था की जानी चाहिए। क्योंकि शिक्षालयों के लिए अपेक्षित सभी शिक्षानुकूल आवश्यकताओं की समुचित जानकारी आचार्य को, शिक्षक को ही होती है। इसलिए वहाँ उसी के निर्देशकत्व में सभी कार्य सम्पन्न होने चाहिए। इसी तथ्य को श्रुति ने यहाँ स्पष्ट किया है। शिक्षा के लिए ही आचार्य की प्रमुखता है। जिस प्रकार से ज्ञानार्जन में ब्राह्मण का प्रामुख्य है, उसी प्रकार प्रशासन के कार्य में क्षत्रिय का प्रामुख्य है। जैसा कि श्रुति स्वयं स्पष्ट करती है—

''तस्मात्क्षत्रियं प्रथमं यन्तमितरे त्रयो वर्णाः पश्चादनुयन्ति।[१]''

इसलिए क्षत्रिय-प्रशासक-प्रशासनिक अधिकारी, प्रशासन के कार्यों में आगे चलता है, और शेष तीनों वर्ण उसका अनुसरण करते हुए उसके पीछे-पीछे चलते हैं।

मीमांसा– चूँकि राष्ट्रीय नियमों का पालन कराने में, राष्ट्र की सुरक्षा में, क्षत्रिय अर्थात् राजा, प्रशासनिक अधिकारी, न्यायाधीश और सेना का ही महत्व है। इसलिए इन प्रशासनिक कार्यों के लिए अपेक्षित संविधान

१. शतपथ ६/४/४/१३।

आदि के निर्माण एवं उनका अनुपालन कराने में ये क्षत्रिय जैसा निर्णय लें शेष ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र को उन्ही का अनुसरण करना चाहिए। इसी तथ्य को श्रुति यहाँ स्पष्ट कर रही है, कि इन कार्यों में क्षत्रिय आगे चलेगा और अन्य तीनों वर्ण उसका अनुसरण करेंगे। इतना ही नहीं प्रजापालन में तत्पर क्षत्रिय के महत्व को दर्शाती हुई श्रुति कहती है—

''क्षत्रियमजनि विश्वस्य भूतस्याधिपपतिरजनि विशामत्ताजन्यमित्राणां हन्ताजनि ब्राह्मणानां गोप्ताजनीति।[१]''

क्षत्रिय पैदा हुआ है, संसार के सारे प्राणियों का अधिपति पैदा हुआ है, किसानों का अन्नदाता पैदा हुआ है, मानवता के शत्रुओं को मारने वाला पैदा हुआ है, ज्ञानियों का रक्षा करने वाला पैदा हुआ है।

मीमांसा- यहाँ हृदय प्रधान, संवेदना प्रधान, प्रजा के रक्षण में तत्पर क्षत्रिय की इन भावनाओं की उत्पत्ति जो ब्रह्मकुल में प्रशासनिक धर्म की शिक्षा से उत्पन्न हुई है, ऐसे प्रशासनिक कार्य के लिए योग्यता में स्नातक हुए क्षत्रिय उपाधि सम्पन्न स्नातक की महत्ता को श्रुति ने यहाँ दर्शाया है। ब्रह्मकुल से रक्षण धर्म की योग्यता से सम्पन्न, ब्रह्मकुल द्वारा रक्षण धर्म की योग्यता से समाज के लिए जन्माये गये इस प्रशासनिक अधिकारी अर्थात् क्षत्रिय की महत्ता को दर्शाती हुई श्रुति कहती है कि, यह ब्रह्मकुल से क्षत्रिय धर्म की शिक्षा से सम्पन्न होकर निकला प्रशासनिक अधिकारी, न्यायाधीश आदि, जिन्हें श्रुति के शब्दों में क्षत्रिय कहा गया है, उनसे अपेक्षा की गयी है कि यह संसार के सारे प्राणियों को अन्याय से मुक्त कर न्याय दिलायेगा अपनी समुचित व्यवस्था से किसानो से अधिकाधिक अन्नोत्पादन कराकर राष्ट्र को सम्पन्न बनायेगा, राष्ट्र के शत्रुओं को समाप्त करेगा। और ज्ञानियों की रक्षा करेगा। **''विशाम् अत्ता अजनि''** कृषि वाणिज्य आदि कार्यों में लगे हुए जनसामान्य से राष्ट्रहित में किञ्चित् कर लेकर उसे व्यवस्थित रूप में राष्ट्र हित में शिक्षक, सैनिक और राज्य कर्मचारियों को आजीविका देने को ही यहाँ राजा को **''विशाम् अत्ता अजनि''** लिखा गया है।

राष्ट्र की व्यवस्था संचालन में अपने को पूर्ण समर्पित कर देने वाले क्षत्रिय-राजा, न्यायाधीश एवं प्रशासनिक अधिकारी का, अन्य सभी वर्णों

१. ऐतरेय ८/१७।

का अवलम्बन करने वाले लोग पूर्ण सम्मान करते थे। इसी तथ्य को श्रुति इस प्रकार स्पष्ट करती है—

''तस्मादु क्षत्रियमायान्तमिमाः प्रजाः विशः प्रत्यवरोहन्ति त मधस्तादुपास्ते।[१]''

इसलिए ही राजा, न्यायाधीश और प्रशासनिक अधिकारियों को आता हुआ देखकर ये प्रजाजन अपने आसन से निम्न स्थान में उतर आते हैं, और नीचे से ही उनकी उपासना करते हैं। वर्तमान में भी उच्च एवं सर्वोच्च न्यायालयों में यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि, न्यायाधीश के आने पर लोग उनका सम्मान करने के लिए, अभिवादन करने के लिए उठकर खड़े होते हैं, और उनके बैठने के बाद उनसे निम्न स्थान में लगी हुई कुर्सियों पर बैठते हैं, और फिर क्रमशः अपने क्रम पर उनके सामने नीचे खड़े होकर अपना निवेदन करते हैं। यही उस न्यायपीठ की एवं शासनाध्यक्ष की उपासना है। इसी तथ्य को श्रुति ने यहाँ स्पष्ट किया है। इतना ही नहीं न्याय, नैतिकता, प्रजा के पालन में संलग्नता और राष्ट्र के रक्षण के लिए अपना जीवन समर्पित कर देने को तत्पर, उक्त क्षत्रिय की महत्ता का श्रुति इस प्रकार से प्रतिपादन करती है—

''अपरिमितो वै क्षत्रियः[२]''

राष्ट्र और प्रजा की रक्षा के लिए समर्पित राष्ट्राध्यक्ष, प्रशासनिक अधिकारी, न्यायाधीश आदि, अर्थात् क्षत्रिय की महत्ता अपरिमित-असीमित है।

मीमांसा– जैसे शिक्षा-व्यवस्था में ब्राह्मण का महत्व बताया, उसी प्रकार राष्ट्र-रक्षण की प्रशासनिक व्यवस्था में क्षत्रिय का महत्व बताया। यहाँ कार्य की प्रधानता से ही उनका महत्व बताया गया है, उनके कार्यों के संपादन में ही उनका अनुसरण करना चाहिए। तथ्य यह है कि अलग-अलग कार्यों की शिक्षा देने वाला, उन-उन कार्यों का आचार्य या ब्राह्मण या शिक्षक या पंडित कहा जाता है। इसलिए हमेशा उसने अपने कार्य के सम्बन्ध में अपने गुरु अर्थात् उस विषय के पंडित से जिस प्रकार शिक्षा पायी है, उसी का अनुसरण करना चाहिए। और अपने कर्म में नैतिकता व

---

१. शतपथ ३/९/३/७ । २. ऐतरेय ८/१/२।

सच्चाई के लिए प्रशासनिक नियमों का पालन करना चाहिए। यही तथ्य यहाँ ब्राह्मण और क्षत्रिय के अनुसरण क्रम में स्पष्ट किया गया है।

१७- शिक्षा ही जीवन के आरम्भ से जीवन के चरमोत्कर्ष तक ले जाती है

वास्तव में प्राचीन वैदिक काल में सभी वर्णों के रूप में निर्धारित अलग-अलग हर प्रकार के कार्यों की शिक्षा ब्रह्मकुल में दी जाती थी। और हर प्रकार के कार्यों की शिक्षा देने वाला शिक्षक ब्राह्मण कहा जाता था। चाहे वह प्रशासनिक शिक्षा हो, कृषि-वाणिज्य-परक शिक्षा हो, श्रम-शिल्प विषयक शिक्षा हो अथवा शिक्षा देने की ही शिक्षा हो। शिक्षा ही सभी कर्मों में विकसित होगी, अथवा यह कहा जाय कि वर्णात्मक जीवन ब्रह्मचर्य आश्रम में प्राप्त शिक्षा का गृहस्थ आश्रम प्रयोगात्मक रूप था।

ऊपर त्रिवृत् आदि स्तोमों में वर्णित वर्णों के स्वत्व जागरण में त्रिवृत् जो मूलतः शिक्षा एवं शिक्षक के स्तोम रूप में वर्णित है उसकी अपेक्षा अन्य वर्णों के लिए वर्णित स्तोमों की संख्या क्रमशः बढ़ती हुई दिखाई देती है, वहाँ तथ्यों को ठीक से न समझने के कारण शिक्षा के महत्व को कोई कमतर न समझ ले, इस तथ्य को श्रुति इस प्रकार स्पष्ट करती है—

''यो वै स्तोमानामवमं परमतां गच्छन्तं वेद परमतामेव गच्छति। त्रिवृद्वै स्तोमानामवमं त्रिवृत् परमो य एवं वेद परमतामेव गच्छति।।[1]

जो स्तोमों में अवम-छोटे स्तोम को परम-महानतम की ओर जाता हुआ देखता है, वह उस परम को प्राप्त लेता है। शिक्षा ही स्तोमों का अवम त्रिवृत् स्तोम है, और यह त्रिवृत् शिक्षा ही स्तोमों का परम भी है। जो इस रहस्य को जानता है वह परम को प्राप्त कर लेता है।

मीमांसा– यह त्रिवृत् शिक्षा शिशु को माँ के शिक्षा देने से प्रारम्भ होकर आचार्य से प्राप्त होने वाली, उच्च शिक्षा से होती हुई, विविध वर्णात्मक कर्मों में बढ़ती हुई, आध्यात्मिक ज्ञान तक जाती है। यह त्रिवृत् स्तोम रूप शिक्षा ही, शिक्षण विषय की शिक्षा की पूर्णता के साथ, शिक्षक-आचार्य-ब्राह्मण वर्णात्मक जीवन में त्रिवृत् स्तोम में परिणत होती है। वही

---
१. तै.सं.७/१/२।

प्रशासन विषयिकी शिक्षा की पूर्णता के साथ क्षत्रिय वर्णात्मक जीवन में पञ्चदश स्तोम में परिणत होती है। कृषि एवं वाणिज्य कार्यों की शिक्षा ही कृषक एवं वाणिज्य जीवन में व्यवहृत होकर सप्तदश स्तोम अष्टादश स्तोम बनती है। और इसी प्रकार श्रम और शिल्प हेतु प्राप्त शिक्षा ही उन-उन शिल्पों के लिए व्यवहृत होती हुई एकविंश स्तोम रूप हो जाती है। इस प्रकार यह त्रिवृत् स्तोम रूप शिक्षा ही शिक्षण जीवन में ही उतरने वाले शिक्षक के लिए त्रिवृत् स्तोम, क्षत्रिय की पञ्चदश स्तोम, वैश्य के सप्तदश स्तोम और शूद्र के एकविंश स्तोम के रूप में परिणत होती रहती है। न केवल इतना ही यह निरन्तर गतिमान शिक्षा ही आध्यात्मिक जीवन के चरम स्वरूप का बोध कराने वाली होती है। इसी तथ्य को श्रुति ने स्पष्ट किया कि माँ से शिक्षा के रूप में प्रारम्भ हुआ त्रिवृत् स्तोम रूप स्तोमों का अवम ही सभी वर्णों के चरमोत्कर्ष पर ले जाता हुआ जीवन के चरम लक्ष्य परमात्मा तक पहुँचाता है। इसलिए श्रुति ने कहा कि शिक्षा ही स्तोमों का अवम है। और शिक्षा ही स्तोमों का परम है। जो इस रहस्य को जानते हैं, वे निरन्तर ज्ञानार्जन में लगे हुए जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं।

१८-सभी वर्णों का परम कर्तव्य धर्माचरण

ऋषियों ज्ञानियों ने राष्ट्र के उत्कर्ष के लिए, और सबको आजीविका प्रदान करने के लिए, वर्ण-विभागात्मक कर्म करने की व्यवस्था की। परन्तु किसी भी कर्म की सफलता के लिए सदाचरण और धर्माचरण परम आवश्यक होते हैं। धर्मात्मक स्वानुशासन ही उत्कृष्ट जीवन का मूल है। स्वानुशासन के बिना वाह्य शासन के द्वारा किसी भी व्यक्ति की सामर्थ्य का पूर्ण सदुपयोग नहीं हो सकता। धर्मात्मक स्वानुशासन के द्वारा ही कर्म में भावना उल्लसित होती है। बिना इस धर्म भावना के उदित हुए राष्ट्र वैभव-सम्पन्न नहीं हो सकता। इसी तथ्य को श्रुति निम्नलिखित रूप में व्यक्त करती है—

''स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं, तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मः। तस्माद् धर्मात्परं नास्ति। अथो अवलीयान्बलीयाँ समाशँसते धर्मेण यथा राज्ञैवम्। यो वै स धर्मः सत्यं वैतत्। तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति

धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीति। एतद्धयेवैतदुभयं भवति।[१]''

ब्रह्म के द्वारा अर्थात् ज्ञान निर्मित, चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के द्वारा, सत्कर्मों के सम्पादन की सुव्यवस्था की जाने के बाद भी, **स नैव व्यभवत्-** वह समाज ज्ञानी ऋषियों के द्वारा ज्ञानपूर्वक सुचिन्तित अपेक्षित वैभव को नहीं प्राप्त कर सका। **तत्च्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मम्** - तब उन ऋषियों ने अपने अनुभूत ज्ञान के द्वारा सबके कल्याण के लिए अत्यन्त श्रेष्ठ कल्याणप्रद स्वरूप धर्म का अतिशयता से सृजन किया।

मीमांसा- यद्यपि लोक कल्याण के लिए कल्याणप्रद स्वरूप क्षत्र का सृजन किया गया था। तो भी राष्ट्र के नियमों से युक्त राजा एवं राष्ट्ररक्षक क्षत्रिय सर्वदा सबके साथ रक्षा करने के लिए नहीं रह सकता । और शासन से प्राप्त अधिकारों के अहंकार से निरंकुश भी हो सकता है। इसलिए जो सबके लिए सर्वदा साथ रहे, और लोगों की चेतना में निवास करे, ऐसे सबके लिए अत्यन्त कल्याणकारी धर्म की अतिशयता से रचना की गई।

तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मः– वह यह धर्म क्षत्रिय का क्षत्रिय है, रक्षक का रक्षक है, पालक का पालक है, शासक का शासक है, क्योंकि यह धर्म सबमें, सब जगह, सर्वदा आत्मभूत होकर रहता है।

तस्माद् धर्मात्परं नास्ति– इसलिए धर्म से श्रेष्ठ, धर्म से महान कुछ भी नहीं है।

अथो अवलीयान्बलीयाँ समाशँसते धर्मेण यथा राज्ञैवम्– इस धर्म के द्वारा जो बलवान् नहीं है, असक्त है, वह अपने को बलवान्-सशक्त अनुभव करता है, इस धर्म बल के द्वारा, आत्मबल के द्वारा। जैसे कोई राजा के सम्पर्क में रहने वाला अशक्त भी अपने को सशक्त समझता है।

यो वै स धर्मः सत्यं वैतत्– निश्चय ही जो यह धर्म है, वह अपने कर्म के प्रति, अपने राष्ट्र के प्रति सत्य का आचरण ही है। कर्म में सत्याचरण, घर में सत्याचरण, नीति में सत्याचरण, जीवन में सत्याचरण, वह धर्म ही है।

तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति– इसलिए सत्य बोलने वाले को कहते हैं कि, ''धर्म बोलता है।''

---

१. शतपथब्राह्मण १४/४/२/२६, बृह.१/४/१४ ।

धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीति– धर्म बोलने वाले को कहते हैं कि, ''सत्य बोलता है।''

एतद्ध्येवैतदुभयं भवति– निश्चय ही यह धर्म ही, धर्म और सत्य दोनों होता है।

इस तथ्य को श्रुति आगे और स्पष्ट करती है—

''**तदेतद्ब्रह्म क्षत्रं विट्शूद्रः। तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद्। ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रस्तस्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते ब्राह्मणे मनुष्येषु। एताभ्यां हि रूपाभ्यां ब्रह्माभवत्। अथ यो ह वा असमाल्लोकात्स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति स एनमविदितो न भुनक्ति। यथा वेदो वाननुक्तोऽन्यद्वा कर्माकृतं यदिह वा अप्यनेवंविन्महत्पुण्यं कर्म करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयते एव। आत्मानमेवलोकमुपासीत स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते। अस्माद्ध्येवात्मनो यद्यत्कामयते तत्सृजते।**[१]''

तदेतद्ब्रह्म क्षत्रं विट्शूद्रः– वैसे ये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चार वर्ण हैं। **तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद्–** अग्नि के द्वारा ही द्योतमान प्राकृतिक पदार्थों का ज्ञानात्मक प्रकाश होता है।

मीमांसा- सूर्य भी अग्निमय होने से ही प्रकाशमान है। अग्नि के इस प्रकाश के द्वारा ही सभी प्राकृतिक वस्तुओं का ज्ञान होता है। दिन में सूर्य के प्रकाश से और इसी प्रकार रात्रि में अग्नि के विविध रूपों के प्रकाश से ही विविध वस्तुओं का प्रकाशात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक प्रकाश होता है।

जिस प्रकार अग्नि से यह सब पदार्थ द्योतित होते हैं, अर्थात् प्राकृतिक पदार्थों के ज्ञान में जो स्थान अग्नि का है वही स्थान **ब्राह्मणो मनुष्येषु-** मनुष्यों में ज्ञानी आचार्य ब्राह्मण का है।

मीमांसा- अर्थात् जिस प्रकार अग्नि से प्राकृतिक पदार्थ द्योतित होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मकुल, ब्राह्मण, ब्रह्मचारी और ब्रह्मचर्या रूप में ब्राह्मण अर्थात् आचार्य से सभी मनुष्य ज्ञानात्मक प्रकाश प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार अग्नि सभी पदार्थों को अग्नि ही बनाता है, उसी प्रकार आचार्य अर्थात् ज्ञानी ब्राह्मण भी सभी मनुष्यों को ज्ञानवान् ब्राह्मण ही अर्थात् ज्ञानी ही

१. शतपथ ब्रा.१४/४/२/२७, बृ.उ. १/४/१५।

बनाता है। इसी ज्ञान के द्वारा सभी मनुष्य अपने-अपने कर्म में दक्ष होते हैं। ज्ञानी ब्राह्मण, ज्ञानेच्छुक मनुष्यों को, ब्रह्मचारियों को ज्ञान देने के सदाचरण का जीवन जीकर ब्राह्मण वर्ण जीवित होता है।

क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रः – उसी प्रकार रक्षण, प्रशासन व पालन कर्म के ज्ञान को अपने जीवन में जीकर क्षत्रिय वर्ण जीवित होता है। कृषि एवं वाणिज्य के द्वारा उत्पादन एवं संचार के कर्ममय ज्ञान को जीवन में उतार कर वैश्य वर्ण जीवित होता है। श्रम शिल्प के ज्ञानात्मक कर्म को जीवन में उतार कर श्रम शिल्पात्मक जीवन जीने से शूद्र वर्ण जीवित होता है।

तस्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते ब्राह्मणे मनुष्येषु– इसलिए अग्नि के प्रकाश से ही लोग वस्तुओं को जानने की इच्छा करते हैं, जानते हैं। उसी प्रकार लोग आचार्य, ब्राह्मण से मनुष्यों में ज्ञान के प्रकाश की इच्छा करते हैं।

एताभ्यां हि रूपाभ्यां ब्रह्माभवत– इन दोनों रूपों के द्वारा ही ब्रह्म हुआ, ज्ञान हुआ।

मीमांसा– अग्नि के प्रकाश के द्वारा बाह्य वस्तुओं का ज्ञान और आचार्य के ज्ञान प्रकाश से समाज की सम्यक् शिक्षा व्यवस्था से व्यवहारिक जीवन के ज्ञान के साथ वैज्ञानिक और आध्यात्मिक ज्ञान। इस प्रकार ज्ञान प्रकाश के यह अग्नि और आचार्य दो रूप हैं।

अथ यो ह वा अस्माल्लोकात्स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति स एनमविदितो न भुनक्ति– इस प्रकार वर्ण कर्म का ज्ञान होने पर भी, जो मनुष्य इस लोक से स्वलोक-आत्मलोक को बिना देखे हुए ही, चला जाता है, स्वस्वरूप को बिना जाने ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, वह इस आत्मलोक का ज्ञान न पाकर जीवन का वास्तविक आनन्द नहीं प्राप्त कर पाता।

यथा वेदो वाननुक्तोऽन्यद्वा कर्माकृतं यदिह वा अप्यनेवंविन्महत्पुण्यं कर्म करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयते एव – जिस प्रकार वेद को बिना पढ़े, वेद की पुस्तक रखने मात्र से कोई वेद का ज्ञान नहीं कर पाता अथवा जिसने जो कर्म नहीं किया है, उस बिना किये हुए कर्म का ज्ञान एवं फल अन्य कर्म के करने से, या पुस्तक ज्ञान से नहीं पा सकता। इस प्रकार यहाँ

इस लोक में, अपने कर्मों को करता हुआ भी, जो आत्मानुसंधान नहीं करता, अपने स्वस्वरूप को नहीं जानता, वह कोई भी अपने कर्मों में निपुण होने पर भी, पुण्यात्मक महान कार्यों को करने पर भी, जीवन के चरम लक्ष्य को नहीं प्राप्त कर पाता, उसका किया हुआ कर्म क्षीण हो जाता है आत्मज्ञान के अभाव के कारण।

मीमांसा- श्रुति यहाँ स्पष्ट कर रही है कि लौकिक जीवन के कर्म लोक में आजीविका प्रदान करने वाले हैं। अपने उस कर्म को जिसे उसने अपनी रुचि के अनुसार अध्ययन कर वरण किया है, अपनी जीविका का आधार बनाया है, उसे पूरी निष्ठा से तो करना ही चाहिए। वह कर्म चाहे ब्राह्मण वर्ण का हो, चाहे क्षत्रिय वर्ण का हो, चाहे वैश्य वर्ण का हो, चाहे शूद्र वर्ण का हो अथवा वह अन्य कोई भी कर्म हो, उसे पूरी निष्ठा के साथ करते हुए जीवन के परम लक्ष्य आत्मज्ञान के लिए निरन्तर प्रयास करते रहना चाहिए, क्योंकि इस जीवन की पूर्ण सफलता इसी से है। आत्मज्ञान के अभाव में जीवन के अन्य सभी कर्म, जीवन के लक्ष्य से क्षीण होते हैं, जीवन के परम लक्ष्य को देने में अक्षम होते हैं। क्योंकि सभी आजीविका कर्म शरीर के साथ ही अन्ततः समाप्त हो जाते हैं। चाहे वो कितने भी पुण्य कर्म ही क्यों न हों, आत्मज्ञान के अभाव में अन्ततः क्षीण होते हैं।

आत्मानमेवलोकमुपासीत– इसलिए अपने आजीविका कर्मों को करते हुए आत्मलोक की ही उपासना करनी चाहिए।

स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते– वह जो अपने आजीविका कर्मों को करता हुआ आत्मलोक की ही उपासना करता है।

न हास्य कर्म क्षीयते– उसके यह कर्म कभी क्षीण नहीं होते। वह उस आत्मलोक को, परमात्मलोक को प्राप्त कर लेता है।

अस्माद्ध्येवात्मनो यद्यत्कामयते तत्तत्सृजते– इस आत्मा के द्वारा ही वह जो-जो चाहता है वह-वह कर लेता है।

मीमांसा- इसलिए सभी वर्ण के लोगों को, अपने-अपने दायित्व पूर्ण वर्ण विभागात्मक कर्मों को करते हुए, स्वात्मानुसंधान करते हुए, आत्मस्वरूप को जानना चाहिए। जो आत्मस्वरूप को जानता है, जो स्वरूप में जागृत है, उसके लिए आनन्दित होते हुए श्रुति कहती है कि, उसका यह कर्म क्षीण

नहीं होता है, अर्थात् वह जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। इस आत्मानुसंधानपूर्वक परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर जो जो चाहता है, वह वह प्राप्त कर लेता है। क्योंकि परमात्मा में ही सर्वसृजन का सामर्थ्य है, परमात्मा से ही सब कुछ सृष्ट है।

मूलत: अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेने वाले को ही वेद विप्र कहते हैं। स्वरूप की उपलब्धि ध्यान करते हुए प्राप्त कर लेने पर कोई भी मनुष्य विप्र होता है। जैसा कि वेद के इस मंत्र में स्पष्ट कहा गया है—

"उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्। धिया विप्रोऽजायत।[१]**"**

उपह्वरे गिरीणां– गिरियों-पर्वतों के उपह्वर-टेढ़े-मेढ़े मार्गों में, **सङ्गमे च नदीनाम्–** और नदियों के संगम पर, **धिया विप्रोऽजायत–** ध्यान करते हुए मनुष्य में विप्र जन्मा अर्थात् ध्यानपूर्वक आत्मानुसंधान करने वाले व्यक्ति में स्वस्वरूप का बोध होने पर, परमात्मस्वरूप का ज्ञान होने पर व्यक्ति विप्र हो जाता है। यद्यपि सर्वत्र स्वस्वरूप में जागरण के द्वारा ही आत्मबोध होता है, तो भी श्रुति ने सुलभता से आत्मानुसंधान के लिए, पहाड़ों में, नदियों के संगम पर, आत्मानुसंधान करने को उपयुक्त माना है।

---

१. यजु.मा.सं.२६/१५।

तृतीय अध्याय
कर्म वरण विभाग समग्र
भारत के सभी वर्णों का वेद में मूल स्वरूप

यजुर्वेद के तीसवें अध्याय में वर्णित सम्पूर्ण कर्मों के योग्यता अनुसार वरण करने का वर्ण विभाग इस अध्याय में स्पष्ट किया जायेगा। जैसा कि पिछले अध्याय में ही स्पष्ट किया गया है कि, यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता के तीसवें अध्याय में सभी प्रकार के कर्मों के करने के लिए योग्यता अनुसार कर्म विभाग किया गया है। प्रारम्भ के चार मंत्रों में परमात्मा से सत्कर्मों में प्रेरणा करने की प्रार्थना की गयी है और योग्यता अनुसार कर्म की व्यवस्था करने वाले ऋषियों की भी वंदना की गयी है। और पाँचवें मंत्र से कर्म वर्ण विभाग का वर्णन शुरू किया गया है जो अध्याय की समाप्ति तक जाता है। पिछले अध्याय में मुख्य चार वर्णों का विस्तार से वर्णन किया गया है। चूँकि कर्मों का विस्तार बहुत बृहद् है उन्हें केवल चार वर्णों में ही पूर्णतया सीमित नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त मुख्य चार वर्णों के कर्म में जहाँ एक विशेष प्रकार के कर्म की प्रमुखता होती है वहीं अन्य कर्मों के जानकार कर्मकर्ताओं की आवश्यकता होती है। इसलिए सम्पूर्ण अध्याय में इस तथ्य की सम्यक् विवेचना आवश्यक है। अत: पाँचवें मंत्र से सम्पूर्ण कर्म विभाग की व्यवस्था को यहाँ स्पष्ट किया जा रहा है। वह इस प्रकार है—

१ - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, तस्कर, वीरहन या वीरन, क्लीब, क्रय अधिकारी, विवाह वरण या सवर्ण विवाह, और मागध।

ब्रह्मणे ब्राह्मणं, क्षत्राय राजन्यं, मरुद्भयो वैश्यं, तपसे शूद्रम्, तमसे तस्करं, नारकाय वीरहणं, पाप्मने क्लीबमाक्रयाया अयोगूं, कामाय पुँश्चलूमतिक्रुष्टाय मागधम्।।५।।

१. ब्रह्मणे ब्राह्मणम्

ब्रह्मणे-ज्ञान के लिए **ब्राह्मणम्**-ज्ञानी को **आलभते** भलीभाँति प्राप्त किया जाता है। अर्थात् समाज की शिक्षण-व्यवस्था में संयुक्त किया जाता है।

मीमांसा-यहाँ से प्रारम्भ कर २२वें मंत्र की समाप्तिपर्यन्त वर्णव्यवस्था का विषय स्पष्ट किया गया है। उस २२वें मंत्र में **आलभते** शब्द आया है। इसलिए इस वर्णव्यवस्था प्रक्रिया के व्याख्यान में सर्वत्र **आलभते** शब्द जुड़ जायेगा, और उसे जोड़कर ही व्याख्या होगी। आगे सर्वत्र इसे इसी रूप में जानें। इस मंत्र का विस्तृत व्याख्यान पिछले अध्याय में किया जा चुका है।

२. क्षत्राय राजन्यम्

क्षत्राय- रक्षा के लिए **राजन्यम्** – रक्षण कर्म में समर्थ राज्य में निष्ठा रखने वाले लोगों को **आलभते** सम्पूर्ण समाज से प्राप्त किया जाता है, अर्थात् समाज व्यवस्था में नियुक्त किया जाता है।

मीमांसा- इस मंत्र का विस्तृत व्याख्यान पिछले अध्याय में किया जा चुका है।

३. मरुद्भयो वैश्यम्

मरुद्भयः– सात-सात के सात गणों वाले मरुद् गणों के समान समाज में सभी वस्तुओं के उत्पादन एवं विपणन के लिए **वैश्यम्** – कृषि और वाणिज्य कर्म में दक्ष लोगों को **आलभते** सम्पूर्ण समाज से प्राप्त किया जाता है, अर्थात् समाज व्यवस्था में संयुक्त किया जाता है।

मीमांसा– इस मंत्र का विस्तृत व्याख्यान पिछले अध्याय में किया जा चुका है।

४. तपसे शूद्रम्

तपसे- श्रम से सिद्ध होने वाले विविध कार्यों के लिए **शूद्रम्** – उस उस प्रकार के श्रम करने में सक्षम श्रमिक तपस्वी लोगों को **आलभते** सम्पूर्ण समाज से प्राप्त किया जाता है। अर्थात् समाज-व्यवस्था में संयुक्त किया जाता है।

मीमांसा- इस मंत्र का विस्तृत व्याख्यान पिछले अध्याय में किया जा चुका है।

५. तमसे तस्करम्

तमसे– अंधकार के लिए, अर्थात् अंधकार में आवश्यक कार्यों को करने के लिए **तस्करम्**– उस-उस प्रकार के कार्य करने में सक्षम को **आलभते** सम्पूर्ण समाज से प्राप्त किया जाता है। अर्थात् समाज-व्यवस्था में संयुक्त किया जाता है।

६. नारकाय वीरहणम्

नारकाय–लोगों के लिए दुख लाने वाले अर्थात् लोगों का जीवन नरक तुल्य कष्टप्रद बना देने वाले दुष्टों को दण्डित करने के लिए **वीरहणम्** – दुष्ट किन्तु शक्तिशाली लोगों को मार डालने और प्रतिबन्धित करने में सक्षम व्यक्ति को **आलभते** सम्पूर्ण समाज से प्राप्त किया जाता है। अर्थात् समाज व्यवस्था में संयुक्त किया जाता है।

७. पाप्मने क्लीबम्

पाप्मने – समाज में पापपूर्ण मानसिकता वाले लोगों का पता लगाने के लिए **क्लीबम्** – प्रकृति से स्त्री या पुरुष न होकर नपुंसक पैदा हुए लोगों को **आलभते** सम्पूर्ण समाज से प्राप्त कर उन्हें प्रशिक्षित कर समाज व्यवस्था में लगाया जाता है।

मीमांसा- यहाँ श्रुति ने नपुंसकों की आजीविका का चिंतन करते हुए, उनका भी समाज की सुव्यवस्था में उपयोग करते हुए समाज में पापपूर्ण मानसिकता के लोगों का पता लगाने के लिए, समाज व्यवस्था में लगाने की बात कही है। हम सब जानते हैं कि नाचते-गाते-ताली बजाते नपुंसक लोग समाज में स्त्री-पुरुष सर्वत्र जाते हैं। और आसानी से लोगों की कलुषित-पाप-पूर्ण भावनाओं को समझ सकते हैं। उनके साथ हास-उपहास में भी बहुत-सी समाज से छिपाने वाली बातें पापपूर्ण मानसिकता वाले लोग कह देते हैं। और इस प्रकार आसानी से इस वर्ग के माध्यम से पापियों का पता लगाया जा सकता है। साथ ही ये हिजड़े राष्ट्रद्रोही शत्रुओं के यहाँ भी आसानी से घुसकर उनके यहाँ के तथ्यों को ज्ञात कर राष्ट्र को उनसे बचाव के लिए सचेत कर सकते हैं। इसलिए श्रुति ने उन्हें इस कार्य के लिए समाज-व्यवस्था में नियुक्त करने की बात कही है।

८. आक्रयायै अयोगूम्

आक्रयायै– सभी द्रव्यों के क्रय करने के लिए **अयोगूम्** – उन द्रव्यों के विषय में विशेष ज्ञान रखने वाले को **आलभते** सम्पूर्ण समाज से प्राप्त किया जाता है अर्थात् समाज व्यवस्था में संयुक्त किया जाता है।

९. कामाय पुंश्चलूम्

कामाय–''अधीतविद्यः अधीतकर्मणि दक्षः अविवाहितः स्त्रीसमागमयोग्यः गृहस्थजीवने प्रवेशार्थं संभोगेच्छया स्त्रीं कामयमानः युवा पुरुषः एव अत्र कामः तस्मै''– अध्ययन से विद्या-सम्पन्न, अधीत कर्म में दक्ष, गृहस्थ जीवन में प्रवेश के लिए सम्भोग की इच्छा से स्त्री की कामना करता हुआ, युवा योग्य पुरुष ही यहाँ काम है, ऐसे पुरुष के लिए **पुंश्चलूम् – ''अधीत विद्या अधीतकर्मणि दक्षा अविवाहिता पुरुषसंयोगयोग्य रतीच्छया पुरुषेण सह गृहस्थ जीवने संचलितुमिच्छन्ती युवा स्त्री एव अत्र पुंश्चली तां पुंश्चलूं''**– अध्ययन से विद्या सम्पन्न, अधीत कर्म में दक्ष, अविवाहित, पुरुष संयोग योग्य, रति की इच्छा से, पुरुष के साथ गृहस्थ जीवन में सम्यक् रूप से चलने की इच्छा करती हुई, युवा स्त्री ही यहाँ पुंश्चली है, ऐसी स्त्री को **आलभते** भली-भाँति गवेषणापूर्वक विवाह हेतु प्राप्त किया जाता है।

मीमांसा- यहाँ कामाय शब्द से भिन्न-भिन्न कार्यों का अध्ययन कर चुके, गृहस्थ जीवन में प्रवेश की इच्छा से, स्त्री की कामना से युक्त युवा योग्य पुरुष के लिए, उसी प्रकार से उस पुरुष के समान ही उसी प्रकार के कार्य की शिक्षा से सम्पन्न गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने की इच्छुक, पुरुष को चाहने वाली स्त्री को प्राप्त कर उससे ही विवाह करने की बात श्रुति द्वारा स्पष्ट की गयी है। यहाँ श्रुति ने कामाय शब्द से स्त्री की कामना वाले भिन्न-भिन्न कर्मों की योग्यता रखने वाले पुरुषों का ग्रहण किया है। और उसी प्रकार के कर्म में दक्ष स्त्री का विवाह ऐसे ही पुरुषों से करने की व्यवस्था दी है। उसका कारण यह है कि यदि स्त्री और पुरुष दोनों ही समान कर्मों के ज्ञाता होंगे, तो वे हर प्रकार से अपने इस आजीविका कर्म में एक दूसरे का सहयोग करते हुए, उस कर्म में अधिकाधिक उत्कर्ष करते हुए, अपने गृहस्थ जीवन को भी अत्यन्त सुखद बना सकेंगे। आगे उनकी

संतानें भी अपने माता-पिता के उन कर्मों को देखकर और उनसे शिक्षा प्राप्त कर स्वाभाविक रूप से योग्य-दक्ष होती रहेंगी। यह अत्यन्त सुन्दर व्यवस्था ही मूल वर्ण-व्यवस्था के स्वाभाविक रूप से जाति व्यवस्था में परिणत होने का रहस्य है।

इसी मूल मंत्र के आधार पर सवर्ण विवाह की परम्परा चल पड़ी। और फिर वह व्यवस्था ही, जैसे-जैसे वर्ण व्यवस्था से, जाति व्यवस्था कही जाने लगी, उसी क्रम से सवर्ण विवाह भी सजातीय विवाह कहा जाने लगा। समाज में इसे बड़े ही सम्मान के साथ स्वीकार किया गया। क्योंकि इसमें स्वाभाविक रूप से आजीविका आरक्षित हो गयी।

कालान्तर में समाज में प्रशासक और शिक्षक वर्ग ने अपने कर्म को श्रेष्ठ और दूसरों के कर्मों को हेय कहने का जो प्रारम्भ किया, वही इस व्यवस्था का सबसे खराब दुखद पहलू है। चूँकि समाज में स्वाभाविक रूप से प्रशासक एवं शिक्षक वर्ग ही न्याय और समाज व्यवस्था को सुदृढ़ करने वाला होता है, वहीं से समाज संचालित होता है, और वहीं पर लोभवश दूषण आने के कारण इस व्यवस्था में दोष पैदा होना शुरू हो गया। उसमें भी शिक्षक वर्ग ने जिसके ऊपर सभी तरह की शिक्षा देने का दायित्व था, उसने अपने को जन्मना श्रेष्ठ स्थापित करने के लिए, वैदिक काल के बहुत बाद के ग्रन्थों में, अपनी श्रेष्ठता से सम्बन्धित स्मृतियाँ लिखनी शुरू कर दीं। चूँकि अन्य कर्मों की भाँति शिक्षण कर्म बिना भलीभाँति शिक्षा प्राप्त किये, केवल जन्म के आधार पर, अपने माता-पिता के शिक्षित होने के आधार पर, नहीं चलाया जा सकता। शिक्षा देने के लिए स्वयं का शिक्षित होना नितांत आवश्यक है। इसलिए शिक्षक कर्म में लगे हुए शिक्षकों, अर्थात् वैदिक ब्राह्मणों ने, अपनी संतानों को शिक्षित करने के लिए, धन देने वालों को अत्यन्त पुण्य का भागी अपने द्वारा लिखी जा रही स्मृतियों में लिखा। फिर भी उनकी जो कुछ संतानें अयोग्य रह जा रही थीं, जिनकी बौद्धिक प्रतिभा उत्कृष्ट नहीं थी उनकी भी समाज में अच्छी स्थिति बनाये रखने के लिए, अपने द्वारा लिखी जा रही स्मृतियों में, ऐसे प्रसंग लिखे कि अयोग्य मूर्ख ब्राह्मण का लड़का भी अन्य कर्म करने वालों से पूज्य और श्रेष्ठ है। समाज के अन्य कर्म में लगे हुए लोगों

पर, ऐसे मूर्ख और अयोग्य लोगों की आजीविका चलाने, और सम्मान करने का दायित्व, अपने द्वारा लिखी जा रही स्मृतियों में लिखा। यद्यपि यह सभी कृत्य मूल वैदिक व्यवस्था के विरुद्ध थे, तो भी संतान-मोहग्रस्त इस वर्ग के बहुत से लोगों ने ऐसा पाप कर्म किया। पवित्र वैदिक व्यवस्था में दूषण फैलाने वाला यह सर्वाधिक दुखद स्वरूप है।

इस व्यवस्था का इससे भी अधिक दुखद पहलू यह है कि, ब्राह्मण कहे जाने वाले इस शिक्षक वर्ग ने अपने इस कार्य में उस समय के प्रशासक वर्ग, अर्थात् क्षत्रिय समुदाय का भी भरपूर सहयोग लिया। चूँकि समाज में प्रत्येक व्यक्ति की अपने शिक्षकों के प्रति श्रद्धापूर्ण सद्भावना होती है, इसलिए वह प्रशासक वर्ग भी अपनी उसी श्रद्धा के कारण इनका सहयोग करने लगा। आगे चलकर इस शिक्षक वर्ग ने प्रशासक वर्ग के लोगों में भी, अपनी अयोग्य संतानों के सम्मान और आजीविका का लोभ जगाकर, श्रमिक और शिल्पी वर्ग को शिक्षा से ही बहिस्कृत कर दिया। यह इस वर्ग द्वारा वैदिक व्यवस्था और समाज के प्रति किया जाने वाला सबसे बड़ा अपराध था। इसी अपराध के कारण समाज का सबसे बड़ा जन सामान्य वर्ग, शिक्षा से, वंचित होकर दलित और पिछड़ा हो गया। यद्यपि बहुत-से महापुरुषों ने जिनमें इस शिक्षक और प्रशासक वर्ग के महापुरुष भी बहुतायत में शामिल हैं, उन्होंने इस विकृत व्यवस्था का गम्भीरता से विरोध किया और सनातन वैदिक मूलधारा को, उसके वास्तविक रूप में स्थापित करने का, उत्कृष्ट प्रयास किया। इस प्रयास में भगवान बुद्ध और रामानन्दाचार्य का नाम अत्यन्त सम्मान से लेना उचित होगा। भगवान बुद्ध ने इसके परिष्कार के लिए धर्मचक्र प्रवर्तन किया और रामानन्दाचार्य के शिष्य रैदास, कबीर, धन्ना, नरसी आदि द्वारा किया गया प्रयास समाज में सर्वविदित है। यद्यपि बाद में भगवान बुद्ध के अनुयायियों में भी वहीं कमियाँ आ गयीं, वहाँ भी विकृत तांत्रिक प्रक्रियाएं शुरू हो गयीं और अधिकांश बौद्ध समुदाय चरित्रभ्रष्ट और मांसाहारी हो गया। उसी प्रकार रामानन्दाचार्य के बाद उनकी परम्परा के जन्मना जातिवादी तथाकथित ब्राह्मणों ने उनके नाम से आनन्द भाष्य आदि फर्जी भाष्य लिख डाले और रामानन्दाचार्य को घोर जातिवादी परम्परा में लाने का कुप्रयास किया।

१०. अतिक्रुष्टाय मागधम् –

अतिक्रुष्टाय– अत्यन्त श्रेष्ठ कार्य करने वाले महापुरुषों के लिए **मागधम्** – मागध शब्द दो धातुओं से मिलकर बना है, **''मा-माने, एवं गध-मिश्रणे''। माति गध्यति च इति मागधः**– जो प्रमाणपूर्वक तथ्यों को समझ सकता है, और उसे समाज के लायक बनाकर उसमें मिला सकता है, उसे मागध कहते हैं। इसीलिए यह शब्द इतिहास लेखक, विरुदावली गायक और वंशावली लेखकों के लिए कोशों में बताया गया है। अब इस प्रकार इस पूरे मंत्र का अर्थ हुआ कि, जो समाज में अत्यन्त श्रेष्ठ कार्य करने वाले महापुरुष हैं, अथवा पहले हुए हैं, उनका प्रमाणपूर्वक इतिहास लिख कर समाज को जगाने लायक बनाने के लिए इस प्रकार के योग्य मागधों को **आलभते** सम्पूर्ण समाज से प्राप्त कर समाज व्यवस्था में लगाया जाता है।

मीमांसा– यहाँ यह भी अर्थ अन्तर्निहित हैं कि, समाज को जागृत करने के लिए ऐसे महापुरुषों की विरुदावली अर्थात् महानता को गाने की व्यवस्था भी की गयी। साथ ही लोगों को अपने सम्मानित पूर्वजों की जानकारी के लिए वंशावली लेखन की परम्परा भी चलायी गयी। आज भी समाज में वंशावली लेखक, विविध स्थलों में, विविध तीर्थों में, विद्यमान हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि, लोगों का स्वाभिमान जगाने के लिए, अपने कुल के लोगों का स्मरण दिलाने के लिए, अतिप्राचीन वैदिक काल से ही वंशावली लेखन की परम्परा चली आ रही है जो आज भी आंशिक रूप से विविध तीर्थों में विद्यमान है।

२-सूत, शैलूष, सभाचर, भीमल, रेभ, कारी, स्त्रीसख, कुमार, रथकार और तक्षा अर्थात् बढ़ई।

नृत्ताय सूतं, गीताय शैलूषं, धर्माय सभाचरं, नरिष्ठायै भीमलं, नर्माय रेभं, हसाय कारिमानन्दाय स्त्रीषखं, प्रमदे कुमारीपुत्रं, मेधायै रथकारं धैर्याय तक्षाणम्।।६।।

११. नृत्ताय सूतम्

नृत्ताय– नृत्य के लिए **सूतम्–** नृत्य कला में निपुण नर्तक सूत्रधार को **आलभते** सम्पूर्ण समाज से प्राप्त कर समाज-व्यवस्था में संयुक्त किया जाता है।

१२. गीताय शैलूषम्

गीताय- अभिनययुक्त गान करने के लिए **शैलूषम्** – अभिनययुक्त गान कला में निपुण लोगों को **आलभते** समाज में सब जगह से प्राप्त कर समाज-व्यवस्था में संयुक्त किया जाता है।

मीमांसा– "शैलूष शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार होगी" **शिलूषस्य ऋषेः अपत्यम् शैलूषः** – जो शिलादि ऋषि के द्वारा कहे हुए नट सूत्रों को पढ़ाता है, उसे शैलूष कहते हैं। नृत्य कला के द्रष्टा ऋषि शिलूष की शिष्य परम्परा में उत्पन्न अर्थात् प्रशिक्षित गान विद्या के सहित नृत्य कला में निपुण लोगों को शैलूष कहा जाता है। अमरकोष द्वितीय काण्ड शूद्र वर्ग के श्लोक १२ में कहा गया है कि, "**शैलालिनस्तु शैलूषा जायाजीवाः कृशाश्विनः। भरताः इत्यपि नटाः चारणास्तु कुशीलवाः।।**" **जायाजीवाः** – जिनके घर की स्त्रियाँ भी नृत्य और गान से आजीविका प्राप्त करती हैं, उन्हें शैलूष कहा जाता है। **कृशाश्विनः** – कृशाश्व ऋषि के द्वारा कहे गये नट सूत्रों का जो अध्ययन करता है, उसे भी शैलूष कहते हैं। **भरताः इत्यपि नटाः** – भरत ऋषि के नाट्य शास्त्र का अध्ययन कर जो नृत्य कला में निपुण होते हैं, उन्हें भी शैलूष कहा जाता है। जो कीर्ति का गान करते हैं, उन्हें चारण और कुशीलव कहा जाता है।

यहाँ इस मंत्र से यह भी स्पष्ट हो गया है कि, नृत्य और गान कला को सीखकर उससे आजीविका कमाने वाले लोगों के लिए **शैलूष** शब्द का प्रयोग किया गया है। न कि वर्णसंकर या किसी क्षुद्र जाति के लिए।

१३. धर्माय सभाचरम्

धर्माय– प्रजा में सत्य-न्याय-नीति व सदाचरण रूप धर्म की स्थापना के लिए **सभाचरम् – सभायां नित्यं चरन्तम्** – सभा में नित्य चलने वाले **धर्मप्रवक्तारम्**- धर्म के प्रवक्ताओं को अर्थात् सभा में धर्मोपदेश देने में भलीभाँति सक्षम सभाचर को **आलभते** सब जगह से प्राप्त कर राष्ट्र व्यवस्था में संयुक्त किया जाता है।

मीमांसा- सभाचर शब्द-स्मृति ग्रन्थों में न्यायाधीश के लिए भी प्रयोग हुआ है। इस शब्द का न्यायाधीश अर्थ करने पर मंत्र का अर्थ होगा कि प्रजा

में सत्य, न्याय, नीति व सदाचरण रूप धर्म की स्थापना के लिए, न्यायिक पंचों की नियुक्ति की जानी चाहिए।

१४. नरिष्ठायै भीमलम्

नरिष्ठायै- मनुष्यों के अन्दर के सत्व की स्थिरिता के लिए, जन-जन में राष्ट्रीय निष्ठा जगाने के लिए **भीमलम्-** महान प्रतापी को **आलभते-** सम्पूर्ण समाज से चयन विधि से प्राप्त कर राष्ट्र व्यवस्था में संयुक्त किया जाता है।

मीमांसा- नरिष्ठा शब्द का अर्थ मनुष्यों में स्वाभिमान की स्थिरता है। स्थ, स्था व स्थान शब्द का अर्थ अवस्था, स्थिति, लोगों के अन्दर का स्थान है। साथ ही इन शब्दों का अर्थ देश, प्रान्त, पद, महत्व, इष्ट उद्देश्य, राष्ट्रीय बल, राष्ट्रीय तेज, देश का सत्व आदि भी है। नरि- का अर्थ मनुष्यों के अन्दर का सत्व है। भीमल का अर्थ महान प्रतापी है।

१५. नर्माय रेभम्

नर्माय– विनोद के लिए, लोगों को तनाव से मुक्त कर नर्म बनाने के लिए **रेभम्–** मन को गुदगुदाने वाले कथनों के निर्माण में मेधावी कलाकारों को, **आलभते** सम्पूर्ण समाज से प्राप्त कर समाज-व्यवस्था में संयुक्त किया जाता है।

१६. हसाय कारिम्

हसाय– हसाने के लिए **कारिम्– ''नृत्यन इव यः चलति सः कारिः तम्''** नाचते हुए-से जो चलता है, अर्थात् जो मटक-मटक के चलता है, ऐसे चलने वाले को **आलभते** सम्पूर्ण समाज से प्राप्त कर समाज व्यवस्था में युक्त किया जाता है।

१७. आनन्दाय स्त्रीषखम्

आनन्दाय- लोगों को आनन्दित करने के लिए **स्त्रीषखम् –** स्त्रियों के बोलने की नकल कर उनके जैसा बोलने की कला में निपुण लोगों को **स्त्रीषखः** कहा जाता है। ऐसे स्त्री सखों को **आलभते** सम्पूर्ण समाज से प्राप्त कर समाज व्यवस्था में युक्त किया जाता है।

१८. प्रमदे कुमारीपुत्रम्

प्रमदे– बल के अहंकार में अनुचित कार्यों में लिप्त लोगों पर अंकुश लगाने के लिए **कुमारीपुत्रम्–** दुष्टों का संहार करने वाली वीरांगना के पुत्र को **आलभते–** सम्पूर्ण समाज से चयन विधि से प्राप्त कर राष्ट्र-व्यवस्था में संयुक्त किया जाता है।

मीमांसा– प्रमदे का अर्थ है, प्रकृष्ट बल के अहंकार से ग्रस्त मदांध व्यक्ति के लिए और कुमारीपुत्रम् का अर्थ है कुमारी का पुत्र, यहाँ कुमारी शब्द का अर्थ अविवाहिता कन्या नहीं है, अपितु कुं मारयति इति कुमारी अर्थात् जो दुष्टों को मारती है, ऐसी वीरांगना ही यहाँ कुमारी है। ऐसी सच्चरित्र वीरांगना का पुत्र ही मदांध दुष्टों पर अंकुश लगाने में सक्षम होता है। इसलिए यहाँ मदांधों को संयमित करने के लिए राष्ट्र-व्यवस्था में वीरांगना के पुत्र को नियुक्त करने की बात कही गयी है।

१९. मेधायै रथकारम्

मेधायै-विविध प्रकार के वाहन-निर्माणात्मक मेधावी शिक्षा के लिए **रथकारम्**-उन-उन प्रकार के रथों के निर्माण में दक्ष लोगों को **आलभते**-सम्पूर्ण समाज से चयन विधि से प्राप्त कर राष्ट्र-व्यवस्था में संयुक्त किया जाता है।

मीमांसा-यहाँ अनेक प्रकार के वाहनों को रथ कहा गया है, और उनके निर्माण की शिक्षा देने की व्यवस्था करने का स्पष्ट रूप से वेद में आदेश किया गया है। और ऐसे विविध प्रकार के वाहनों के निर्माण में तक्ष दक्ष मेधावी लोगों को समाज व्यवस्था में नियुक्त करने की व्यवस्था की गयी है।

२०. धैर्याय तक्षाणम्

धैर्याय– जिन वाहनों पर युद्धादि के लिए धैर्य युक्त विश्वास किया जा सके ऐसे वाहनों के निर्माण के लिए **तक्षाणम्–** ऐसे कार्यों के करने में अत्यन्त तक्ष लोगों को **आलभते** सम्पूर्ण समाज से प्राप्त कर समाज-व्यवस्था में नियुक्त किया जाता है।

मीमांसा- तक्षा तु वर्धकिस्त्वष्टा रथकारश्च काष्ठतट। ग्रामाधीनो ग्रामतक्षः कौटतक्षोऽनधीनकः।[1]

---

१. अमरकोश शूद्र वर्ग२/९।

तक्ष्णोति इति तक्षः तक्षू तनूकरणे धातु से तक्ष शब्द बनता है, जो काष्ठ का तक्षण कर उनसे काष्ठ की वस्तुओं को बनाने में निपुण होता है, उसे तक्षा कहते हैं।

३- कुलाल या कुम्भकार, कर्मार, मणिकार या मनिहार, वक्ता, इषुकार, धनुषकार, ज्याकार, रज्जुसर्ज, मृगयु, श्वनिन अर्थात् स्वपाल

तपसे कौलालं, मायायै कर्मारं, रूपाय मणिकारं, शुभे वपं, शरव्याया इषुकारं, हेत्यै धनुष्कारं कर्मणे ज्याकारं दिष्टाय रज्जुसर्जं, मृत्यवे मृगयुमन्तकाय श्वनिनम्।।७।।

२१. तपसे कौलालम्–

मंत्र का अर्थ जानने से पूर्व तप और कौलाल शब्द का अर्थ जानना आवश्यक है– तप ऐश्वर्ये एवं तपदाहे धातु से तप शब्द निष्पन्न होता है। **तप्यते तपते तापयति तापयते वा येन स तपः** – अर्थात् जो श्रम के द्वारा अपने को तपाते हुए ऐश्वर्य को प्राप्त करता है, वह तप है अथवा जो वस्तुओं को तपाकर तैयार करता है, वह उसका तप है। तप के समानार्थक शब्दों का उल्लेख निघण्टु में इस प्रकार है—

१-जमत्। २-कल्मलीकिनम्। ३-जञ्जणाभवन्। ४-मम्मलाभवन्। ५-अर्चिः। ६-शोचिः। ७-तपः। ८-तेजः। ९-हरः। १०- हृणिः। ११-शृङ्गाणीत्येकादश ज्वलतो नामधेयानि।।[1]

यह ११ जलते हुए के नाम है।

तप के विषय में तैतरीय आरण्यक श्रुति ऐसा वर्णन करती है—

ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपः शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः।।[2]

ऋतं तपः – नित्य नियमों का पालन तप है।

सत्यं तपः – सत्य का पालन तप है।

श्रुतं तपः – ज्ञान प्राप्त कर ज्ञानपूर्ण जीवन जीना तप है।

शान्तं तपः – विविध परिस्थियों में भी चित्त को शान्त बनाये रखना तप है।

---

१. निघण्टु १/१७। २. तैतरीय आरण्यक १०/८।

दमस्तपः – मन के जाने पर भी इन्द्रियों को संयमित रखकर आत्मबल से मन को रोकना दमरूप तप है।

शमस्तपः – बुद्धि विवेक पूर्वक इन्द्रियों को संयम में रखना शमरूप तप है।

दानं तपः – उचित पात्र को दान करना तप है।

यज्ञः तपः – सत्कर्म तप है।

भूः तपः – अपनी सत्ता में रहना तप है।

भुवस्तपः – कार्य करने के पूर्व मनन करना, विमर्श करना तप है।

सुवस्तपः – स्वस्वरूप का आनन्द प्राप्त करना तप है।

ब्रह्म तपः - ज्ञान तप है।

एतद् उपास्व- हे शिष्य! इन सबकी उपासना कर, **एतत् – तपः** - यह सब तप हैं।

वेद के निम्नलिखित मन्त्रों में तप का स्वरूप और भी स्पष्ट हुआ है—

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्।।[1]

ब्रह्मणः पूर्वः जातः ब्रह्मचारी – ज्ञान से उत्पन्न ज्ञानार्जन में लगा हुआ, ब्रह्मचारी-विद्यार्थी, **घर्मं वसानः** – विद्या अध्ययन रूप घाम-ताप में वसता हुआ, अर्थात् विद्या अध्ययन रूप तप करता हुआ **तपसा उद् अतिष्ठत** – उस तप के द्वारा उन्नत होता है, **तस्मात् ब्रह्म ज्येष्ठं ब्राह्मणं जातम्** – उस ज्ञानार्जन रूप श्रमात्मक तप से ज्ञान के द्वारा श्रेष्ठ ज्ञानी अर्थात् ब्राह्मण उत्पन्न होता है, **सर्वे देवाः** – सभी दिव्य गुण तथा दिव्य पदार्थ **अमृतेन साकम्** अपने अमृतत्व-पूर्वक उस ज्ञानी के साथ हो जाते हैं।

मीमांसा– इस श्रुति में यह स्पष्ट किया गया है कि, ब्रह्मकुल-गुरुकुल में ज्ञान के आचरण-पूर्वक रहता हुआ ब्रह्मचारी-शिक्षार्थी ज्ञानार्जन में श्रमरूप तप करता हुआ ज्ञान सम्पन्न ज्ञानी अर्थात् ब्राह्मण कहलाता है।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते।।[2]

---

१. अथर्ववेद ११/५/५। २. अथर्ववेद ११/५/१७।

राजा- राष्ट्राध्यक्ष, प्रजा पालक प्रजापति, राष्ट्र का अधिकारी, **ब्रह्मचर्येण तपसा-** ज्ञानाचरणपूर्वक श्रमरूप तप के द्वारा **राष्ट्रं विरक्षति-** राष्ट्र की विशेष रूप से रक्षा करता है। तथा उसी प्रकार **आचार्यः** - शिक्षक, अध्यापक, ब्राह्मण **ब्रह्मचर्येण तपसा-** अधिक से अधिक ज्ञानाचरण पूर्वक शिक्षा देने में श्रम करते हुए **ब्रह्मचारिणमिच्छते** - अधिक से अधिक ब्रह्मचारियों को- ज्ञानार्थियों- विद्यार्थियों को ज्ञान देने की इच्छा करता है।

मीमांसा- यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि, ज्ञानपूर्वक श्रमरूप तप करता हुआ ही राजा राष्ट्र की रक्षा करता है। उसी प्रकार ज्ञानाचरण पूर्वक शिक्षा देने में श्रम करता हुआ ही आचार्य अधिक से अधिक ब्रह्मचारियों-ज्ञानार्थियों को ज्ञान देने की इच्छा करता है। तथ्य स्पष्ट है कि, सभी कार्यों में श्रम रूप तप की प्रमुखता है, श्रम रूप तप के बिना कोई भी, किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

अब **'कौलालम्'** शब्द के अर्थ पर भी विचार करते हैं। **लड्-विलासे धातोः अण् प्रत्येयेन कुलालशब्दसिद्धिः। कुं भूमिम् लाडयति लाडयते वा इति कुलालः, कुलालस्य अपत्यं कौलालः।** जो मिट्टी से प्यार करता है, जो मिट्टी का दुलार करता है, मिट्टी के साथ खेलता है वही कुलाल है, मिट्टी के कार्यों से अपनी पहचान बनाने के कारण वही कौलाल है। इस प्रकार कुलाल, कौलाल और कुम्भकार ये सभी शब्द पर्यायवाची हैं।

अब मंत्र का अर्थ देखें—**तपसे कौलालम्** – श्रम साध्य मिट्टी के पात्र और खिलौने आदि बनाने के लिए मिट्टी की पहचान रखने वाले और मिट्टी से विविध वस्तुओं के निर्माण की कला में निपुण कुलाल अर्थात् कुम्भकार को **आलभते** सब जगह से प्राप्त कर समाज व्यवस्था में संयुक्त किया जाता है।

मीमांसा- तकनीकी कार्यों में एकाग्रता के साथ-साथ श्रम रूप तप की प्रमुखता होती है। इसलिए श्रुति ने **''तपसे शूद्रम्''** और **''तपसे कौलालम्''** इन दो मंत्रों से स्पष्ट कर दिया कि, श्रम और शिल्प में तप की ही प्रधानता है। यद्यपि कोई भी कार्य श्रमरूप तप के बिना खड़ा नहीं हो सकता है। श्रमरूप तप ही सभी प्रकार के कर्मों का आधार है, तथापि प्रत्येक कार्य के लिए श्रमरूप तप करने वाले श्रमिक की विशेष आवश्यकता होती है, और

विविध प्रकार के शिल्पों का निर्माण श्रमरूप तप के साथ-साथ तल्लीन एकाग्रता के बिना सम्भव ही नहीं है। इसलिए श्रमिक को तपस्वी और शूद्र आदि पर्यायवाची शब्दों से वेदों में कहा गया है। श्रमिक और शिल्पी एक ही वर्ग के विविध विभाग के रूप में वर्णित हैं। दुर्भाग्य से वर्तमान में वेद विरुद्ध जन्म के आधार पर, एक दूसरे को नीचा दिखाने के इस कुप्रयास में, सबल जातिवादी संगठित प्रयासों द्वारा, इस श्रमिक और शिल्पी वर्ग को, शिक्षा से हटाकर, दलित और पिछड़ा बना दिया गया। मूल वैदिक प्रवाह के लौकिक दोष से दूषित होने का यह मूल कारण है जिसे मूल वैदिक चेतना की स्थापना के द्वारा ही दूर किया जा सकता है।

२२. मायायै कर्मारम्

मायायै- हस्तकौशल के मायीय-चामत्कारिक कार्यों के लिए, **कर्मारम्–** उस-उस प्रकार के कर्म करने में निपुण लोगों को **आलभते** सम्पूर्ण समाज से प्राप्त कर लगाया जाता है।

मीमांसा- इस मंत्र में मायायै कहकर अनेक प्रकार के हस्त कौशल के चामत्कारिक कार्यों को कह दिया गया है, इसलिए हस्त कौशल के जिन विशिष्ट कार्यों का यहाँ मंत्रों में स्पष्ट उल्लेख नहीं है, उन सब को इस मंत्र में अन्तर्निहित समझना चाहिए।

२३. रूपाय मणिकारम्

रूपाय- रूप को निखारने के लिए **मणिकारम् –** मणियों और रत्नों को निखारने के कार्य में निपुण तथा उनसे लोगों के रूपों को सजाने में, बढ़ाने में इस कला में दक्ष मणिकार को **आलभते** सम्पूर्ण समाज से प्राप्त किया जाता है।

मीमांसा– आज भी इस प्रकार के कार्यों में दक्ष वर्ण-जाति-समुदास के लोग मनिहार और मणिकार नाम से जाने जाते हैं। वर्तमान में बहुत से दूसरे लोग भी माला, मणि, हार गूंथने के इस कार्य में लग गये हैं, क्योंकि इस कार्य का हस्त कौशल ही, इस कार्य के करने वाले लोगों की पहचान है, जो भी इस प्रकार मणि आदि का कार्य करता है, वह ही मणिकार, मनिहार आदि नामों से कहा जाता है।

२४. शुभे वपम्

शुभे– कृषि आदि कार्यों को कल्याणप्रद बनाने के लिए **वपम् – वपति वपते वा वपः तं, बीजानां वप्तारम्,** कृषि के बीजों को बोने में दक्ष बीज बोने वाले को **आलभते** अच्छी तरह से प्राप्त किया जाता है।

२५. शरव्यायै इषुकारम्

शरव्यायै– बाणों को बनाने के लिए **इषुकारम् –** बाण के निर्माण में निपुण को **आलभते** सम्पूर्ण समाज से प्राप्त किया जाता है।

२६. हेत्यै धनुष्कारम्

हेत्यै- धनुष आदि आयुधों के निर्माण के लिए **धनुष्कारम् –** धनुष आदि आयुधों के निर्माण में निपुण व्यक्ति को **आलभते** सम्पूर्ण समाज से प्राप्त कर संयुक्त किया जाता है।

२७. कर्मणे ज्याकारम्

कर्मणे- ज्या अर्थात् धनुष की डोरी निर्माण रूप कर्म करने के लिए **ज्याकारम् –** उस प्रकार की ज्या अर्थात् डोरी के निर्माण में निपुण ज्याकार अर्थात् डोरी बनाने वाले को **आलभते** सब जगह से प्राप्त किया जाता है।

२८. दिष्टाय रज्जुसर्जम्

दिष्टाय- भूमि आदि की निश्चित माप कर, निश्चत संकेत निर्धारण के लिए **रज्जुसर्जम् –** उस प्रकार की नाप करने के लिए आवश्यक, रज्जु सृजन करने अर्थात् बनाने में सक्षम रज्जुसर्जक को **आलभते** सब जगह से प्राप्त कर राष्ट्र की व्यवस्था में नियुक्त किया जाता है।

२९. मृत्यवे मृगयुम्

मृत्यवे- हिंसक जंगली पशुओं को मारने के लिए **मृगयुम् –** हिंसक जंगली मृगों-पशुओं का शिकार करने वाले को आलभते अच्छी तरह चयन किया जाता है।

३०. अन्तकाय श्वनिनम्

अन्तकाय- मनुष्यों के निवास स्थल ग्रामादि में प्रवेश कर, मनुष्यों या उनके द्वारा पालित पशुओं को पकड़ कर, ले जाकर, और खाकर, उनका

अन्त कर देने वाले भेड़िया, लकड़बग्घा, चीता आदि प्राणान्तक पशुओं से, आवासीय स्थलों की रक्षा के लिए **श्वनिनम्-** कुत्तों के पालक शिक्षक और उनसे जंगली पशुओं पर आक्रमण कर उन्हें भगाने में सक्षम को **आलभते** सम्पूर्ण समाज से चयन कर नियुक्त किया जाता है।

४- पौञ्जिष्ट, निषाद, दुर्मद, व्रात्य, उन्मत्त, विकलांग, कितव- अर्थात् मार्ग निर्माण तकनीकी ज्ञाता, अकितव, बिदलकारी और कण्टकीकारी

नदीभ्यः पौञ्जिष्टमृक्षीकाभ्यो नैषादं, पुरुषव्याघ्राय दुर्मदं, गन्धर्वाप्सरोभ्यो व्रात्यं, प्रयुग्भ्य उन्मत्तं, सर्पदेवजनेभ्योऽप्रतिपदमयेभ्यः कितवमीर्यताया अकितवं, पिशाचेभ्यो बिदलकारीं यातुधानेभ्यः कण्टकीकारीम्।।८।।

३१. नदीभ्यः पौञ्जिष्टम्

नदीभ्यः – नदियों के लिए **पौञ्जिष्टम्** – जल राशि में अपेक्षित कार्य करने में सक्षम लोगों को **आलभते** सम्पूर्ण समाज से चयन कर नियुक्त किया जाता है।

३२. ऋक्षीकाभ्य नैषादम्

ऋक्षीकाभ्य- ऋषि गतो धातु से क प्रत्यय होकर ऋक्षीक शब्द बना है, जिसका अर्थ हुआ जो नदी आदि की जलराशि के पार जाना चाहते हैं, उनके लिए **नैषादम् – निषाद एव नैषादः, तम नैषादम्** – नदी में नौका आदि चलाने में निपुण अर्थात् निषाद को **आलभते** सम्पूर्ण समाज से प्राप्त कर समाज व्यवस्था में नियुक्त किया जाता है।

३३. पुरुषव्याघ्राय दुर्मदम्

पुरुषव्याघ्राय–पुरुषों में व्याघ्र की तरह सामर्थ्य वालों के लिए **दुर्मदम्**- जिसके बल को रोका न जा सके ऐसे शीघ्र पराक्रम करने वाले व्यक्ति को **आलभते**-सम्पूर्ण समाज से प्राप्त कर राष्ट्र व्यवस्था में संयुक्त किया जाता है।

३४. गन्धर्वाप्सरोभ्यो व्रात्यम्

गन्धर्व-अप्सरेभ्यः जो भूमि को धारण करके उसी के आसरे पर रहते हैं ऐसे गन्धर्व अर्थात् किसानों और अप्सरसाः जो कर्म करने के लिए चलते

हैं, ऐसे कर्मकार श्रमिकों के लिए **व्रात्यम्** – भ्रमणशील ज्ञानीजन को **आलभते** सब जगह से प्राप्त किया जाता है।

३५. प्रयुग्भ्यः उन्मत्तम्

प्रयुग्भ्यः– प्रयोगपूर्वक ज्ञान प्राप्त करने के लिए **उन्मत्तम्** – उठ गया है मद जिनसे ऐसे मद रहित ज्ञानियों को **आलभते** सम्पूर्ण समाज से प्राप्त कर समाज व्यवस्था में लगाया जाता है।

३६. सर्पदेवजनेभ्यः अप्रतिपदम्

सर्पदेवजनेभ्यः – सर्पति इति सर्पः, द्योतितुमिच्छति इति देवः एतादृशः जनः सर्प-देव-जनः तेभ्यः - जो सरकता है उसे सर्प कहते हैं, जो द्योतित होना चाहता है उसे देव कहते हैं, इस प्रकार जो सरकता हुआ द्योतित होना चाहता है, ऐसे व्यक्ति सर्पदेव जन हैं, ऐसे व्यक्तियों के लिए अर्थात् जो सामान्य जन की तरह कर्म करने में सक्षम नहीं हैं, विकलांग हैं, किसी तरह सरक-सरक कर अर्थात् कुछ-कुछ कार्यों को करके, अपने जीवन को प्रकाशित करना चाहते हैं, जीवन को सामान्य ढंग से जीना चाहते है ऐसे विकलांग सामान्य जीवन जीने के इच्छुक लोगों के लिए **अप्रतिपदम् –** पदं पदं प्रतिपदं, न प्रतिपदं अप्रतिपदं अर्थात् जो पद-पद चलने में सक्षम नहीं है किन्तु ज्ञानवान् हैं, अर्थात् विकलांग होके भी ज्ञानी हैं, ऐसे ज्ञान देने में सक्षम विकलांग ज्ञानियों को **आलभते** भलीभाँति चयन कर नियुक्त किया जाता है।

मीमांसा- यहाँ ऐसे विकलांग लोगों को जो पद पद चल नहीं सकते हैं, किसी तरह सरकते हुए से चलते हैं, अर्थात् कुछ कुछ कर सकते हैं, यद्यपि उनमें भी ज्ञान प्रकाश है, और वे अपने उस ज्ञान के साथ सम्मान पूर्ण जीवन जीना चाहते हैं, ऐसे लोगों के लिए श्रुति ने यह स्पष्ट किया है कि, ऐसे विकलांग लोगों को सक्षम बनाने के लिए, उन्हीं के समान विकलांग किन्तु ज्ञानवान सक्षम लोगों को उन्हें आजीविका जीने लायक ज्ञान देने के लिए, सब जगह से प्राप्त करना चाहिए। श्रुति ने यहाँ यह स्पष्ट किया है कि, जो किसी कारण विकलांग हो गये हैं, उन्हें भी सम्मानपूर्ण जीवन जीने की व्यवस्था करना भी समाज का और शासन का दायित्व है।

३७. अयेभ्यः कितवम्

अयेभ्यः– मार्गों को और राजामार्गों को व्यवस्थित एवं उन्नत करने के लिए **कितवम्**– मार्गों और राजमार्गों के निर्माण एवं उन्नत करने की तकनीकी शिक्षा से सम्पन्न तकनीसियनों को **आलभते** सब जगहों से प्राप्त कर इस कार्य के नियुक्त किया जाता है।

३८. ईर्यताया अकितवम्

ईर्यतायै- समाज को स्फूर्ति सम्पन्न बनाने के लिए **अकितवम् –** कपट रहित, निश्छल राष्ट्रभक्त ज्ञानी व्यक्ति को **आलभते**-सम्पूर्ण समाज से प्राप्त कर व्यवस्था में लगाया जाता है।

मीमांसा- ईर्यता का अर्थ पुरुषार्थ करने की स्फूर्ति-सम्पन्नता है। इस प्रकार ईर्यतायै शब्द का अर्थ हुआ-समाज में ऐसी स्फूर्ति-सम्पन्नता के लिए। यहाँ कितव का अर्थ है धोखेबाज, कपटी, कपट के तकनीकी ज्ञान वाला, इस प्रकार यह शब्द कपटपूर्ण तकनीकी खेल द्यूत खेलने वालों के लिए प्रसिद्ध हो गया। इस प्रकार अकितव शब्द का अर्थ हुआ, छल-कपट-शून्य निश्चित ज्ञान वाला व्यक्ति।

३९. पिशाचेभ्यो विदलकारीम्

पिशाचेभ्यः – ''पिशितम् आचामति इति पिशाचः तेभ्यः''– मांस खानेवाला ही पिशाच है, ऐसे मांसभक्षी दुष्ट मनुष्यों अर्थात् पिशाचों के लिए **विदलकारीम् – ''विशिष्टेन दलनम् करोति यः सः विदलकारी तम्''–** जो विशेष रूप से ऐसे दुष्टों का दलन करने में समर्थ हो उसको **आलभते**- सम्पूर्ण समाज से प्राप्त कर व्यवस्था में लगाया जाता है।

४०. यातुधानेभ्यः कण्टकीकारीम्

यातुधानेभ्यः – यः याति परपदार्थान दधति सः यातुधानः तेभ्यः – जो रात्रि में और जो दिन में भी चलकर दुसरे के पदार्थों को धर लेता है, ऐसे चोर-डाकुओं के लिए, **कण्टकीकारीम् –** जगह जगह कण्टक उत्पन्न करने में सक्षम अर्थात् उनकी चोरी-डकैती में बाधा उत्पन्न करके उनके प्रयासों को असफल कर देने वाले सक्षम सैनिक को **आलभते–** सम्पूर्ण समाज से चयन कर नियुक्त किया जाता है।

मीमांसा- यहाँ रात्रि में और दिन में भी चोरी और डकैती करके दूसरे के धन का अपहरण करने वाले दुष्टों को रोकने के लिए, उनके प्रयासों को असफल बनाने के लिए, ऐसे समाज रक्षकों और सैनिकों की व्यवस्था करने की बात श्रुति द्वारा कही जा रही है, जो इनके प्रयासों में अनेक प्रकार की बाधाएँ उत्पन्न कर उन्हें पूर्णतया रोकने में सक्षम हों। इससे यह स्पष्ट है कि मनुष्यों में ऐसे दुष्ट प्रवृत्ति के लोग पूर्व काल से ही होते रहे हैं, जिन्हें रोकने की व्यवस्था श्रुति में बतायी गयी है।

५- संधिकार, उपपति, परिवित्त, एदिधिषुःपति, पेशस्कारी, स्मरकारी, उपसद, अनुरुध, उपदा।

सन्धये जारं गेहायोपपतिमार्त्यै परिवित्तं, निर्ऋत्यै परिविविदानमाराध्या एदिधिषुःपतिं निष्कृत्यै पेशस्कारीं संज्ञानाय स्मरकारीं, प्रकामोद्यायोपसदं, वर्णायानुरुधं, बलायोपदाम्।।९।।

४१. सन्धये जारम्

सन्धये– दो पक्षों में विवाद की स्थिति में संधि-सुलह कराने के लिए **जारम्– जृ-वयोहानौ** धातु से जार शब्द बना है, **''जीरयति इति जारः''** जिसकी आयु क्षीण हो गयी है, अर्थात् जो बहुत वृद्ध हो गया है, ऐसे वृद्ध व्यक्ति को, जो दोनों पक्षों से सम्बन्ध रखने वाला हों और दोनों पक्षों के प्रति समभाव रखने वाला हों ऐसे व्यक्ति को **(आलभते)** भलीभाँति प्राप्त किया जाता है।

४२. गेहाय उपपतिम्

गेहाय- गृह की सुव्यवस्था के लिए **उपपतिम्-** गृह के उप स्वामी को **(आलभते)** अच्छी तरह कुटुम्ब से ही चुना जाता है।

मीमांसा- घर के पालक स्वामी को गृहपति कहते हैं। गृहपति के अतिरिक्त गृह की व्यवस्था चलाने के लिए गृह का उपपति भी होना चाहिए। यह बात यहाँ इस मंत्र द्वारा स्पष्ट की गयी है, क्योंकि जब किसी काम से गृहपति कहीं बाहर जाये, तो ऐसी स्थिति में वह दूसरे नम्बर का गृह स्वामी घर की व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में उचित निर्णय ले सके। इसी प्रकार से सभी स्तरों पर जिसको जिस स्तर पर पालन की जिम्मेदारी दी गयी, उसका एक

उपपालक भी होना चाहिए। जैसे वर्तमान में राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति। यह व्यवस्था समाज की सबसे छोटी इकाई गृह से प्रारम्भ कर सबसे बड़ी इकाई राष्ट्र तक समान रूप से समझनी चाहिए।

४३. आर्त्यै परिवित्तम्

आर्त्यै- आर्त दु:खी धनहीन लोगों के लिए **परिवित्तम्**- परित: वित्तं परिवित्तम् अर्थात् चारों तरफ से समाज में, बिना समाज को कष्ट पहुँचाये, समाज से धनसंग्रह में सक्षम व्यक्ति को **आलभते** सम्पूर्ण समाज से चयनित किया जाता है।

मीमांसा- जो समाज में धनहीन, गरीब अथवा किसी प्राकृतिक आपदा से आर्त हैं, उनके उस कष्ट को दूर करने के लिए, कुटुम्ब से प्रारम्भ कर राष्ट्र तक अतिरिक्त धन की व्यवस्था करने का स्पष्ट निर्देश श्रुति द्वारा किया गया है। सभी स्तरों पर ऐसे धन के संग्रह के लिए, उपयुक्त लोगों को नियुक्त किये जाने का भी स्पष्ट निर्देश किया गया है।

४४. निर्ऋत्यै परिविविदानम्

निर्ऋत्यै– दरिद्रता, दुर्भिक्ष, महामारी आदि स्थितियों में समाज की रक्षा के लिए **परिविविदानम्**– परित: विशिष्ट प्रकारेण संग्रहीतं विशिष्टं दानमेव परिविविदानं– चारों तरफ से विशेष रूप से विशेष प्रकार के दान को **आलभते** सम्पूर्ण समाज से प्राप्त किया जाता है।

मीमांसा– यहाँ मंत्र में दरिद्रता, दुर्भिक्ष, महामारी जैसे आपात काल के लिए, ऐसे सभी स्थलों में विशेष रूप से दान देने के लिए, और उस दान के निमित्त धन-संग्रह के लिए, ऐसे कार्य में सक्षम व्यक्ति को राष्ट्र व्यवस्था में नियुक्त करने का स्पष्ट आदेश किया गया है। यह राष्ट्र के पालक का दयित्व हैं कि, वह ऐसी विकट परिस्थियों में भी राष्ट्र के पालन की व्यवस्था सुनिश्चित करे।

४५. अराध्यै एदिधिषुः पतिम्

अराध्यै- अविद्यमान सिद्धये- ऐसे कार्य जिनमें सफलता नहीं प्राप्त हुई है, उन कार्यो को सिद्ध करने के लिए **एदिधिषुः पतिम् – अग्रे पूर्वमेव दिधिषति धारयितुं-इच्छति इति एदिधिषुः** - अर्थात् जो आगे ही धारण

और पालन की इच्छा करता है, वह **एदिधिषुः** कहलाता है। और पति का अर्थ होता है स्वामी पालक।

अब मंत्र का अर्थ इस प्रकार हुआ– ऐसे कार्य जिनमें सफलता नहीं मिली है, और अपेक्षित है, उन कार्यों को सफल करने के लिए जो आगे बढ़कर के कार्य को सिद्ध करने में समर्थ हैं, उन लोगों को **(आलभते)** सम्पूर्ण समाज से प्राप्त कर समाज व्यवस्था में लगाया जाता है।

४६. निष्कृत्यै पेशस्कारीम्

निस् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु से अक्तिन् प्रत्यय करके निष्कृति शब्द बनता है। इसका अर्थ निस्तारण, प्रतिदान, ऋणशोधन और कर्तव्य सम्पादन प्राप्त होता है, ऐसी निष्कृति के लिए **पेशस्कारीम्** पेश: शब्द का अर्थ पीसना, चूर्ण करना, कुचलना आदि प्राप्त होता है। और जो इस प्रकार का कार्य करता है, उसे पेशस्कारी कहते हैं। अब मंत्र का अर्थ देखें—

निष्कृत्यै- किसी कार्य के शोधन के लिए, निष्पादन के लिए **पेशस्कारीम्** – उस-उस प्रकार के कार्य के शोधन करने में सक्षम व्यक्ति को **आलभते** सम्पूर्ण समाज से चयनित किया जाता है।

मीमांसा- यहाँ विविध प्रकार के कार्यों में रह गयी त्रुटि को ठीक करने के लिए, उस-उस प्रकार के कार्य करने में दक्ष, योग्य, निपुण लोगों को, उस प्रकार के कार्यों की प्रशासनिक व्यवस्था में लगाने की बात कही गयी है। जैसे-बढ़ई का कार्य, लोहार का कार्य, कुम्हार का कार्य, स्वर्णकार का कार्य आदि, विविध कार्यों में होने वाली त्रुटियों को पहचानने, और उन्हें ठीक कराने के लिए, तथा उनकी शिक्षा देने के लिए भी, ऐसे कार्यों में जो अच्छी तरह निपुण लोग हैं, उनकों नियुक्त किया जाना चाहिए। जिससे उन कार्यों में निरन्तर शोधन के साथ उन्नति का मार्ग प्रशस्त होता रहे।

४७. संज्ञानाय स्मरकारीम्

संज्ञानाय– तथ्यों का, और विस्मृत तथ्यों का भी, सम्यक्-भलीभाँति ज्ञान कराने के लिए **स्मरकारीम्–** तथ्यों को ठीक-ठीक स्मृति में, व अभिलेखों में रखने वाले व्यक्ति जो आवश्यकता अनुसार समय पर उनका स्मरण दिलाकर कार्य का सम्पादन कराने में सक्षम हो उसको **(आलभते)** सब जगह से चयन कर नियुक्त किया जाता है।

मीमांसा– यहाँ ऐसे तथ्यों को, जो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, और जिनकी समय-समय पर आवश्यकता पड़ती है, उन्हें उचित समय पर स्मरण कराने के लिए, ऐसे योग्य प्रतिभा-सम्पन्न लोगों को, समाज व्यवस्था में नियुक्त किये जाने का तथ्य स्पष्ट किया गया है। यहाँ ऐसी ऐतिहासिक आवश्यक जानकारियों को भी, समाज व्यवस्था के लिए नियम बनाते समय, ऐसे पूर्व तथ्यों को संज्ञान में लाने के लिए, ऐसे तथ्यों के प्रस्तुत कर्ताओं को, नियुक्त करने की व्यवस्था बतायी गयी है। इससे यह स्पष्ट है कि, ऐसे महत्वपूर्ण तथ्यों का अभिलेख बनाये जाने की व्यवस्था भी वेदों में स्पष्ट की गयी है।

४८. प्रकामोद्याय उपसदम्

प्रकामोद्याय- राष्ट्राध्यक्ष राजा और प्रमुख प्रशासनिक अधिकारी प्रकृष्ट कामों के उद्यम के लिए **उपसदम्** – अपने समीप ऐसे उद्यम के लिए सन्नद्ध रहने वाले और स्मरण दिलाने वाले व्यक्ति को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त कर इस कार्य के लिए नियुक्त करता है।

मीमांसा– यहाँ श्रुति ने ऐसे राष्ट्राध्यक्ष राजा और प्रमुख प्रशासनिक अधिकारियों को, जिनके पास कार्य का दायित्य बहुत अधिक होता है, और उस दायित्व के बोझ में कभी-कभी आवश्यक कार्य समय से ध्यान में न आने के कारण छूट जाने का भय रहता है, ऐसे लोगों को अपने समीप ऐसे आवश्यक कार्य का स्मरण दिलाने के लिए, जो इस प्रकार की योग्यता से युक्त हो, यथासमय कार्य का स्मरण दिला सके, उसे अपने सचिव आदि के रूप में नियुक्त करने की आवश्यकता बतायी गयी है।

४९. वर्णाय अनुरुधम्

वर्णाय– कर्मकर्ताओं का उन-उन कर्मों को करने हेतु वरण करने के लिए, **अनुरुधम्–** जो-जो उन उन कार्यों को करने के लिए, अपने को वरण करने का अनुरोध करने वाले हैं, उनको **(आलभते)** भलीभाँति चयन कर उन-उन कार्यों के लिए नियुक्त किया जाता है।

मीमांसा– यहाँ यह तथ्य स्पष्ट किया गया है कि, जिस कर्म को करने में, या उस कर्म की शिक्षा प्राप्त करने में जिस व्यक्ति की रूचि हो, उसी

को उस कर्म के लिए चयन किया जाना चाहिए, और ऐसे ही उन-उन कर्मों में रुचि रखने वाले लोगों को ही, उन-उन कर्मों को सिखाया जाना चाहिए। इससे यह तथ्य स्पष्ट है कि, लोगों को अपनी आजीविका के लिए, कर्मों के चयन करने का, अथवा उनके करने की शिक्षा प्राप्त करने का स्वातंत्र्य था। कोई भी कर्म करने वाले की इच्छा के विरुद्ध, उसपर न थोपे जाने की व्यवस्था की गयी थी। वेद में इस प्रकार की व्यवस्था इसलिए की गयी कि, इस व्यवस्था से उस कर्म को करने वाला व्यक्ति, पूरी निष्ठा से उस कर्म में लगेगा, जिससे कर्म अधिक सफलता से होगा, साथ ही करने वाला अपने को सम्मानित अनुभव करेगा।

५०. बलाय उपदाम्

बलाय- बल के लिए, शक्ति के लिए **उप-दाम्** – समीप से लोगों को सहायता देने वाले को **(आलभते)**– सम्पूर्ण समाज से चयनित किया जाता है।

मीमांसा- समाज में दुष्टों से सज्जनों की रक्षा के लिए, न्याय नीति के द्वारा लोगों को सहायता उपलब्ध कराने के लिए, सेवा-भावनायुक्त लोगों को स्थानीय केन्द्र बनाकर, सशस्त्र राजपुरुषों की नियुक्ति करनी चाहिए। जो सज्जन और कमजोर लोगों की बलशाली दुष्टों से रक्षा कर, राष्ट्र-नियमों का पालन करा सकें। वर्तमान की लोकल स्थानीय पुलिस व्यवस्था को उस प्रकार की दृष्टि के उदाहरण के रूप में माना जा सकता है। किन्तु वर्तमान पुलिस में भ्रष्टाचार और चारित्रिक कमी है। मंत्र में उद्धृत राष्ट्र सेवकों में इस प्रकार के भ्रष्टाचार एवं चारित्रिक कमी की कल्पना नहीं की जा सकती।

६- कुब्ज अर्थात् कुबड़ा, वामन, द्वारपाल, अंधवत् व्यवहार, वधिरवत व्यवहार, भिषज अर्थात् वैद्य, नक्षत्रदर्शी, शिक्षा के लिए प्रश्नकर्ता, उपशिक्षा के लिए उपप्रश्नकर्ता और मर्यादा के लिए समुचित उत्तरदाता।

उत्सादेभ्यः कुब्जं, प्रमुदे वामनं, द्वार्भ्यस्त्रामं स्वप्नायान्धमधर्माय बधिरं पवित्राय भिषजं प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शमाशिक्षायै प्रश्निनमुपशिक्षाया अभिप्रश्निनं, मर्यादायै प्रश्नविवाकम्।।१०।।

५१. उत्सादेभ्यः कुब्जम्

उत्सादेभ्यः – कृषि में उत्पादित फसलों का नाश कर डालने वाले पशुओं और पक्षीयों से, कृषि की रक्षा करने के लिए **कुब्जम्** – कुबड़े-शरीर से टेढ़े-मेढ़े लोगों को **(आलभते)** समाज से चयनित किया जाता है।

मीमांसा- समाज में बहुत से लोग कुबड़े या टेढ़े-मेढ़े शरीर के होते हैं जो सामान्य जन की तरह कर्म करने में सक्षम नहीं होते हैं। उनको भी समाज में आजीविका मिल सके, वह समाज पर बोझ न हों, इसकी व्यवस्था यहाँ श्रुति द्वारा की गयी है। कृषि विनाशक पशुओं से, कृषि की रक्षा करने के लिए, ऐसे लोगों को लगाने का उद्देश्य यह है कि, ऐसे लोगों को आजीविका तो मिलेगी ही, साथ ही ऐसे टेढ़े-मेढ़े शरीर वाले लोगों से पशु डरकर आसानी से भाग जायेंगे।

५२. प्रमुदे वामनम्

प्रमुदे- प्रमोद के लिए **वामनम्** – अत्यन्त छोटे शरीर वाले व्यक्ति को **आलभते**- सम्पूर्ण समाज से प्राप्त कर समाज व्यवस्था में संयुक्त किया जाता है।

५३. द्वार्भ्यस्स्रामम्

द्वार्भ्यः – द्वारों की रक्षा के लिए **स्रामम्** – श्रम करने वाले द्वारपालकों को **आलभते** सब जगह से प्राप्त कर नियुक्त किया जाता है।

५४. स्वप्नाय अन्धम्

स्वप्नाय- सोने के लिए अथवा भविष्य पर उत्कृष्ट विचार करने के लिए **अन्धम्–बाह्यवस्तुभिः चक्षुषी निमील्य विचारणमेव अत्र अन्धत्वम्–** बाह्य वस्तुओं से आँखें बंद कर अपने ही भीतर विचार करना यहाँ अन्धत्व है, ऐसे विमर्शात्मक अंधत्व को **(आलभते)** भलीभाँति प्राप्त करता है।

मीमांसा– सोने के लिए आँख बंद कर शांत होना आवश्यक है, इसी प्रकार भविष्य के उत्कृष्ट विचारों के लिए आँख बंद कर एकांत में भविष्य के स्वप्न देखना, अर्थात् भविष्य के उत्कृष्ट विचारों का अच्छी तरह चिन्तन करना भी आवश्यक है, वही यहाँ भविष्य का स्वप्न देखना है, इसी तथ्य को श्रुति द्वारा यहाँ स्पष्ट किया गया है।

५५. अधर्माय बधिरम्

अधर्माय- धर्म-विरुद्ध, अनुचित कार्यों के प्रति उकसाने वाली बातों से बचने के लिए **बधिरम्**– बधिरत्व अर्थात् बहरेपन को **(आलभते)** अच्छी तरह से प्राप्त करता है।

मीमांसा- यहाँ श्रुति ने स्पष्ट किया है कि, अधर्म से बचने के लिए, अधर्म के प्रति उकसाने वाली बातों के प्रति, पूर्णतया बधिरत्व का-बहरेपन का, स्वभाव बना लेना चाहिए। क्योंकि अधर्मपूर्ण चर्चायें ही अधर्म के प्रति उकसाती हैं, और अधर्म में लगाती हैं। अत: ऐसी बातों से, ऐसी चर्चाओं से, पूर्णतया बचना ही उन चर्चाओं के प्रति बधिरत्व को प्राप्त करना है।

५६. पवित्राय भिषजम्

पवित्राय- शरीर की पवित्रता के लिए, शरीर को पूर्णतया रोगमुक्त रखने के लिए **भिषजम्** – भैषज्य विद्या के जानकार अर्थात् योग्य वैद्य को **(आलभते)** सब जगह से चयनित किया जाता है।

५७. प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शम्

प्रज्ञानाय- सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण आदि अन्तरिक्ष में घट रही घटनाओं के प्रकृष्ट ज्ञान के लिए **नक्षत्रदर्शम्** – नक्षत्र द्रष्टा, नक्षत्र विज्ञान वेत्ता अन्तरिक्ष वैज्ञानिक जन को **(आलभते)** सम्पूर्ण समाज से प्राप्त कर ऐसे कार्य में लगाया जाता है।

५८. आशिक्षायै प्रश्निनम् –

आशिक्षायै– सम्पूर्ण वेदों की सम्पूर्ण शिक्षा अथवा किसी भी प्रकार की शिक्षा को पूर्ण रूप से अच्छी तरह प्राप्त करने के लिए **प्रश्निनम्**- शिक्षा के समय उस सम्बन्ध में आवश्यक उचित प्रश्न करने वाले जन को **(आलभते)** अच्छी तरह प्राप्त किया जाता है।

मीमांसा– किसी भी शिक्षा की पूर्णता के लिए शिक्षार्थियों से प्रश्न करने वाले जो उस शिक्षा के भलीभाँति शिक्षित शिक्षक हैं, उनकी नियुक्ति की जानी चाहिए। साथ ही शिक्षार्थी को भी अपने शिक्षक से प्रश्न करके, अपने विषय को ठीक-ठीक समक्षते रहना चाहिए। जैसा कि प्रश्नोपनिषद में

ऋषि पिप्पलाद अपने से प्रश्न करने वाले शिष्य के प्रति प्रसन्न होकर कहते हैं **''बहु प्रश्नान् पृच्छसि! ब्रह्मिष्ठोऽसि।''** बहुत प्रश्न पूछते हो! ज्ञान में निष्ठा रखने वाले हो।

५९. उपशिक्षायै अभिप्रश्निनम्

उपशिक्षायै- वेदादि ग्रन्थों की पूर्ण शिक्षा के लिए, उन ग्रन्थों के शिक्षण में आवश्यक व्याकरण आदि की शिक्षा ही यहाँ उपशिक्षा है, ऐसे व्याकरण आदि उपशिक्षा के ग्रन्थों की शिक्षा प्राप्त करने के लिए, **अभिप्रश्निनम्** – उन-उन उपशिक्षात्मक व्याकरणादि विषयों के सब तरफ से प्रश्न करने में सक्षम, अर्थात् उस विषय के सम्यक् जानकार जन को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त कर इस शिक्षा व्यवस्था में नियुक्त किया जाता है।

६०. मर्यादायै प्रश्नविवाकम्

मर्यादायै–''मर्यैः आदीयते या सा मर्यादा तस्यै'' अर्थात् मननशील मनुष्यों के द्वारा, आपसी विमर्शपूर्वक, निश्चित की गयी जो व्यवस्था है, उसे मर्यादा कहते हैं। ऐसी मर्यादा की रक्षा के लिए **प्रश्नविवाकम्–''यः प्रश्नान् विवेचयति सः प्रश्नविवाकः तम्''** जो प्रश्नों की विवेचना करता है, और उनकी विवेचना से उनके तथ्यों को प्राप्त कर सकता है, ऐसे व्यक्ति को प्रश्न विवाक कहते हैं। ऐसे तर्कों की विवेचना कर तथ्यों को प्राप्त कर सकने में सक्षम प्रश्नविवाक अर्थात् न्यायाधीश को **(आलभते)** सम्पूर्ण समाज से चयनित किया जाता है।

७- हस्तिपाल, अश्वपाल, गोपाल, अविपाल, अजपाल, कीनाश, सुराकार, गृहपाल, वित्तपाल, और अनुक्षत्ता

अर्मेभ्यो हस्तिपं जवायाश्वपं पुष्टयै गोपालं वीर्यायाविपालं तेजसेऽजपालमिरायै कीनाशं कीलालाय सुराकारं भद्राय गृहपं श्रेयसे वित्तधमाध्यक्ष्यायानुक्षतारम्।।११।।

६१. अर्मेभ्यो हस्तिपम्

अर्मेभ्यः - विशिष्ट गतिरेव अर्मः तेभ्यः – विशेष प्रकार की गति ही अर्म है, ऐसी विशेष प्रकार की गति से युद्ध में भाग लेने वाले हाथियों को प्रशिक्षित करने के लिए **हस्तिपम् –** ऐसी विशिष्ट प्रकार की गति का

प्रशिक्षण देने में सक्षम हाथियों के पालक को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त कर इस कार्य में लगाया जाता है।

६२. जवायाश्वपम्

जवाय- वेगपूर्ण गति के लिए **अश्वपम् –** इस प्रकार की गति का अश्वों को प्रशिक्षण देने में सक्षम, अश्वपालकों को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त कर इस कार्य के लिए नियुक्त किया जाता है।

मीमांसा- अश्वों में गतिपूर्ण प्रशिक्षण के लिए योग्य अश्वपालक को नियुक्त किये जाने की आवश्यकता, यहाँ श्रुति द्वारा स्पष्ट रूप से बतायी गयी है।

६३. पुष्टयै गोपालम्

पुष्टयै- पुष्टि के लिए **गोपालम्-** योग्य गोपालक को **आलभते** सब जगह से प्राप्त कर समाज व्यवस्था में लगाया जाता है।

मीमांसा- यहाँ श्रुति ने यह स्पष्ट किया है कि, गाय के दूध, दही, मक्खन, घी, आमिक्षा आदि से शरीर की पुष्टि होती है। पुं गौ अर्थात् सांड़, बैल आदि से कृषि की पुष्टि होती है। साथ ही उनके मलमूत्र आदि भी कृषि की पुष्टि करने वाले हैं। इस प्रकार पुष्टि के लिए समाज में गोपालन की व्यवस्था अत्यन्त महत्वपूर्ण है, ऐसी महत्वपूर्ण गोपालन व्यवस्था के लिए गोपालकों को समाज व्यवस्था में लगाया जाता है। यहाँ गो शब्द से गाय और भैस दोनों का ग्रहण किया गया है। वास्तव में महिषी भी गौ जाति का ही एक प्रकार है। सामान्यतया महिषी का प्रयोग श्रेष्ठता के अर्थ में किया जाता है। गौ की अपेक्षा महीषी का दूध अधिक गाढ़ा, स्वादिष्ट और घृतयुक्त होने से उसे महिषी नाम दिया गया। गाय और भैंस दोनों के ही मल को गोबर कहा जाता है। और दोनों का ही मल मिट्टी के घरों को लीपने आदि में प्रयोग होता है। दोनों का आहार भी समान होता है। दोनों में जातिगत भेद होने से गौ और महिषी शब्द प्रचलित हुए हैं। गाय के बच्चे और महिषी के बच्चों में जो स्फूर्तिपरक अन्तर होता है, वही अन्तर दोनों के दुग्ध के गुणों में भी समझना चाहिए। दोनों के पालकों को गोपाल ही कहा जाता है।

ऋषि पिप्पलाद अपने से प्रश्न करने वाले शिष्य के प्रति प्रसन्न होकर कहते हैं **''बहु प्रश्नान् पृच्छसि! ब्रह्मिष्ठोऽसि।''** बहुत प्रश्न पूछते हो! ज्ञान में निष्ठा रखने वाले हो।

५९. उपशिक्षायै अभिप्रश्निनम्

उपशिक्षायै- वेदादि ग्रन्थों की पूर्ण शिक्षा के लिए, उन ग्रन्थों के शिक्षण में आवश्यक व्याकरण आदि की शिक्षा ही यहाँ उपशिक्षा है, ऐसे व्याकरण आदि उपशिक्षा के ग्रन्थों की शिक्षा प्राप्त करने के लिए, **अभिप्रश्निनम्** – उन-उन उपशिक्षात्मक व्याकरणादि विषयों के सब तरफ से प्रश्न करने में सक्षम, अर्थात् उस विषय के सम्यक् जानकार जन को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त कर इस शिक्षा व्यवस्था में नियुक्त किया जाता है।

६०. मर्यादायै प्रश्नविवाकम्

मर्यादायै–''मर्यैः आदीयते या सा मर्यादा तस्यै'' अर्थात् मननशील मनुष्यों के द्वारा, आपसी विमर्शपूर्वक, निश्चित की गयी जो व्यवस्था है, उसे मर्यादा कहते हैं। ऐसी मर्यादा की रक्षा के लिए **प्रश्नविवाकम्–''यः प्रश्नान् विवेचयति सः प्रश्नविवाकः तम्''** जो प्रश्नों की विवेचना करता है, और उनकी विवेचना से उनके तथ्यों को प्राप्त कर सकता है, ऐसे व्यक्ति को प्रश्न विवाक कहते हैं। ऐसे तर्कों की विवेचना कर तथ्यों को प्राप्त कर सकने में सक्षम प्रश्नविवाक अर्थात् न्यायाधीश को **(आलभते)** सम्पूर्ण समाज से चयनित किया जाता है।

७- हस्तिपाल, अश्वपाल, गोपाल, अविपाल, अजपाल, कीनाश, सुराकार, गृहपाल, वित्तपाल, और अनुक्षत्ता

अर्मेभ्यो हस्तिपं जवायाश्वपं पुष्टयै गोपालं वीर्यायाविपालं तेजसेऽजपालमिरायै कीनाशं कीलालाय सुराकारं भद्राय गृहपं श्रेयसे वित्तधमाध्यक्ष्यायानुक्षतारम्।।११।।

६१. अर्मेभ्यो हस्तिपम्

अर्मेभ्यः - विशिष्ट गतिरेव अर्मः तेभ्यः – विशेष प्रकार की गति ही अर्म है, ऐसी विशेष प्रकार की गति से युद्ध में भाग लेने वाले हाथियों को प्रशिक्षित करने के लिए **हस्तिपम्** – ऐसी विशिष्ट प्रकार की गति का

प्रशिक्षण देने में सक्षम हाथियों के पालक को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त कर इस कार्य में लगाया जाता है।

६२. जवायाश्वपम्

जवाय- वेगपूर्ण गति के लिए **अश्वपम्** – इस प्रकार की गति का अश्वों को प्रशिक्षण देने में सक्षम, अश्वपालकों को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त कर इस कार्य के लिए नियुक्त किया जाता है।

मीमांसा- अश्वों में गतिपूर्ण प्रशिक्षण के लिए योग्य अश्वपालक को नियुक्त किये जाने की आवश्यकता, यहाँ श्रुति द्वारा स्पष्ट रूप से बतायी गयी है।

६३. पुष्टयै गोपालम्

पुष्टयै- पुष्टि के लिए **गोपालम्**- योग्य गोपालक को **आलभते** सब जगह से प्राप्त कर समाज व्यवस्था में लगाया जाता है।

मीमांसा- यहाँ श्रुति ने यह स्पष्ट किया है कि, गाय के दूध, दही, मक्खन, घी, आमिक्षा आदि से शरीर की पुष्टि होती है। पुं गौ अर्थात् सांड़, बैल आदि से कृषि की पुष्टि होती है। साथ ही उनके मलमूत्र आदि भी कृषि की पुष्टि करने वाले हैं। इस प्रकार पुष्टि के लिए समाज में गोपालन की व्यवस्था अत्यन्त महत्वपूर्ण है, ऐसी महत्वपूर्ण गोपालन व्यवस्था के लिए गोपालकों को समाज व्यवस्था में लगाया जाता है। यहाँ गो शब्द से गाय और भैस दोनों का ग्रहण किया गया है। वास्तव में महिषी भी गौ जाति का ही एक प्रकार है। सामान्यतया महिषी का प्रयोग श्रेष्ठता के अर्थ में किया जाता है। गौ की अपेक्षा महीषी का दूध अधिक गाढ़ा, स्वादिष्ट और घृतयुक्त होने से उसे महिषी नाम दिया गया। गाय और भैंस दोनों के ही मल को गोबर कहा जाता है। और दोनों का ही मल मिट्टी के घरों को लीपने आदि में प्रयोग होता है। दोनों का आहार भी समान होता है। दोनों में जातिगत भेद होने से गौ और महिषी शब्द प्रचलित हुए हैं। गाय के बच्चे और महिषी के बच्चों में जो स्फूर्तिपरक अन्तर होता है, वही अन्तर दोनों के दुग्ध के गुणों में भी समझना चाहिए। दोनों के पालकों को गोपाल ही कहा जाता है।

६४. वीर्याय अविपालम्

वीर्याय– वीर्य के लिए, धातु की वृद्धि के लिए, और शीत आदि से सुरक्षा कर शीतादि ऋतुओं में भी तेजस्विता बनाये रखने के लिए **अविपालम्-** भेड़ का पालन करने वाले को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त कर समाज व्यवस्था में लगाया जाता है।

मीमांसा- यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि, भेड़ का दूध वीर्यवर्धक और शक्तिदायक है, इस समय भी भेड़ का दूध अन्य दुग्धों से बहुत महँगा है, शारीरिक शक्ति बढ़ाने के लिए और नुपंसकता आदि दूर करने के लिए भेड़ी के दूध का विशेष महत्व है। इसके अलावा अत्यन्त प्राचीन काल से ही भेड़ के ऊन से ठंड से बचने के लिए उत्कृष्ट वस्त्र और कम्बल आदि बनाने की परम्परा रही है। शीत में और ठंडे पहाड़ी प्रदेशों में, भेड़ का दूध और उसके ऊन से बने वस्त्र कम्बल आदि जीवन रक्षक के रूप में प्रयोग होते रहे हैं। इसीलिए आज भी हिमालय के ऊपरी क्षेत्रों में भेड़ पालन करने वाले रहते हैं। इस प्रकार यहाँ श्रुति ने भेड़ बकरी पालन के महत्व को दर्शाया है, और उनके पालकों का उत्कृष्ट वर्ण के रूप में उल्लेख किया गया है।

६५.तेजसे अजपालम्

तेजसे- तेज के लिए **अजपालम् –** अजपालकों को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त कर समाज व्यवस्था में लगाया जाता है।

मीमांसा- श्रुति ने यहाँ यह स्पष्ट किया है कि, बकरी के दूध से तेजस्विता आती है। वर्तमान में प्रसिद्ध है कि महात्मा गांधी बकरी पालते थे और बकरी का दूध पीते थे। गांव में बच्चे के जन्म के ठीक बाद जिन माताओं को दूध नहीं उतरता था, उनके बच्चे को माँ का दूध उतरने के पहले तक बकरी का दूध पिलाने की परम्परा थी। ठण्डे प्रदेशों में बकरी का दूध शरीर को गर्मी प्रदान करने वाला माना जाता है। इसलिए पहाड़ों में भेड़ पालक लोग बकरी पालन भी करते हैं। बकरी पालन भेड़ पालन की अपेक्षा आसान होने से भेड़ पालकों के अतिरिक्त सामान्य जन भी बकरी पालन करते हैं।

६६. इरायै कीनाशम्

इरायै– इरा शब्द के अर्थ पृथ्वी, वाणी और जल होते हैं। ऐसी इरा के लिए **कीनाशम्– ''कुत्सितं नाशयति इति कीनाशः तम्,''** जो कुत्सित को नष्ट कर दे वह कीनाश है। ऐसे पृथ्वी, वाणी, मदिरा और जल के दोषों को नष्ट करने वाले को **(आलभते)** भलीभाँति चयनित किया जाता है।

मीमांसा–जैसा कि इस शब्द के अर्थ को स्पष्ट किया है कि, इरा शब्द का पृथ्वी, वाणी, मदिरा और जल के लिए प्रयोग किया गया है, तो यहाँ इस शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थों के लिए, होने वाले भिन्न-भिन्न पदार्थों के दोषों को दूर करने के लिए, उस प्रकार के दोषों को दूर करने में सक्षम व्यक्ति को, समाज-व्यवस्था में नियुक्त किये जाने की बात कही गयी है। जैसे जब इरा शब्द का अर्थ पृथ्वी किया जायेगा, तो पृथ्वी पर होने वाली खेती में होने वाले दोषों को नष्ट करने में सक्षम व्यक्ति कीनाश कहा जायेगा। जब इरा शब्द का अर्थ वाणी होगा, तब बोलने में होने वाली अशुद्धियों को दूर करने में सक्षम व्यक्ति को कीनाश कहा जायेगा। जब इरा शब्द का अर्थ मदिरा होगा, तो मदिरा जैसी बुराई को दूर करने में सक्षम सैनिक ही कीनाश होगा। और जब इरा शब्द का अर्थ जल होगा, तो जल के दूषण को दूर करने वाला व्यक्ति ही कीनाश कहा जायेगा। इस प्रकार श्रुति ने यहाँ कृषि, वाणी और मद्यपी और जल आदि के दोषों को दूर करने के लिए, उन-उन दोषों को दूर करने में सक्षम व्यक्तियों को नियुक्त करने की व्यवस्था दी है।

६७. कीलालाय सुराकारम्

कीलालाय- कीलाल का अर्थ है अमृत जल, या शोधित जल। इसके अतिरिक्त नारियल के जल को भी कीलाल कहा गया है, इस प्रकार के शोधित अमृत जल के लिए, **सुराकारम्**–इस प्रकार के शोधित जल को तैयार करने वाले को **(आलभते)** सब जगह से भलीभाँति प्राप्त किया जाता है।

मीमांसा– सुरा शब्द निघण्टु में उदक अर्थात् जल के नामों में परिगणित है, अर्थात् सुरा का अर्थ जल ही है। इस प्रकार सुराकार का अर्थ

हुआ जल को साफ करने वाला। शुद्ध पानी में १०० भागों में एक भाग नमक मिला हो तो उसको अमृत जल कहते हैं, इसके पीने से अनेक व्याधियाँ दूर होती हैं। अमृत जल अथवा कीलाल पान से इसी प्रकार के शुद्ध जल के पीने की बात बतायी गयी है, इसके अतिरिक्त नारियल के अन्दर के पानी को भी कीलाल कहते हैं। जो बहुत-सी बीमारियों को दूर करता है। साथ ही नारियल समुद्र तट पर होता है, समुद्र का जल अत्यन्त खारा होने के कारण पिया नहीं जा सकता है, ऐसे समुद्र तट पर नारियल का जल अमृत पान के समान है। इसलिए समुद्र तट पर नारियल के जल आदि को पिलाने वालों की व्यवस्था श्रुति में बतायी गयी है। यहाँ सुराकार का प्रयोग नारियल का जल, उसके क्रीम आदि से उत्तम बनाकर पिलाने वालों के लिए भी किया गया है।

वैदिक काल के बहुत बाद के काल में सुरा का अर्थ लोगों ने मदिरा भी किया है, और इसलिए कुछ लोग सुराकार से शराब बनाने वाला ऐसा अर्थ करते हैं, किन्तु यहाँ यह अर्थ बिल्कुल ही अभीष्ट नहीं है, क्योंकि वेद में मद्यपान का निषेध किया गया है। साथ ही वेदार्थ करने में निरुक्ति के द्वारा उपलब्ध होने वाला अर्थ ही लेना उचित है।

६८. भद्राय गृहपम्

भद्राय- कल्याण के लिए **गृहपम्**-**''गृहाणां पालकम्,''** गृह का पालन करने वाले को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त कर व्यवस्था में नियुक्त किया जाता है।

मीमांसा- श्रुति में यहाँ लोगों के कल्याण के लिए गृह बनाने की कला में निपुण, और बने हुए घरों की कमियाँ, और उनकी सुरक्षा के लिए आवश्यक ज्ञान कला से युक्त, गृहनिर्माताओं अर्थात् गृहपालकों को सब जगह से प्राप्त कर समाज व्यवस्था में लगाने की व्यवस्था दी गयी है। वर्तमान में भी गाँव में गृह निर्माण की कला में दक्ष, उसके तकनीकी विशेषज्ञ लोगों का एक वर्ण प्राप्त होता है। जिसे लोनिया या भिन्न-भिन्न स्थानीय नामों से कहा जाता है। अब नयी पठन-पाठन व्यवस्था में, गृहनिर्माण की स्वतंत्र ढंग से पढ़ाई होती है। जिसका अध्ययन कर कोई भी भवन निर्माण कला का विशेषज्ञ हो सकता है। जिसे प्राचीन वैदिक स्वरूप

का ही आधुनिक परिवर्तित रूप कहा जाना उचित है। इन्हें ही भवन निर्माण का इंजीनियर कहा जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वर्तमान में भवन निर्माण के इंजीनियर ही वैदिक काल में गृहपालक कहे जाते थे।

६९. श्रेयसे वित्तधम्

श्रेयसे– श्रेष्ठ उत्तम जीवन जीने के लिए, समाज में लोगों की उत्कृष्ट व्यवस्था के लिए, गमनागमन के उत्कृष्ट साधनों और मार्गों आदि के लिए **वित्तधम्–** धन की उचित व्यवस्था रखने वाले और विविध कार्यों के लिए धन का उचित भागों में वितरण करने की जानकारी रखने वाले, वित्ताधिकारियों और वित्तमंत्री को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त कर उनकी योग्यता अनुसार चयन कर राष्ट्र व्यवस्था में लगाया जाता है।

मीमांसा– श्रुति ने यहाँ राष्ट्र व्यवस्था और समाज-व्यवस्था के लिए, वित्त व्यवस्था के जानकार वित्तमंत्री और वित्ताधिकारियों को नियुक्त करने की बात स्पष्ट किया है।

७०. आध्यक्ष्याय अनुक्षतारम्

आध्यक्ष्याय- विविध प्रकार के कार्यों का निरीक्षण करने के लिए **अनुक्षतारम्** उन-उन कार्यों में दक्ष तेजस्वी निरीक्षक को **(आलभते)** सम्पूर्ण समाज से चयन विधि से प्राप्त कर राष्ट्र व्यवस्था में संयुक्त किया जाता है।

मीमांसा- यहाँ श्रुति ने समाज में होने वाले विविध कार्यों का आध्यक्ष्य अर्थात् निरीक्षण करने के लिए उन-उन कार्यों के दक्ष योग्य प्रशासकों की नियुक्ति करने की व्यवस्था बताई है।

८- दार्वाहार अर्थात् लकड़हारा, अग्न्येध, अभिषेक्ता, परिवेष्टा, पेशिता, प्रकरिता, उपसेक्ता, उपमन्थिता, धोबी, रजक।

भायै दार्वाहारं प्रभाया अग्न्येधं ब्रध्नस्य विष्टपायाभिषेक्तारं वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारं देवलोकाय पेशितारं, मनुष्यलोकाय प्रकरितारं सर्वेभ्यो लोकेभ्य उपसेक्तारमवऋत्यै वधायोपमन्थितारं मेधाय वासःपल्पूलीं प्रकामाय रजयित्रीम्।।१२।।

७१. भायै दार्वाहारम्

भायै– ज्योति के लिए **दार्वाहारम्–** (दारु-आ-हारम्) लकड़ियों को

अच्छी तरह से समझने वाले, उनमें भी तैलीय लकड़ियों की पहचान रखने वाले, लकड़हारा को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त कर इस कार्य में लगाया जाता है।

७२. प्रभायै अग्न्येधम्

प्रभायै- विशेष प्रकार के प्रकाश के लिए **अग्न्येधम्** (अग्नि-एधम्) अग्नि जलाने की कला में निपुण व्यक्ति को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त किया जाता है।

७३. ब्रध्नस्य विष्टपाय अभिषेक्तारम् –

ब्रध्नस्य विष्टपाय– सूर्य की किरणों के आघात से पीड़ितों की रक्षा के लिए **अभिषेक्तारम् –** शीतोदक से स्नान कराने वाले योग्य लोगों को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त किया जाता है।

७४. वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारम्

वर्षिष्ठाय नाकाय– श्रेष्ठ स्वाथ्य सुख के लिए **परिवेष्टारम् –** परोसने की कला के उत्तम जानकार को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त किया जाता है।

मीमांसा– इस श्रुति से स्पष्ट होता है कि भोजन करने में उचित क्रम के अनुसार ही, भोज्य पदार्थों को खाना चाहिए। उससे स्वाथ्य ठीक रहता है। क्रमभंग अनुचित आहार से स्वाथ्य खराब हो जाता है। अतः भोजन व्यवस्था के जानकार लोगों को ही भोजन परोसने की बात कही गयी है। इस श्रुति से यह भी स्पष्ट होता है कि, महिलायें गृह शिक्षा प्राप्त करती थीं, और स्वाथ्य के लिए अनुकूल क्रमानुसार ही भोजन परोसती थीं। साथ ही सामूहिक भोजन के उत्सव अवसरों पर उचित जानकारों द्वारा ही भोजन परोसा जाता था।

७५. देवलोकाय पेशितारम्

देवलोकाय– द्योतते दति देवः, जो अपने गुण, कर्म, अधिकार आदि से प्रकाशित होता है, उसे देव कहते हैं। इस प्रकार राष्ट्रपालक राजा, प्रशासनिक अधिकारी, ब्रह्मकुलों, गुरुकुलों, विश्वविद्यालयों के कुलपतियों

और कुलाधिपतियों के निवास स्थान और सभा स्थान ही यहाँ देवलोक है, ऐसे देवलोकों के निर्माण के लिए, और उनके द्वारा की जाने वाली सभा आदि के लिए, बनाये जाने वाले दिव्य स्थानों के निर्माण के लिए **पेशितारम्** – उत्कृष्ट सौन्दर्य सम्पन्न निवास स्थान और सभा स्थान बनाने वाले को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त कर नियुक्त किया जाता है।

मीमांसा– देवलोक का अर्थ है देवों का लोक, देवों का स्थान, उत्तम पुरुषों का स्थान, श्रेष्ठजनों का स्थान, दिव्य उत्तम निवास और पेशिता शब्द का अर्थ है, आकार का विचार करने वाला, सुन्दर आकार बनाने वाला, अथवा किसी पदार्थ की सुन्दरता को निखारने वाला। इस प्रकार श्रुति का अर्थ हुआ किसी पदार्थ, घर निवास आदि का सौन्दर्य बढ़ाने के लिए, ऐसे कारीगरों को रखा जाना चाहिए, जो उसको अधिक से अधिक सुन्दर बना सकें।

७६. मनुष्यलोकाय प्रकरितारम्

मनुष्यलोकाय- मनुष्यों के रहने के लिए, उनके रहने योग्य उत्तम आवास आदि के निर्माण के लिए **प्रकरितारम्–** **''प्रकृष्टेन करोति इति प्रकरिता''**, जो कार्यों को तेजी से प्रकृष्ट रूप से कर्ता है, उसे प्रकरिता कहते हैं। ऐसे प्रकरिता को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त कर जन सामान्य के रहने योग्य आवासों के निर्माण के लिए, आवास निर्माण व्यवस्था में लगाया जाता है।

७७. सर्वेभ्यः लोकेभ्यः उपसेक्तारम्

सर्वेभ्यः लोकेभ्यः– सभी लोगों के लिए **उपसेक्तारम्–** उपसिंचन करने वाले को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त कर इस व्यवस्था में लगाया जाता है।

मीमांसा- सभी प्राणियों के लिए, उन-उन प्राणियों की अपेक्षा के अनुसार जल की आवश्यकता होती है, सभी प्राणियों के लिए, जल ही जीवन है। सभी प्राणियों को उनकी आवश्यकता के अनुरूप जल मिल सके, इसके लिए उन-उन प्राणियों के लिए, जल की आवश्यकता को ठीक-ठीक समझने वाले लोगों को, उपसिंचन के लिए लगाये जाने का

विधान श्रुति ने किया है। जैसे मनुष्यों के लिए जगह-जगह पानी पीने के लिए, पानी पिलाने वाले व्यक्ति की नियुक्ति, वृक्षादि को हरा-भरा रखने के लिए उनको सिञ्चित करने वाले लोगों की व्यवस्था, ही यहाँ उपसिंचन करने वाले को समाज व्यवस्था में लगाना है।

७८. अवऋत्यै वधाय उपमन्थितारम्

अवऋत्यै वधाय-घात लगाकर हत्या करने वालों के लिए **उपमन्थितारम्**- जो ऐसे पापियों के मन को, अपनी दण्ड प्रक्रिया से मथ डाले, अर्थात् उनके मन में भय उत्पन्न कर दे, ऐसे व्यक्ति को **(आलभते)** सम्पूर्ण समाज से चयन विधि से प्राप्त कर राष्ट्र व्यवस्था में संयुक्त किया जाता है।

७९. मेधायै वासः पल्पूलीम्

मेधायै- उत्कृष्ट मेधा के लिए, तन मन की पवित्रता के लिए **वासः पल्पूलीम्** – वस्त्रों को अच्छी तरह स्वच्छ करने वाले, अर्थात् वस्त्रों को स्वच्छ करने की कला में दक्ष जन को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त कर समाज व्यवसथा में संयुक्त किया जाता है।

मीमांसा- यहाँ श्रुति ने यह स्पष्ट किया है कि, वस्त्रों की स्वच्छता एवं पवित्रता से मेधा अर्थात् बुद्धि की तीव्रता और पवित्रता होती है। ऐसी पवित्र मेधा के लिए, समाज में हर प्रकार के वस्त्रों को स्वच्छ करने वाले, इस वस्त्र स्वच्छता के कार्य में रुचि रखने वाले, स्वेच्छा से इन वस्त्रों की स्वच्छता के कार्य को अपनी आजीविका के रूप में चुनने वाले, वर्ण की व्यवस्था समाज व्यवस्था में अपेक्षित है। आज भी समाज में धोबी नाम से यह वर्ण विद्यमान है। इस वैदिक व्यवस्था का ही आधुनिक रूप लांड्री चलाना आदि है।

८०. प्रकामाय रजयित्रीम्

प्रकामाय– उपर्युक्त वस्त्र सफाई के कार्य में वस्त्रों को रंगने आदि के उत्कृष्ट कामों के लिए **रजयित्रीम्** – वस्त्रों को स्वच्छ कर रंगने की कला में दक्ष रंगकर्ता रजक को **आलभते** सब जगह से प्राप्त कर समाज व्यवस्था में लगाया जाता है

९-गुप्तचर, शत्रुता आलोचक, क्षत्ता, अनुक्षत्ता, अनुचर, परिष्कन अर्थात् भूमिव्यवस्थापक, प्रियवादी, अश्वसाद, भागदुह, परिवेष्टा

ऋतये स्तेनहृदयं वैरहत्याय पिशुनं विविक्तयै क्षत्तारमौपद्रष्ट्र्यायानुक्षत्तारं, बलायानुचरं भूम्ने परिष्कन्दं प्रियाय प्रियवादिनमरिष्ट्या अश्वसादँ स्वर्गाय लोकाय भागदुघँव्वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारम् ।।१३।।

८१. ऋतये स्तेनहृदयम्

ऋतये– समाज के, राष्ट्र के और शत्रुओं के आन्तरिक तथ्यों की जानकारी के लिए **स्तेनहृदयम्** – तथ्यों को अपने हृदय में छुपाकर रख सकने वाले गुप्तचर को **(आलभते)** सम्पूर्ण समाज से चयन विधि से प्राप्त कर राष्ट्र व्यवस्था में नियुक्त किया जाता है।

मीमांसा- इस श्रुति से यह स्पष्ट है कि, वैदिक काल में समाज के सुख-दुख और राष्ट्र के प्रति भावना की सम्यक् जानकारी के लिए गुप्तचर रखने की व्यवस्था थी, जिससे समाज की मूलभूत आवश्यकताओं को ठीक ठीक समझकर उसकी उचित व्यवस्था की जा सके।

८२. वैरहत्याय पिशुनम्

वैरहत्याय– शत्रुता का विनाश करने के लिए **पिशुनम्** शत्रु के शत्रु भावों की निन्दा करने वाले को **(आलभते)** सम्पूर्ण समाज से चयन विधि से प्राप्त कर राष्ट्र व्यवस्था में संयुक्त किया जाता है।

मीमांसा– श्रुति ने यहाँ समाज में परस्पर, राष्ट्राध्यक्षों, राजाओं, प्रशासकों, शिक्षकों, और अन्य विविध कार्यों में लगे हुए लोगों में परस्पर ईर्ष्या के कारण उत्पन्न होने वाले वैर-शत्रुता के विनाश के लिए इस प्रकार की ईर्ष्या की निन्दा करने वालों को समाज में संयुक्त करने की व्यवस्था दी है जिससे लोग ईर्ष्या के अवगुणों को समझ कर ईर्ष्यामुक्त होकर परस्पर प्रेमपूर्वक सहयोग करते हुए, स्वयं की, समाज की और राष्ट्र की उन्नति में सन्लग्न हो सकें।

८३. विविक्त्यै क्षत्तारम्

विविक्त्यै– विविज्यते, विनक्ति, विङ्क्ते, वेवेक्ति वा सा विविक्तिः तस्यै–स्वच्छता पवित्रता और स्पष्ट विजन के लिए **क्षत्तारम्– क्षदति संबृणोति इति क्षत्ता**– क्षत्ता शब्द के अर्थ अमरकोश में इस प्रकार हैं—

नियन्ता प्राजिता यन्ता सूतः क्षत्ता च सारथिः।
सव्येष्ट्रदक्षिणस्थौ च संज्ञा रथकुटुम्बिबनः।। (२/५९)

अर्थात् नियंत्रित करने वाले, विजय दिलाने वाले, स्वच्छता और पवित्रता की व्यवस्था करने वाले, आवश्यकता पर एकांत स्थान की व्यवस्था करने वाले, उत्कृष्ट मार्गदर्शन करने वाले, विविध रथों को सुव्यवस्थित चलाने वाले, सारथी को **(आलभते)** अच्छी तरह से चयनित किया जाता है।

मीमांसा– यहाँ वेद ने स्वच्छता, पवित्रता और स्पष्ट विजन के लिए क्षत्ता अर्थात् सारथी को समाज से चुनने की बात कही है, यह बहुत व्यापक विषय है। सामान्यतया क्षत्ता शब्द का प्रयोग सारथी के लिए किया गया है, जैसे भगवान कृष्ण अर्जुन के सारथी हैं। उनमें यहाँ बताये गये सारथी के सभी गुण हैं। वह अर्जुन को मोह के समय उसके कर्तव्य विजन का मार्ग दर्शन करते हैं। वे रथ को उचित ढंग से चलाने की सम्पूर्ण कला में दक्ष हैं। उनमें पवित्रता है, इस प्रकार श्रेष्ठ चिन्तन एवं स्पष्ट विजन से युक्त व्यक्ति को सारथी बनाने की बात श्रुति में स्पष्ट की गयी है। साथ ही स्वच्छता रखने के लिए स्वच्छता कर्मियों और स्वच्छता अधिकारियों की समाज में व्यवस्था करने की आवश्यकता भी स्पष्ट की गयी है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक कालीन समाज में ऐसे कर्म का वरण कर अपनी आजीविका चलाने वालों की व्यवस्था भी थी। जैसा कि कोश में दिये विविधार्थों में रथ कुटुम्बी शब्द से इस वर्ग का सम्बोधन किया गया है। जिससे यह स्पष्ट होता है कि, विविध मार्गों की स्वच्छता, पवित्रता, मार्गों पर विविध प्रकार के रथ या वाहन संचालन की दक्षता, और आवश्यकतानुसार प्रशासक वर्ग को संदेह के समय उचित मार्गदर्शन की योग्यता के प्रशिक्षण से युक्त, समाज में यह एक उत्कृष्ट वर्ण या वर्ग था। कालान्तर में जन्मना ऊँच-नीच की स्थापना करने के प्रयास में कुछ लोगों ने स्मृतियों में ऐसी प्रक्षिप्त बातें लिखीं और जोड़ीं कि चार वर्णों के अतिरिक्त अन्य वर्णसंकर हैं, किन्तु यह बात नितांत झूठ, वेद विरुद्ध, और समाज में भ्रान्ति फैलाने वाली है। क्योंकि इस प्रकार के वर्णसंकर की परिकल्पना किसी भी वेद में कहीं भी नहीं है। यहाँ इस यजुर्वेद के ३०वें अध्याय में स्पष्ट रूप से अपनी योग्यता एवं रुचि के आधार पर वरण करने वाले कर्मों को ही वर्ण शब्द से कहा गया है।

८४. औपद्रष्ट्याय अनुक्षत्तारम्

औपद्रष्ट्याय- निरीक्षण के लिए **अनुक्षत्तारम्** निरीक्षण करने वाले को **आलभते**- सम्पूर्ण समाज से चयन विधि से प्राप्त किया जाता है।

मीमांसा- अपने-अपने कार्य के लिए नियुक्त किये गये लोग ठीक से कार्य कर रहे हैं, कि नहीं, इसका निरीक्षण करने के लिए उन-उन कार्यों के जानकार योग्य निरीक्षक नियुक्त करना चाहिए।

८५. बलाय अनुचरम्

बलाय- बल के लिए, सेना के लिए **अनुचरम्** – राष्ट्र के हित का अनुसरण करने वाले राष्ट्रभक्त जन को **(आलभते)** सम्पूर्ण समाज से चयन विधि से प्राप्त कर राष्ट्र व्यवस्था में संयुक्त किया जाता है।

मीमांसा- यहाँ समाज में न्याय, नीति पर चलने वाले लोंगों की संरक्षा-सुरक्षा के लिए और अन्याय, अनीति से दूसरों का शोषण करने वालों को रोकने के लिए, बनायी गयी सेना में, ऐसी राष्ट्रीय न्याय, नीति में श्रद्धा रखने वाले सेवकों को, राष्ट्र-व्यवस्था में नियुक्त करने की बात श्रुति में स्पष्ट की गयी है।

८६. भूम्ने परिष्कन्दम्

भूम्ने – भूमि की व्यवस्था के लिए- भूमि के विभाग प्रान्त, मंडल, जनपद, तालुका आदि की व्यवस्था के लिए **परिष्कन्दम्** – इन सब जगहों में भ्रमण कर निरीक्षण करने वाले योग्य व्यक्ति को **(आलभते)** सब जगह से चयन किया जाता है।

८७. प्रियाय प्रियवादिनम्

प्रियाय- राज्यों में और लोगों में भी परस्पर एक दूसरे का प्रिय करने के लिए **प्रियवादिनम्**- प्रिय-मधुर वचन बोलने वाले को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त कर ऐसे कार्यों के लिए नियुक्त किया जाता है।

मीमांसा- यहाँ समाज में आपसी विवाद को समझा कर सुलझाने के लिए, और राज्यों में एक दूसरे के प्रति अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने के लिए, इस कार्य में दक्ष,योग्य मृदुभाषी प्रिय बोलने वाले लोगों को ऐसे कार्य के लिए नियुक्त करने की व्यवस्था श्रुति में दी गयी है।

८८. अरिष्ट्यै अश्वसादम्

अरिष्ट्यै- घुड़सवारी आदि सीखने में होने वाले आघातों से रक्षा के लिए **अश्वसादम्-** अश्व को साधने एवं चलाने में पूर्ण प्रशिक्षित दक्ष घुड़सवारों को **(आलभते)** सब जगह से चयनित किया जाता है।

मीमांसा- यहाँ श्रुति ने स्पष्ट किया है कि, घुड़सवारी आदि का क्षति रहित उचित प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए इस प्रकार के कार्य में पूर्ण प्रशिक्षित घुड़सवार आदि को ऐसा प्रशिक्षण देने के लिए नियुक्त होना चाहिए।

८९. स्वर्गाय लोकाय भागदुघम्

स्वर्गाय लोकाय- लोक में उत्तम सुख की प्राप्ति के लिए **भागदुघम्-** भाग के अनुसार दोहन करने वाले को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त किया जाता है।

मीमांसा- लोक में उत्तम सुख की स्थापना के लिए, प्रकृति की अपेक्षा के अनुसार ही दोहन हो, जिससे पर्यावरण शुद्ध रहे। प्रकृति के किसी भी पक्ष की क्षति न हो, अपितु प्राकृतिक संतुलन बना रहे, इसके लिए राजा या राष्ट्राध्यक्ष को, योग्य प्रकृति के विविध विषयों के जानकार लोगों को, राष्ट्र-व्यवस्था में नियुक्त कर, प्रकृति की क्षति रोकने और प्राकृतिक आपदाओं से बचाने के लिए, प्रकृति के विविध भागों के उचित दोहन की बात कही गयी है। ऐसे लोगों को ही यहाँ भागदुह कहा गया है।

९०. वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारम्

वर्षिष्ठाय नाकाय– श्रेष्ठ स्वाथ्य सुख के लिए **परिवेष्टारम् –** परोसने की कला के उत्तम जानकार को **(आलभते)** भलीभाँति चयनित किया जाता है।

मीमांसा- इस श्रुति से स्पष्ट होता है कि भोजन करने में उचित क्रम के अनुसार ही भोज्य पदार्थों को खाना चाहिए। उससे स्वास्थ्य ठीक रहता है। क्रम भंग कर अनुचित आहार से स्वाथ्य खराब हो जाता है। अतः भोजन व्यवस्था के जानकार लोगों को ही भोजन परोसने की बात कही गयी है। यह मंत्रांश इसके पहले बारहवें मंत्र में ७४वें नम्बर पर भी आया है। यहाँ पुनः

आया है। इसका अभिप्राय यह है कि पहली बार घर में भोजन के सम्बन्ध में कहा गया है और दुबारा यात्रा में और समूह में भोजन परोसने के सम्बन्ध में कहा गया है।

१० - अयस्ताप अर्थात् लोहार, निसर अर्थात् शांति उपदेशक, योक्ता अर्थात् नियोक्ता, अभिसर्ता, विमोक्ता, त्रिष्ठिन, मानसकृत अर्थात् मनोचिकित्सक, शील अंजनीकारी अर्थात् शील शिक्षिका कोशकार और न्यायिक प्रशासक

मन्यवेऽयस्तापं, क्रोधाय निसरं, योगाय योक्तारं, शोकायाभिसर्तारं, क्षेमाय विमोक्तारमुत्कूलनिकूलेभ्यस्त्रिष्ठिनं, वपुषे मानसकृतं शीलायाञ्जनीकारीं, निर्ऋत्यै कोशकारीं यमायासूम्।।१४।।

९१. मन्यवेऽयस्तापम्

मन्यवे– लोहे से बनी हुई वस्तुओं में तेज धारण के लिए **अयस्तापम्** – इस कार्य में दक्ष लोहा तपाने वाले को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त किया जाता है।

मीमांसा– यहाँ लोहे के औजारों को बनाने, उनमें तेज धार स्थापित करने के लिए इस कार्य में दक्ष, इस कार्य को अपनी आजीविका के रूप में वरण करने वाले को अर्थात् लोहार को समाज व्यवस्था में लगाने की बात श्रुति ने स्पष्ट की है।

९२. क्रोधाय निसरम्

क्रोधाय– क्रोध को हटाने के लिए, क्रोध से बचने के लिए **निसरम्**– जिन्होंने अपने भीतर से क्रोधादि विकारों को निकाल दिया है, और जो अपने सदुपदेश के द्वारा दूसरों के भीतर से भी क्रोधादि विकारों को निकाल सकने में सक्षम हैं, ऐसे सदुपदेशक को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त किया जाता है।

९३. योगाय योक्तारम्

योगाय - योग के लिए, अर्थात् विविध कार्यों में लोगों को युक्त करने के लिए **योक्तारम्** - उन-उन कार्यों में दक्ष योग्य लोगों को युक्त करने के योग्य व्यक्ति को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त किया जाता है।

९४. शोकाय अभिसर्तारम्

शोकाय– विविध प्रकार के कार्यों को शोक-मुक्त या चिन्ता-मुक्त बनाने के लिए **अभिसर्तारम्–** उन-उन कार्यों में तक्ष दक्ष आगे चलने योग्य अग्रगामी को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त कर इस प्रकार के कार्य में संयुक्त किया जाता है।

९५. क्षेमाय विमोक्तारम्

क्षेमाय- कल्याण के लिए **विमोक्तारम् –** आसक्ति से विमुक्त कर अध्यात्म में लगाने वाले आत्मज्ञानी निष्काम कर्मयोगी को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त किया जाता है।

९६. उत्कूलनिकूलेभ्यः त्रिष्ठिनम्

उत्कूलनिकूलेभ्यः – नदियों के किनारों पर, पानी के चढ़ाव और उतार के स्थानों के लिए **त्रिष्ठिनम्** तीनों स्थानों में रह कर कार्य करने में सक्षम जन को **(आलभते)** अच्छी तरह से चयनित किया जाता है।

९७. वपुषे मानस्कृतम्

वपुषे- शरीर की सौम्य तेजस्विता के लिए **मानस्कृतम्- ''आत्मनः शुद्धत्वं मनसा योजयिता एव अत्र मानस्कृतः तम्''** मन के द्वारा आत्मा की शुद्धता को जोड़ने वाले को ही यहाँ मानस्कृत कहा गया है। इस प्रकार जिसने अपनी आत्मा की पवित्रता को मन के साथ संयुक्त कर रखा है, ऐसे पवित्रमना लोगों को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त किया जाता है।

मीमांसा- शरीर में तेजस्वितापूर्ण कान्ति, आत्मा की शुद्धता के साथ, मन के योग के बिना सम्भव नहीं है। लोगों में इस प्रकार की सौम्यतापूर्ण कान्ति लाने के लिए, जो अन्तःकरण से शुद्ध, मन, वाणी और कर्म से एक, सौम्य कान्ति युक्त, दूसरों में भी सदुपदेश के द्वारा अन्तःकरण की पवित्रता को लाने में सक्षम हैं, अर्थात् अपने सदुपदेश से लोगों के अन्तःकरण को पवित्र कर लोगों में सौम्यता युक्त कान्ति स्थापित करने में सक्षम हैं, ऐसे सज्जनों को सब जगह से प्राप्त कर समाज के उत्कर्ष में लगाये जाने का विधान श्रुति द्वारा किया गया है।

९८.शीलाय अञ्जनी-कारीम्

शीलाय– नारियों में सदाचरण-सम्पन्न सुशीलता स्थापित करने के लिए **अञ्जनी-कारीम्–** अञ्जन से दृष्टि को शुद्ध करने वाली नारी की भाँति सूक्ष्म आचरण का ज्ञान रखने वाली और उपदेश देने में सक्षम ऐसी नारी जो अन्य नारियों में भी अपने उपदेश के द्वारा सदाचरण की स्थापना कर सके, ऐसी नारी को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त किया जाता है।

मीमांसा– यहाँ श्रुति ने नारियों का सौन्दर्य उनके शीलयुक्त सदाचरण में ही होता है, ऐसा माना है। इस तथ्य के दृष्टिगत नारियों में ऐसे शील की स्थापना के लिए, ऐसी शीलयुक्त सदाचरणसम्पन्न नारी को सब जगह से प्राप्त कर समाज-व्यवस्था में शिक्षणार्थ और उपदेशार्थ नियुक्त करने का विधान किया है।

९९. निर्ऋत्यै कोशकारीम्

निर्ऋत्यै आपत्ति काल के लिए **कोशकारीम्** कोश संग्रह करने में सक्षम कोशकार को **(आलभते)** समग्र समाज से चयन कर राष्ट्र व्यवस्था में नियुक्त किया जाता है।

मीमांसा– राष्ट्र में राष्ट्र की किसी आपातकालीन व्यवस्था के लिए, राजा या राष्ट्राध्यक्ष के पास अच्छे कोश की व्यवस्था होनी चाहिए, और उस व्यवस्था के लिए कोश संग्रह की व्यवस्था एवं कोश संरक्षा की व्यवस्था के साथ ही, समुचित कोशकार की व्यवस्था की जानी चाहिए। आपातकालीन राष्ट्र की कठिनता को दूर करने के लिए, लोंगों की संरक्षा व सुरक्षा के लिए, आवश्यक खान-पान के लिए, इस राष्ट्रकोश का उपयोग होना चाहिए। इसी तथ्य को यहाँ दर्शाया गया है।

१००. यमाय असूम्

यमाय- नियमों का पालन कराने के लिए **असूम् –** नियमों में निष्ठा रखने वाले पक्षपातरहित प्रशासक को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त कर राष्ट्र व्यवस्था में नियुक्त किया जाता है।

११- यम अर्थात् न्याय-नियम-निर्माता, अथर्वगण अर्थात् संरक्षक समूह, पर्याययिणी अर्थात् शिशुओं के प्रथम वर्ष की

संरक्षिका, अविजाता अर्थात् शिशुओं की द्वितीय वर्ष की संरक्षिका, अतीत्वरी अर्थात् शिशुओं के तृतीय वर्ष की संरक्षिका व शिक्षिका, अतिस्कद्वरी अर्थात् शिशुओं के पंचम वर्ष की संरक्षिका व शिक्षिका, विजर्जरा अर्थात् जन्म से पाँचवे वर्ष तक शिशुओं की संरक्षिका, पालिका व शिक्षिका वृद्ध अनुभवी स्त्री, पलिक्नि अर्थात् शिशु के चतुर्थ वर्ष की संरक्षिका व पालिका, जिसके बाल सफेद हो गये हैं, ऐसी स्त्री, चमड़ा शोधन करने वाले और चमड़े को सिलकर व जोड़कर विविध वस्तुएँ बनाने वाले द्विविध चर्मकार–

यमाय यमसूमथर्वभ्योऽवतोकां, संवत्सराय पर्यायिणीं परिवत्सरायाविजातामिदावत्सरायातीत्वरीमिद्वत्सरायातिष्कद्वरीं, वत्सराय विजर्जरां संवत्सराय पलिन्कीमृभुभ्योऽजिन्धं, साध्येभ्यश्चर्मम्नम्।।१५।।

१०१. यमाय यमसूम्

यमाय– राष्ट्रीय प्रशासनिक नियमों के निर्धारण के लिए **यमसूम्–** राष्ट्रीय नियमों के निर्माण में दक्ष, योग्य, अनुभवी प्रशासक को **आलभते** सब जगह से प्राप्त कर राष्ट्र व्यवस्था में नियुक्त किया जाता है।

१०२.अथर्वभ्यः अवतोकाम्

अथर्वभ्यः– "न थर्वतीति अथर्वः तेभ्यः" जिनमे चंचलता नहीं है, ऐसे स्थिरचित्त लोगों के लिए **अवतोकाम्–"अवतुन्जति रक्षति इति अवतोका तम"** संरक्षक समूह का नाम अवतोका है, ऐसे संरक्षक समूह को **(आलभते)** भलीभाँति चयनित किया जाता है।

मीमांसा– यहाँ श्रुति ने यह स्पष्ट किया है कि समाज में नैतिक, सच्चरित्र लोगों की, दुर्जनों से सुरक्षा के लिए, समाज के भीतर प्रवेश कर समाज की सुरक्षा करने वाले, संरक्षक समूह की व्यवस्था की जानी चाहिए।

१०३. संवत्सराय पर्यायिणीम्

संवत्सराय– शिशुओं के पालन की प्रथम वर्ष में आवश्यक व्यवस्था का ज्ञान कराने के लिए **पर्यायिणीम्–** प्रथम वर्ष के शिशु-पालन के कालक्रम को जानने वाली स्त्री को **(आलभते)**- अच्छी तरह सम्पूर्ण समाज से चयनित किया जाता है।

१०४. परिवत्सराय अविजाताम्

परिवत्सराय– शिशुओं के पालन की द्वितीय वर्ष में आवश्यक व्यवस्था का ज्ञान कराने के लिए **अ-विजाताम्– अप्रसूताम्- ''अविवाहितां ब्रह्मचारिणीं कुमारीं विदुषीं''** अप्रसूता, अविवाहिता, कुमारी, विदुषी स्त्री को **(आलभते)** अच्छी तरह से चयनित किया जाता है।

१०५. इदावत्सराय अतीत्वरीम्

इदावत्सराय- शिशुओं के पालन की तृतीय वर्ष में आवश्यक व्यवस्था का ज्ञान कराने के लिए **अतीत्वरीम् –** बच्चों में शीघ्रतापूर्वक ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा के अनुकूल, उसी तीव्रता से ज्ञान कराने में सक्षम विदुषी स्त्री को **(आलभते)** अच्छी तरह से चयनित किया जाता है।

१०६. इद्वत्सराय अतिष्कद्वरीम्

इद्वत्सराय– शिशु-पालन के पंचम वर्ष के लिए **अतिष्कद्वरीम् –** अत्यन्त ज्ञानी स्त्री को **(आलभते)** अच्छी तरह से चयनित किया जाता है।

१०७. वत्सराय विजर्जराम्

वत्सराय- शिशु-पालन के प्रारम्भिक सम्पूर्ण पंचवर्षात्मक युग के लिए **वि-जर्जराम् –** विशेष रूप से वृद्ध अनुभवी स्त्री को **(आलभते)** अच्छी तरह से चयनित किया जाता है।

१०८. संवत्सराय पलिक्नीम्

संवत्सराय- शिशु-पालन के चतुर्थ वर्ष के लिए **पलिक्नीम् –** जिसके बाल सफेद हो गये है, ऐसी वृद्ध स्त्री को **(आलभते)** अच्छी तरह से चयनित किया जाता है।

१०९. ऋभुभ्योऽजिनसंधम्

ऋभुभ्यः – चमड़े की विविध कला पूर्ण वस्तुओं के निर्माण के लिए **अजिनसंधम् –** मृत पशुओं से निकाले गये चमड़े को शोधन कर सिलने और जोड़ने की कला में दक्ष व्यक्ति को **(आलभते)** अच्छी तरह से चयनित किया जाता है।

मीमांसा- ऋभुभ्यः– ''ऋभव उरु भान्तीति वा, ऋतेन भान्तीति वा, ऋतेन भवन्तीति वा[१] **ऋभु इति मेधाविनाम**[२] **ऋभुभ्यः कालसंधान हेतुभ्यः''**, इन विविध निरुक्तियों से ऋभु शब्द के यह विविध अर्थ होंगे— जो सत्य के द्वारा प्रकाशित है, जो सत्य ज्ञान में जागृत है, जो विविध कलाओं के ज्ञान में दक्ष हैं, जो समय के अनुसार आवश्यक कार्य करने में दक्ष है। ऐसे कलाकार आदि को ऋभु कहते हैं। चूँकि आगे चमड़े की कला का उल्लेख है, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि, चमड़े की विविध कलापूर्ण वस्तुओं के निर्माण के लिए **अजिनसंधम् – अजति गछति क्षिपति वा तत् अजिनम् (अजेरज च**[३]**)** इति **इनक्ष प्रत्ययेन अजिन शब्दसिद्धि सूत्रेण** अमरकोश में अजिन शब्द मृगादियों के चर्म के अर्थ में प्रयुक्त है- **अजिनं चर्म कृतिः स्त्री**[४] इस प्रकार इस निरुक्ति से यह स्पष्ट होता है कि जो मृत पशु के चमड़े को निकालता है, उसका शोधन करके उसे कोमल, योग्य, विविध वस्तुओं के निर्माण योग्य बनाकर, उन्हें सिलकर अथवा अन्य कलाओं से उन्हें जोड़कर, चमड़े की विविध वस्तुओं का निर्माण करने में दक्ष होता है। उसे अजिनसंध अथवा चर्मकार कहते हैं। ऐसे चमड़े के कार्य करने में दक्ष लोगों को, जो इस कर्म को अपनी आजीविका के रूप में वरण करना चाहते हैं, उन्हें सब जगह से प्राप्त कर ऐसे कार्यों में लगाया जाय, और उन्हें इस प्रकार के कार्य करने की सुविधा प्रदान की जाय।

११०. साध्येभ्यः चर्मम्नम्

साध्येभ्यः – चमड़े के कार्य के द्वारा जो भी कर्म अथवा वस्तु साध्य है उसके लिए **चर्मम्नम्** – चमड़े के कार्य को अपनी आजीविका के रूप में चुनने वाले व्यक्ति को **आलभते** सब जगह से प्राप्त किया जाता है।

मीमांसा- ऋभुभ्यः अजिनसन्धम् और साध्येभ्यः चर्मम्नम् ये दोनों सूत्र मिलकर सम्पूर्ण होते हैं। इन दोनो मंत्रों से यह स्पष्ट होता है कि, मृत पशुओं के चमड़े को निकालकर, उससे अनेक वस्तुएँ बनायी जाती

---

१. निरुक्त ११/१५, १/११०/१ २. निरुक्त ३/१५
३. उणादि ५/४८। ४. अमरकोश २ ब्रह्मवर्ग ४६।

थीं। और इस कार्य में समाज का वह वर्ग, जो इस कला को अपनी आजीविका के रूप में चुनता था, लगा हुआ था। इस वर्ग को इस कला की दृष्टि से सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था, इसीलिए उसे ऋभु शब्द से भी सम्बोधित किया गया है। क्योंकि उसकी कला श्रेष्ठ, बुद्धिमत्ता पूर्ण स्तर की होती थी। यह वर्ग चमड़े से अत्यन्त ठण्डे प्रदेशों के लिए चमड़े के बिछावन, चमड़े के वस्त्र आदि से लेकर, मैदानी क्षेत्रों में चमड़े के जूते, पानी डालने के चमड़े के मोट, पुढ़, लोहे को गलाने के लिए चमड़े की धौकनी, और विविध प्रकार के वाद्य जो चमड़े से बनाये जाते थे, उनको बनाता था। इन वाद्यों का विविध संगीत आदि में प्रयोग होता था। इन वाद्यों को बनाने वाला यह वर्ग स्वयं भी इन वाद्यों को बजाने में दक्ष एवं योग्य होता था। अभी कुछ समय पूर्व तक सिंचाई के लिए पुढ़, आदि का निर्माण चमड़े से ही होता था। वर्तमान में भी संगीत के अनेक वाद्य चमड़े से ही बन रहे हैं। वेद के इन मंत्रों से स्पष्ट है कि, इस कर्म को अपनी आजीविका के रूप में चुनने वाले लोगों को हेय दृष्टि से, या अपमान की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। अन्य वर्णों की भाँति चर्म को कर्म के रूप में चुनने वाला चर्मकार भी समान सम्मानपूर्ण कलाकार के रूप में ही देखा जाता था। उसे समाज में अन्य कलाकारों की भाँति ही सम्मानित दृष्टि से देखा जाता था। यहाँ यह अवश्य ही ध्यान में रखना चाहिए कि यह सारा कार्य स्वयं से मृत पशुओं के चमड़े से किया जाता था, न कि जीवित पशुओं को मारकर।

१२– धीवर, दास, बिन्द, शुष्कल या नडवल, मार्गार, केवट, आन्द अर्थात् तैरना सिखाने वाला, मैनाल, पर्णक अर्थात् तुरही वादक, किरात, जम्भ अर्थात् पहाड़ पर रक्षा करने वाला सैनिक, किंपुरुष अर्थात् पहाड़ों को और पहाड़ी मार्गों को जानने वाला व्यक्ति–

सरोभ्यो धैवरमुपस्थावराभ्यो दाशं वैशन्ताभ्यो बैन्दं नड्वलाभ्यः शौष्कलं पाराय मार्गारमवाराय कैवर्तं, तीर्थेभ्य आन्दं विषमेभ्यो मैनालं स्वनेभ्यः पर्णकं गुहाभ्यः किरातं सानुभ्यो जम्भकं पर्वतेभ्यः किंपूरुषम्।।१६।।

१११. सरोभ्यः धैवरम्

सरोभ्यः – सरोवरों-तालाबों के लिए **धैवरम्–''दधाति इति धीवरः, नौका वाहको वा, धीवरात् धैवरः तम्''** जो सरोवरों के जल की रक्षा करता है, अथवा सरोवर के जल में सिंघाड़ा आदि की कृषि करता है, उसके भीतर विशेष प्रकार की नौका चलाता है, उसे धीवर कहते हैं। ऐसा धीवर का काम करने वाला ही धैवर है। ऐसे धैवर को **(आलभते)** सब जगह से इस कार्य के लिए प्राप्त किया जाता है।

मीमांसा– यहाँ सरोवरों के जल में विविध प्रकार के उत्पादन को उत्पन्न करने के लिए, और इस प्रकार के उत्पादों को अपनी आजीविका के रूप में वरण करने वाले लोगों को धीवर और धैवर कहा गया है, और उन्हें इस प्रकार के कार्यों में लगाकर समाज व्यवस्था में संयुक्त किया गया है।

११२. उपस्थावराभ्यः दाशम्

उपस्थावराभ्यः– ''तरूणां समीपे प्रवाहमन्तरेण स्थिताः याः आपः तेभ्यः'' पेड़ों के समीप स्थित, स्थिर जल वाले सरोवरों अर्थात् उपवन में विशेष रूप से निर्मित सरोवरों को उपस्थावर कहते हैं। ऐसे उपवनीय सरोवरों के लिए, उस सरोवर के जल और उसके समीप स्थित वृक्षों को व्यवस्थित और स्वच्छ रखने के लिए, **दाशम्–''दशति पश्यति वा स दाशः तम्''** उनमें मत्स्य आदि को रखता है, उनकी देख-रेख करता है, ऐसे धीवर को दाश कहते हैं। ऐसे उपवनों में स्थित सरोवरों में मत्स्य आदि को पालकर उनकी और उस सरोवर के जल की देख-रेख करने वाले व्यक्ति-धीवर-दाश को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त किया जाता है।

मीमांसा- सार्वजनिक उपवनों और विशेष रूप से राजाओं आदि के यहाँ बनाये गये उपवनों में निर्मित सरोवरों में कमल आदि पुष्पों के उत्पादन, उनमें मत्स्य आदि के पालन द्वारा जल को स्वच्छ रखने वाले, उसकी देख-रेख करने वाले और उनकी सुरक्षा के लिए ऐसे कर्म को अपनी आजीविका के रूप में चुनने वाले वेतनभोगी दास-धीवर को, सब जबह से प्राप्त कर ऐसी व्यवस्था में लगाना चाहिए।

११३. वैशन्ताभ्यः बैन्दम्

वैशन्ताभ्यः – "छोटे-छोटे जलाशयों के प्रबन्ध के लिए **बैन्दम् – बिन्दुः जलं तेन जीवति इति बैन्दः तम्**" जो बिन्दु-बिन्दु जल को इकट्ठा कर छोटे-छोटे तालाबों से अपनी आजीविका चलाता है, ऐसे निषादों, धीवरों को बिन्द कहते है। बिन्द से ही बैन्द बनता है। ऐसे बैन्द को, ऐसे कार्य को अपनी आजीविका के रूप में चुनने वाले व्यक्ति को, **(आलभते)** अच्छी तरह से प्राप्त किया जाता है।

मीमांसा- यहाँ छोटे-छोटे तालाबों से, उनकी सुरक्षापूर्वक अपनी आजीविका चुनने वाले धीवरों अर्थात् बैन्दों को ऐसे कार्य में लगाये जाने की बात बतायी गयी है।

११४. नड्वलाभ्यः शौष्कलम्

नड्वलाभ्यः – "**नडवलसंयुक्तदेशवर्तिजलाशेभ्यः**"नडवल-नरकट-नरकुल-नरशल अधिक होने वाले स्थानों में स्थित तालाबों के लिए **शौष्कलम्** – "**सुष्कलम् बडीसम्**" जो नरकट आदि को सुखाकर उनसे विविध प्रकार की चीजें बनाने में सक्षम हैं, ऐसे लोगों को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त कर इस कार्य में लगाया जाता है।

मीमांसा- जो नरकट आदि और उनके समीप स्थित तालाबों से अपनी आजीविका के उत्पादन तैयार करने में सक्षम हैं, ऐसे लोगों को ऐसे सरोवरों की व्यवस्था को दिये जाने का निर्देश यहाँ दिया गया है।

११५. पाराय मार्गारम्

पाराय– "**परतीरगमनाय**" नदी आदि के पार जाने के लिए, नदियों के तट पर **मार्गारम्** – नदी में, और नदी के दोनो तरफ के मार्गों को जानने वाले को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त कर इस कार्य में नियुक्त किया जाता है।

मीमांसा- मार्ग में पड़ने वाली नदियों से पार कराने के लिए, नदी के दोनों तरफ के मार्ग को जानने वाले, नौका से उचित मार्ग से उचित मार्ग तक ले जाने में सक्षम, इस कर्म को अपनी आजीविका रूप चुनने वाले लोगों को, इस कार्य में लगाने की व्यवस्था बतायी गयी है।

११६. अवाराय कैवर्तम्

अवाराय – जल के स्थानों में आश्रय के लिए **कैवर्तम् – "के उदके वर्तते इति कै वर्तः तम्"** जो पानी में रह सकते हैं, पानी में डूबने वालों की सहायता कर सकते हैं, ऐसे कुशल तैराक और गोताखोरों को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त कर इस कर्म में संयुक्त किया जाता है।

मीमांसा– नदियों के तट पर, जहाँ लोगों के पार जाने के समय, नहाने के समय, डूबने के खतरे होने की सम्भावनाएँ होती हैं, ऐसी जगहों पर कुशल तैराक और गोताखोरों को, आवासीय आश्रय और आजीविका प्रदान कर उनकी व्यवस्था की जाने का निर्देश दिया गया है जिससे जल में डूबने आदि के खतरे से लोगों की रक्षा की जा सके। ऐसे तैराकों और गोताखोरों को ही यहाँ कैवर्त कहा गया है। वर्तमान में केवट नाम से यह वर्ण समुदाय जाना जाता है।

११७. तीर्थेभ्यः आन्दम्

तीर्थेभ्यः– तैरने के लिए उपयुक्त स्थानों में तैरने के लिए, और तैरना सिखाने के लिए **आन्दम्**– जिससे शरीर पानी में न डूबे, ऐसे पदार्थों को बाँधकर तैरना सिखाने वाले व्यक्ति को **(आलभते)** अच्छी तरह प्राप्त किया जाता है।

११८. विषमेभ्यः मैनालम्

विषमेभ्यः – विषम ऊँचे नीचे व विकट स्थानों के लिए **मैनालम्** – जो ऐसे स्थानों में सहायता करने में पूर्ण सक्षम हो ऐसे व्यक्ति को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त किया जाता है।

११९. स्वनेभ्यः पर्णकम्

स्वनेभ्यः – सूचनात्मक ध्वनि करने के लिए **पर्णकम्** – तुरही आदि बजाने वाले को **(आलभते)** सब जगह से प्राप्त किया जाता है।

१२०. गुहाभ्यः किरातम्

गुहाभ्यः – गुहाओं के लिए या पर्वतों एवं जंगलों में स्थित महत्वपूर्ण स्थानों और गुफा आदि में रहने वाले ऐकान्तिक लोगों की सुरक्षा के लिए

किरातम्- जंगल के हिंसक पशुओं को मारने में सक्षम व्यक्ति अर्थात् किरात को **(आलभते)** अच्छी तरह चयनित किया जाता है।

१२१. सानुभ्यः जम्भम्

सानुभ्यः – पर्वतों के उपरी स्थानों के लिए **जम्भम्–** शत्रु को दूर से देखकर ही नष्ट कर देने में सक्षम व्यक्ति को **(आलभते)** अच्छी तरह प्राप्त किया जाता है।

१२२. पर्वतेभ्यः किम्पूरुषम्

पर्वतेभ्यः– पर्वतों की सुरक्षा के लिए **किंपुरुषम्–** पर्वतों में रहने वाले, पर्वतों की विविध परिस्थितियों को जानने वाले, विशिष्ट पर्वतीय व्यक्ति अर्थात् किंपुरुष को **(आलभते)** अच्छी तरह से प्राप्त किया जाता है।

१३- पौल्कस, हिरण्यकार व स्वर्णकार, तोलने वाला वणिज या वणिक, मोटापा को दूर करने वाला ग्लावी, सिध्मल अर्थात् सभी प्राणियों का सुख सिद्ध करने वाला, उन्नति के लिए जागरण, अवनति के लिए स्वप्न, जनवादी अर्थात् आर्तरक्षक, वृद्धि के लिए अपगल्भ अर्थात् निरहंकारी, प्रच्छिद अर्थात् वाण निर्माता–

बीभत्सायै पौल्कसं, वर्णाय हिरण्यकारं, तुलायै वाणिजं, पश्चादोषाय ग्लाविनं, विश्वेभ्यो भूतेभ्यः सिध्मलं, भूत्यै जागरणमभूत्यै स्वपनमार्त्यै जनवादिनं व्यृद्धया अपगल्भं, सँशराय प्रच्छिदम्।।१७।।

१२३. बीभत्सायै पौल्कसम्

बीभत्सायै- क्रूर कर्म करने वालों को दण्डित करने के लिए **पौल्कसम्-** **''पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्''** पृषोदरादिगण में पठित शब्द जैसे उपदिष्ट हैं वैसे ही रहते हैं। क्रूर दण्ड देने में सक्षम व्यक्ति को **(आलभते)** अच्छी तरह प्राप्त किया जाता है।

१२४. वर्णाय हिरण्यकारम्

वर्णाय- भास्वर वर्ण युक्त आभूषण, मणिमुक्ता, स्वर्ण मुकुट, हार आदि के निर्माण के लिए एवं इन आभूषणों से लोगों का रूप निखारने के

लिए **हिरण्यकारम्-** सोने के आभूषण बनाने में दक्ष योग्य व्यक्ति अर्थात् स्वर्णकार को **आलभते** अच्छी तरह से प्राप्त किया जाता है।

१२५. तुलायै वाणिजम्

तुलायै– स्वर्ण आदि विविध वस्तुओं के परिमाण का निश्चय जिससे किया जाता है, उसे तुला कहते है। ऐसी वस्तुओं का ठीक-ठीक परिमाण निश्चित कर लेन-देन के लिए अर्थात् वाणिज्य कर्म के लिए **वाणिजम् –** विविध वस्तुओं को विविध जगहों से क्रय-विक्रय के द्वारा अपनी आजीविका चुनने वाले व्यक्ति को वणिक् कहते हैं, और वणिक् से ही वाणिज अर्थात् व्यापार होता है, और इस प्रकार के कर्म को वाणिज्य कहते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि सभी वस्तुओं को क्रय विक्रय के द्वारा सर्वत्र सुलभ कराने के लिए, वाणिज्य कर्म को अपनी आजीविका के रूप में चुनने वाले जन को **(आलभते)** अच्छी तरह से प्राप्त कर इस कर्म में संयुक्त किया जाता है।

मीमांसा– यहाँ समाज व्यवस्था में वाणिज्य कर्म के महत्व को बताते हुए समाज को शासन द्वारा समुचित वाणिज्य व्यवस्था से सम्पन्न बनाने का निर्देश वेद द्वारा किया गया है।

१२६. पश्चादोषाय ग्लाविनम्

पश्चादोषाय- मोटापा आदि से थुल-थुल शरीर के चलने-फिरने में पिछड़ने आदि मोटापे से होने वाले दोषों को दूर करने के लिए **ग्लाविनम्-** जो परिश्रम, योग और औषधियों के द्वारा शरीर में बढ़े हुए मांस आदि को गलाकर सक्षम बना सकता है, ऐसे व्यक्ति को **(आलभते)** अच्छी तरह प्राप्त किया जाता है।

१२७. विश्वेभ्यः भूतेभ्यः सिध्मलम्

विश्वेभ्यः भूतेभ्यः – सभी प्राणियों के लिए **सिध्मलम् –** उन-उन प्राणियों के अनुरूप सुख सिद्ध करने वाले व्यक्ति को **(आलभते)** अच्छी तरह चयनित किया जाता है।

१२८. भूत्यै जागरणम्

भूत्यै- उन्नति के लिए **जागरणम्-** जागृति अर्थात् स्वकर्म में नित्य सतर्कता है।

१२९.अभूत्यै स्वपनम्

अभूत्यै- अवनति के लिए, दरिद्रता के लिए **स्वपनम्**- अत्यधिक सोना, स्वप्न में जीना, निद्रालुता, आलस्य है।

१३०. आर्त्यै जनवादिनम्

आर्त्यै-आर्तों की रक्षा के लिए **जनवादिनम्**–जन सामान्य में समान दृष्टि रखने वाले दयालु जनवादी न्यायप्रिय और न्याय करने में सक्षम निर्भीक वक्ता व्यक्ति को **(आलभते)** अच्छी तरह से चयनित किया जाता है।

१३१. व्यृद्ध्यै अपगल्भम्

व्यृद्ध्यै- सम्यक् उन्नति के लिए, समृद्धि के लिए, अभ्युदय के लिए **अपगल्भम्**- गर्वहीनता को **(आलभते)** अच्छी तरह प्राप्त किया जाता है।

१३२. संशराय प्रच्छिदम्

संशराय– बाणों के सम्यक् निर्माण के लिए **प्रच्छिदम्**- प्रकृष्ट रूप से बाण बनाने में प्रयुक्त होने वाली धातुओं और वस्तुओं को काटकर बाण बनाने में दक्ष व्यक्ति को **(आलभते)** अच्छी तरह से चयनित किया जाता है।

१४- कितव, नवदर्श, कल्पी, अधिकल्पी, सभास्थाणु, तीन प्रकार के गोघातियों के लिए दण्ड, चरकाचार्य, सैलग अर्थात् छद्म पापियों को दण्डित करने वाला सैनिक–

अक्षराजाय कितवं कृतायादिनवदर्शं त्रेतायै कल्पिनं, द्वापरायाधि-कल्पिनमास्कन्दाय सभास्थाणुं, मृत्यवे गोव्यच्छमन्तकाय गोघातं, क्षुधे यो गां विकृन्तन्तं भिक्षमाण उपतिष्ठति, दुष्कृताय चरकाचार्यं ।।१८।।

१३३. अक्षराजाय कितवम्

अक्षराजाय- राष्ट्रभृतो हि अक्षाः[१] अर्थात् राष्ट्र के कर्मचारी ही राष्ट्र की आँखें हैं, इस प्रकार के राष्ट्र के कर्मचारियों के प्रमुख के लिए **कितवम्- "अत्र कित् –संज्ञाने धातोः कितव शब्द निष्पत्तिः"**, अर्थात् कितव

---

१. अथर्ववेद ७/१०९/६

लिए **हिरण्यकारम्-** सोने के आभूषण बनाने में दक्ष योग्य व्यक्ति अर्थात् स्वर्णकार को **आलभते** अच्छी तरह से प्राप्त किया जाता है।

१२५. तुलायै वाणिजम्

तुलायै– स्वर्ण आदि विविध वस्तुओं के परिमाण का निश्चय जिससे किया जाता है, उसे तुला कहते है। ऐसी वस्तुओं का ठीक-ठीक परिमाण निश्चित कर लेन-देन के लिए अर्थात् वाणिज्य कर्म के लिए **वाणिजम् –** विविध वस्तुओं को विविध जगहों से क्रय-विक्रय के द्वारा अपनी आजीविका चुनने वाले व्यक्ति को वणिक् कहते हैं, और वणिक् से ही वाणिज अर्थात् व्यापार होता है, और इस प्रकार के कर्म को वाणिज्य कहते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि सभी वस्तुओं को क्रय विक्रय के द्वारा सर्वत्र सुलभ कराने के लिए, वाणिज्य कर्म को अपनी आजीविका के रूप में चुनने वाले जन को **(आलभते)** अच्छी तरह से प्राप्त कर इस कर्म में संयुक्त किया जाता है।

मीमांसा– यहाँ समाज व्यवस्था में वाणिज्य कर्म के महत्व को बताते हुए समाज को शासन द्वारा समुचित वाणिज्य व्यवस्था से सम्पन्न बनाने का निर्देश वेद द्वारा किया गया है।

१२६. पश्चादोषाय ग्लाविनम्

पश्चादोषाय- मोटापा आदि से थुल-थुल शरीर के चलने-फिरने में पिछड़ने आदि मोटापे से होने वाले दोषों को दूर करने के लिए **ग्लाविनम्-** जो परिश्रम, योग और औषधियों के द्वारा शरीर में बढ़े हुए मांस आदि को गलाकर सक्षम बना सकता है, ऐसे व्यक्ति को **(आलभते)** अच्छी तरह प्राप्त किया जाता है।

१२७. विश्वेभ्यः भूतेभ्यः सिध्मलम्

विश्वेभ्यः भूतेभ्यः – सभी प्राणियों के लिए **सिध्मलम् –** उन-उन प्राणियों के अनुरूप सुख सिद्ध करने वाले व्यक्ति को **(आलभते)** अच्छी तरह चयनित किया जाता है।

१२८. भूत्यै जागरणम्

भूत्यै- उन्नति के लिए **जागरणम्-** जागृति अर्थात् स्वकर्म में नित्य सतर्कता है।

१२९.अभूत्यै स्वपनम्

अभूत्यै- अवनति के लिए, दरिद्रता के लिए **स्वपनम्-** अत्यधिक सोना, स्वप्न में जीना, निद्रालुता, आलस्य है।

१३०. आर्त्यै जनवादिनम्

आर्त्यै-आर्तों की रक्षा के लिए **जनवादिनम्**–जन सामान्य में समान दृष्टि रखने वाले दयालु जनवादी न्यायप्रिय और न्याय करने में सक्षम निर्भीक वक्ता व्यक्ति को **(आलभते)** अच्छी तरह से चयनित किया जाता है।

१३१. व्यृद्धयै अपगल्भम्

व्यृद्धयै- सम्यक् उन्नति के लिए, समृद्धि के लिए, अभ्युदय के लिए **अपगल्भम्-** गर्वहीनता को **(आलभते)** अच्छी तरह प्राप्त किया जाता है।

१३२. संशराय प्रच्छिदम्

संशराय– बाणों के सम्यक् निर्माण के लिए **प्रच्छिदम्-** प्रकृष्ट रूप से बाण बनाने में प्रयुक्त होने वाली धातुओं और वस्तुओं को काटकर बाण बनाने में दक्ष व्यक्ति को **(आलभते)** अच्छी तरह से चयनित किया जाता है।

१४- कितव, नवदर्श, कल्पी, अधिकल्पी, सभास्थाणु, तीन प्रकार के गोघातियों के लिए दण्ड, चरकाचार्य, सैलग अर्थात् छद्म पापियों को दण्डित करने वाला सैनिक–

अक्षराजाय कितवं कृतायादिनवदर्शं त्रेतायै कल्पिनं, द्वापरायाधिकल्पिनमास्कन्दाय सभास्थाणुं, मृत्यवे गोव्यच्छमन्तकाय गोघातं, क्षुधे यो गां विकृन्तन्तं भिक्षमाण उपतिष्ठति, दुष्कृताय चरकाचार्यं ।।१८।।

१३३. अक्षराजाय कितवम्

अक्षराजाय- राष्ट्रभृतो हि अक्षाः[१] अर्थात् राष्ट्र के कर्मचारी ही राष्ट्र की आँखें हैं, इस प्रकार के राष्ट्र के कर्मचारियों के प्रमुख के लिए **कितवम्- "अत्र कित् –संज्ञाने धातोः कितव शब्द निष्पत्तिः"**, अर्थात् कितव

---

१. अथर्ववेद ७/१०९/६

शब्द का अर्थ हुआ विविध कार्यों को अच्छी तरह जानने वाला व्यक्ति, ऐसे ज्ञानवान् व्यक्ति को **आलभते** अच्छी तरह से चयनित किया जाता है।

मीमांसा– राष्ट्र के कर्मचारियों का निरीक्षण करने के लिए विविध प्रकार के कर्मों के ज्ञानवान् व्यक्ति को रखा जान जाना चाहिये। यहाँ ऐसा श्रुति का अभिप्राय दिखता है।

१३४. कृताय आदिनवदर्शम्

कृताय– नये-नये सत्कर्मों के लिए **आदिनवदर्शम्–** कार्य आरम्भ करने के पहले ही नवीन कार्यों की उपयोगिता को देख सकने में सक्षम योग्य व्यक्ति को **(आलभते)** अच्छी तरह चयनित किया जाता है।

१३५. त्रेतायै कल्पिनम्

त्रेतायै–कार्यों को शीघ्रता पूर्वक पूर्ण करने हेतु, उनके त्रिविध विभाग करने के लिए **कल्पिनम्–** उन कार्यों को करने वालों की योग्यता के अनुरूप, विभाग कर सकने वाले व्यक्ति को **(आलभते)** अच्छी तरह चयनित किया जाता है।

१३६. द्वापराय अधिकल्पिनम्

द्वापराय- दो प्रकार के कार्यों के लिए **अधिकल्पिनम्-** उन दो प्रकार के कार्यों का आधारभूत ज्ञान रखने वाले को **(आलभते)** अच्छी तरह प्राप्त किया जाता है।

१३७. आस्कन्दाय सभास्थाणुम्

आस्कन्दाय- भलीभाँति तथ्यों के उद्घाटन के लिए **सभास्थाणुम्-** सभा में स्थिर रहकर उन्हें ठीक-ठीक समझ सकने में सक्षम व्यक्ति को **(आलभते)** अच्छी तरह प्राप्त कर ऐसे कार्य के लिए नियुक्त किया जाता है।

१३८. मृत्यवे गोव्यच्छम्

मृत्यवे- मृत्यु के लिए **गोव्यच्छम्– ''गवां विवासयितारं''** गउवों को आच्छादन रहित करने वाले को, गोष्ठों को नष्ट करने वाले को, गउवों को सताने और मारने की किसी भी प्रकार की चेष्टा करने वाले को **(आलभते)** अच्छी तरह प्राप्त किया जाता है।

१३९. अन्तकाय गो-घातम्

अन्तकाय- नाश के लिए **गो-घातम्-** विष कण्टक आदि के द्वारा गउवों को मारने वाले को **(आलभते)** अच्छी तरह प्राप्त किया जाता है।

१४०. क्षुधे यो गां विकृन्तन्तं भिक्षमाणं उपतिष्ठति

क्षुधे- भूखा रखने के लिए **यः** – जो **गां-** गाय को **विकृन्तन्तम्-** काटने वाले के प्रति **भिक्षमाणम्** – भिक्षा माँगते हुए **उपतिष्ठति** – खड़ा होता है, उसको **(आलभते)** खोजकर प्राप्त किया जाता है।

मीमांसा- यहाँ **मृत्यवे गोव्यच्छम्** से लेकर के **भिक्षमाणम् उपतिष्ठति** तक, गाय को सताने वाले, उसकी हत्या करने वाले, और गो-हत्यारे से अपनी भूख मिटाने के लिए भिक्षा माँगने वाले को दण्ड का विधान किया गया है। मंत्र संख्या १३८ में यह कहा गया है कि, जो गायों के रहने के स्थान को नष्ट कर उन्हें कष्ट पहुँचाने वाले और स्थान के साथ-साथ गायों को भी उनके आवास आदि को जलाकर नष्ट करने वाले हैं, उन्हें मृत्युदण्ड दिया जाना चाहिए। १३९- में यह बताया गया है कि, जो विष, कण्टक, अथवा भोजन आदि में विष मिलाकर गायों की हत्या करने वाले हैं। भलीभाँति खोजकर उनका अन्त कर देना चाहिए। १४०-में यह कहा गया है कि, जो गाय की हत्या कर, उसके टुकड़े कर उसका मांस खाने वाले हैं, ऐसे गो-हत्यारों को मृत्युदण्ड देने का विधान तो पहले ही कर दिया गया है। साथ ही इस मंत्र में यह बताया गया है, कि ऐसे गोमांसभक्षी लोगों के यहाँ यह जानकर भी कि यह गोमांस को काटने वाला है, उससे अपनी भूख मिटाने के लिए भिक्षा माँगने वाले को भी भूखे रहने की सजा दी जानी चाहिए।

१४१. दुष्कृताय चरकाचार्यम्

दुष्कृताय– दुराचारियों के लिए **चरकाचार्यम्–** चलने-फिरने वाले, सूक्ष्मता से गोपनीयतापूर्वक दुराचारियों के दुराचार को समझने और पकड़ने में सक्षम योग्य जन को **(आलभते)** सब जगह से अच्छी प्रकार चयनित कर राष्ट्र-व्यवस्था में संयुक्त किया जाता है।

मीमांसा – दुराचारियों को दुराचार से रोकने के लिए, दो प्रकार के

कार्यों की आवश्यकता होती है। पहली वाल्यावस्था में ही दुराचार की ओर प्रवृत्त हो रहे बच्चों को, सदाचरण की उपयुक्त शिक्षा देने की व्यवस्था करना। ऐसे सदाचरण की शिक्षा देने वालों को भी यहाँ चरकाचार्य कहा गया है। साथ ही जो छलपूर्वक गम्भीर दुराचारों में लिप्त हैं, जिनका स्वभाव ही छलपूर्वक दुराचार करना हो गया है, जो बाहर से छलपूर्वक अपने को सदाचारी दिखाते हुए दुराचार में लिप्त हैं, ऐसे दुराचारियों के दुराचार को गोपनीयतापूर्वक पकड़ने के लिए और उनके दुराचारों पर अंकुश लगाने के लिए, गुप्तचरों की नियुक्ति कर दुराचारियों को दंडित करने की व्यवस्था करना भी यहाँ अभिप्रेत है।

१४२. पाप्मने सैलगम्

पाप्मने- मन में पाप छिपाकर रखने वाले और अवसर पाते ही पाप करने वाले दुष्टों के लिए **सैलगम्** शस्त्र लेकर चलने वाले सैनिक गण को **(आलभते)** सम्पूर्ण समाज से चयन विधि से प्राप्त कर राष्ट्र व्यवस्था में संयुक्त किया जाता है।

१५- अर्तन अर्थात् शपथ पत्र का अनुपालन कराने वाला अधिकारी, भष अर्थात् उद्घोषक, बहुवादी अर्थात् बहुत से विवादों का निर्णायक, मूकत्व, आडम्बराघात, वीणा वादक, तूणी वादक, शंख वादक, वनपाल, दावपाल–

प्रतिश्रुत्काया अर्तनं, घोषाय भषमन्ताय बहुवादिनमनन्ताय मूकं, शब्दायाडम्बराघातं, महसे वीणावादं क्रोशाय तूणवध्ममवरस्पराय शङ्खध्मं, वनाय वनपमन्यतोरण्याय दावपम् ।।१९।।

१४३. प्रतिश्रुत्कायै अर्तनम्

प्रतिश्रुत्कायै – कृत प्रतिज्ञा- अथवा प्रतिज्ञा पत्र आदि में की गयी प्रतिज्ञा का अनुपालन कराने के लिए, **अर्तनम्** - ऋत में, सत्य में निष्ठा रखने वाले न्यायाधीश को **आलभते** अच्छी तरह चयनित किया जाता है।

१४४. घोषाय भषम्

घोषाय- घोष करने के लिए **भषम्** – घोष करने में सक्षम व्यक्ति को **आलभते** भलीभाँति चयनित किया जाता है।

१४५. अन्ताय बहुवादिनम्

अन्ताय- सभा में वाद-विवाद समाप्त कराने के लिए **बहुवादिनम्**– बहुत-सी सभाओं में उत्कृष्ट तर्क प्रस्तुत करने वाले तार्किक वक्ता को **(आलभते)** अच्छी तरह से प्राप्त कर इस कार्य में नियुक्त किया जाता है।

१४६. अनन्ताय मूकम्

अनन्ताय- अनावश्यक निरर्थक चलने वाले, अनन्त विवादित तर्कों के लिए **मूकम्**– मौन रहने को **(आलभते)** अच्छी तरह स्वभाव में लाया जाता है।

१४७. शब्दायाडम्बराघातम्

शब्दाय- सूचनात्मक शब्द के लिए **आडम्बराघातम् ''आडम्बरस्य भेर्यादिः चर्मवाद्यस्य''** चमड़े से बने हुए भेरी, ढोल, डफ आदि वाद्य आडम्बर वाद्य कहे जाते हैं। ऐसे वाद्यों के **आघाताम्** – आघात करने वाले अर्थात् बजाने वाले को **(आलभते)** अच्छी तरह प्राप्त किया जाता है।

१४८. महसे वीणावादम्

महसे- महत्वपूर्ण संगीत आदि से युक्त सभाओं को महान बनाने बनाने के लिए **वीणावादम्** – वीणा बजाने वाले को **(आलभते)** अच्छी तरह से प्राप्त किया जाता है।

१४९. क्रोशाय तूणवध्मम्

क्रोशाय- महान शब्द के लिए **तूणवध्मम्**- तूण व तूणी बजाने वाले को **(आलभते)** अच्छी तरह प्राप्त किया जाता है।

१५०. वरस्पराय शङ्खध्मम्

वरस्पराय- मधुर श्रेष्ठ उत्तम शब्द के लिए **शङ्खध्मम्** शंख बजाने वाले को **(आलभते)** अच्छी तरह प्राप्त किया जाता है।

१५१. वनाय वनपम्

वनाय- वन के लिए **वनपम्** – वन का पालन करने वाले को, वन की सुरक्षा करने वाले को **(आलभते)** अच्छी तरह चयनित किया जाता है।

१५२. अन्यतः अरण्याय दावपम्

अन्यतः – अलग-अलग दिशाओं से **अरण्याय**- अरण्य-घने जंगल की रक्षा करने के लिए **दावपम्**- अरण्य की अग्नि के जानकार और उसे उत्पन्न होने के पहले ही शमन करने के उपाय करने में सक्षम व्यक्ति को **(आलभते)** अच्छी तरह से प्राप्त कर अरण्य की अपेक्षित जगहों में यथावस्यक नियुक्त किया जाता है।

मीमांसा– घनघोर जंगलों को अरण्य कहा जाता है, ऐसे घनघोर जंगलों में जिन दिशाओं में घनापन अधिक होता है, और हवा के झोंके से पेड़ की लकड़ियाँ आपस में रगड़ती हैं, तो उस रगड़ से वहाँ आग पैदा हो जाती है। इस प्रकार अरण्य में आग लग जाती है। ऐसी अग्नि से अरण्य की रक्षा करने के लिए परस्पर रगड़ने वाली लकड़ियों से जहाँ आग पैदा होने की सम्भावनायें अधिक होती हैं, उन दिशाओं में, उन जगहों पर, ऐसे अरण्य रक्षकों की नियुक्ति करने की बात श्रुति द्वारा बतायी गयी है, जो वृक्ष की लकड़ियों की रगड़ खाने से आग पैदा होने के पहले ही समझ कर, उन्हें यथोचित व्यवस्थित कर आग लगने से पहले ही अग्निशमन का उपाय कर, जंगल की रक्षा करने में सक्षम हों।

१६ - नर्तकी, हास्यकारी, शबली, ग्रामणी, मणक, अभिप्रोषक, वीणावादक, करताल वादक, तूणीवादक, ताल लगाने वाला

नर्माय पुँश्चलूं, हसाय कारिं, यादसे शाबल्यां, ग्रामण्यं मणकमभिक्रोशकं तान्महसे, वीणावादं पाणिघ्नं तूणवध्मं तान्नृत्तायानन्दाय तलवम्।।२०।।

१५३. नर्माय पुँश्चलूम्

नर्माय- नृ-नये[१] धातु से मनिन[२] प्रत्यय लगाकर नर्म शब्द बनता है जिसके विषय में अमरकोश में "**द्रवकेलिपरीहासाः तृणाखेला च कुर्दनम्**[३]" अर्थात् द्रव, केलि, परिहास, क्रीड़ा, लीला और नर्म ये सभी शब्द क्रीड़ा मात्र के लिए प्रयुक्त होते हैं। ऐसी क्रीड़ा-लीला के लिए अर्थात् तनावग्रस्त लोगों एवं सभा को सहज, सरल, सामान्य बनाने के लिए **पुँश्चलूम्** –

---

१. भ्वां०प०से०। २. अ०३.२.७५। ३. अमरकोश अध्याय १ नाट्यवर्ग ३२।

लोगों के मन को अपने नृत्य गान और मोदयुक्त वाणी से चिन्तामुक्त करने में सक्षम नर्तक व नृत्यांगना अथवा क्रीड़ात्मक नृत्य-नाटिकायों के सूत्रधार नट व नटी को **(आलभते)** अच्छी तरह प्राप्त किया जाता है।

इस मंत्र का दूसरा अर्थ इस प्रकार निकलता है—

नर्माय- खेलों के लिए **पुँश्चलूम-**पुरुषों के मन को खेलों के प्रति चलाने वाले, अर्थात् पुरुषों के मन को खेलों में लगाने वाले व्यक्ति को **(आलभते)** अच्छी तरह प्राप्त किया जाता है।

मीमांसा- यहाँ खेलों की दृष्टि से दूसरा अर्थ अधिक उपयुक्त मालूम होता है, क्योंकि विविध खेलों का प्रशिक्षण देने के लिए, उन-उन खेलों का उचित जानकार ही उन खेलों के प्रति लोगों को आकर्षित कर सकता है, और उन्हें उन खेलों का प्रशिक्षण देकर प्रशिक्षित कर सकता है।

१५४. हसाय कारिम्

हसाय- तनाव में लोगों को हसाने के लिए **कारिम्-** लोगों को हसाने में सक्षम हास्य कलाकार को **(आलभते)** अच्छी तरह प्राप्त किया जाता है।

१५५. यादसे शाबल्याम्

यादसे- जल-जन्तुओं की रक्षा के लिए **शाबल्याम्-** शम-आलोचने धातु से "शमेर्बश्च[१]" सूत्र से शबल शब्द बना है, शबल स्त्री शाबली हुई, ऐसी स्त्री जो जल-जन्तुओं की आलोचना कर सके, अर्थात् जल-जन्तुओं को ठीक-ठीक समझ सके, और उनकी आवश्यकता अनुसार, उन्हें आहार आदि देकर और परस्पर एक दूसरे जल-जन्तुओं से उनकी रक्षा की दृष्टि से, उन्हें अलग-अलग जल कुण्डों में रखकर सुरक्षित रख सकती हो, ऐसी स्त्री को **(आलभते)** अच्छी तरह से प्राप्त कर इस कार्य में नियुक्त किया जाता है।

१५६. महसे ग्रामण्यम्

महसे– महानता के लिए, गाँव की उन्नति के लिए **ग्रामण्यम् –** गाँव का मुखिया ग्रामणी अर्थात् ग्रामप्रधान को **(आलभते)** अच्छी तरह से गाँव में से चयनित किया जाता है।

---

१. उणादि १/१०५।

मीमांसा- ग्राम, नगर, पुरी, पत्तन आदि की उत्तम व्यवस्था के लिए, इन सबका अलग-अलग मुखिया रखा जाय। ग्राम आदि का मुखिया रहने से, उसकी सामाजिक संगठन-शक्ति बनेगी। इस मंत्र से यह स्पष्ट है कि, हमारी ग्राम-व्यवस्था में पंचायतों का स्थान बहुत महत्वपूर्ण था, और उनको ग्रामादि में न्याय करने का अधिकार प्राप्त था। पंचायत द्वारा शीघ्र निर्णय होने के कारण, न्याय व्यवस्था में लोगों को पूर्ण विश्वास था जिससे समाज में किसी प्रकार की अव्यवस्था नहीं होती थी।

१५७. (महसे) गणकम्

महसे- महानता के लिए, महान सुव्यवस्था के लिए **गणकम् –** ग्राम-नगर आदि में लोगों की, और वहाँ स्थित परिवारों की, और उन जगहों की विविध सम्पत्तियों-निधियों की, समुचित गणना की योग्यता रखने वाले गणकों को **(आलभते)** अच्छी तरह से प्राप्त कर इस गणना-व्यवस्था में नियुक्त किया जाता है।

मीमांसा- राष्ट्रनिधि की, और राष्ट्र में स्थित लोगों की, गणना से राष्ट्र की शक्ति का ज्ञान होता है। इसलिए राष्ट्र व्यवस्था में, राष्ट्र की सभी तरह की गणना के लिए, समाज से उपयुक्त गणकों का चयन कर, उन्हें राष्ट्र की वयवस्था में संयुक्त करना चाहिए।

१५८. महसे अभिक्रोशकम्

महसे – महानता, सत्य, और सामर्थ्य के लिए, **अभिक्रोशकम् -** तथ्यों की घोषणा करने वाले को **(आलभते)** अच्छी तरह प्राप्त कर नियुक्त किया जाता है।

मीमांसा- मूल मंत्र में ग्रामण्यम्–गणकम्–अभिक्रोशकम्–लिखने के बाद "**तान् महसे**" लिखा गया है, जिसका अर्थ हुआ कि इन तीनों को महानता के लिए नियुक्त किया जाता है। इसलिए अर्थ करते समय ही यहाँ हमने इन तीनों के पूर्व कोष्ठक में महसे लिखकर इन सबका अर्थ किया है जिससे अर्थ स्पष्ट हो सके।

१५९,१६०,१६१. वीणावादं, पाणिघ्नं, तूणवध्मं, तान्नृत्ताय।

वीणावादम्– वीणावादक, **पाणिघ्नम्–** करताल बजाने वाले और

तूणवध्मम्-तूणी वादक आदि **तान्**-उन सब को **नृत्ताय**-मनोरंजन के साधनभूत उत्कृष्ट नृत्य के लिए **(आलभते)** अच्छी तरह प्राप्त किया जाता है।

मीमांसा– नृत्य में वीणा, करताल, तूणी आदि विविध वाद्यों को नृत्य के अनुरूप एक साथ बजाया जाता है, इसलिए मंत्र में इन सब को एक साथ लिखकर तान्नृत्ताय लिखा गया है। इस प्रकार श्रुति में यहाँ सामूहिक नृत्य की स्थिति का दिग्दर्शन कराया गया है।

१६२. आनन्दाय तलवम्

आनन्दाय- नृत्य में आनन्द की अधिक वृद्धि के लिए **तलवम्** – ताल लगाने वाले अथवा तबला बजाने वाले को **(आलभते)** अच्छी तरह प्राप्त किया जाता है।

१७- पीठसर्पी, चाण्डाल, वंशनर्ती, खलती, हर्यक्ष, किरमिर, किलास, शुक्ल पिङ्गाक्ष, कृष्ण पिङ्गाक्ष

अग्नये पीवानं, पृथिव्यै पीठसर्पिणं, वायवे चाण्डालमन्तरिक्षाय वंशनर्तिनं, दिवे खलतिं, सूर्याय हर्यक्षं, नक्षत्रेभ्यः किर्मिरं, चन्द्रमसे कीलासमह्ने शुक्लं पिठाक्षं रात्र्यै कृष्णं पिठाक्षम् ।।२१।।

१६३. अग्नये पीवानम्

अग्नये-अग्निशमन आदि अग्नि से सम्बन्धित कार्यों के लिए **पीवानम्**-इस कार्य में प्रवृद्ध शरीर वाले को **(आलभते)** अच्छी तरह से प्राप्त किया जाता है।

मीमांसा- अग्निशमन आदि अग्नि से सम्बंधी अर्थात् अत्यन्त आग के समीप या आग के भीतर प्रवेश कर किये जाने वाले कार्यों के लिए, जिन लोगों ने अग्नि के तेज को सहन करने में, अपने शरीर को प्रकृष्ट रूप से बढ़ा रखा है, ऐसे अग्नि के तेज की तितिक्षा-सहनशीलता के साथ-साथ, ऐसे कार्यों में जिन्होंने दक्षता प्राप्त की हो, उनको ही भली-भाँति परीक्षण द्वारा प्राप्त कर, ऐसे कार्यों के लिए नियुक्त किया जाना चाहिए।

१६४. पृथिव्यै पीठसर्पिणम्

पृथिव्यै- कृषि आदि कर्मों में भूमि को समतल और चिकना बनाने के लिए **पीठसर्पिणम्**- काष्ठ आदि से बने हुए चिकने समतल पदार्थों से भूमि

को उन पदार्थों को सरकाते या चलाते हुए समतल बनाने में योग्य व्यक्ति को **(आलभते)** अच्छी तरह प्राप्त किया जाता है।

मीमांसा- बैलों से खेती करने में जोते हुए खेत को समतल करने के लिए, लकड़ी से बना हुआ पाटा, या सरावन या हेंगा जिसे दो बैलों की जोड़ी के जुआठ से, दोनों किनारों को बाँध कर, जुआठ के मध्य में बँधी हुई रस्सी को एक व्यक्ति पकड़ कर इस पाटे के मध्य खड़े होकर बैलों को चलाकर खेत को समतल करता है। मिट्टी के ढेलों की अधिकता की दशा में पाटे के दोनों किनारे, दो और व्यक्तियों को भी बैठा लेता है, और खेत को समतल करता है। वर्तमान में भी ट्रैक्टर में पीछे बाँधकर काफी मोटे बड़े-बड़े पाटे द्वारा किसान खेतों को समतल करते हैं। प्राचीन काल में भी ऐसा लगता है कि, लौह आदि के मोटे यंत्र आदि से सरकाये जा सकने वाले अर्थात् यंत्र के माध्यम से सरकने वाले पाटे आदि के द्वारा मार्गों का भी समतलीकरण किया जाता था। वर्तमान में भी पिचरोड निर्माण में ऐसे यंत्र से सरकने वाले बेलन आदि का प्रयोग होता है।

१६५. वायवे चाण्डालम्

वायवे- बहुत जोर से, प्रचण्ड वेगपूर्वक ध्वनि करती हुई चलने वाली तूफानी वायु के लिए **चाण्डालम्-**चाण्डाल शब्द को प्रयुक्त किया जाता है।

मीमांसा– चडि-कोपे धातु से **''पतिचण्डिभ्यामालच्**[1]**''** सूत्र से आलच् प्रत्यय करके चण्डाल शब्द बनता है, **चण्डालात् भवः चाण्डालः तम्** अर्थात् जो अत्यन्त क्रोधपूर्वक विनाश करता हुआ चलता है, वह चाण्डाल है । इसलिए समुद्री तूफान आदि को जो ध्वनि करते हुए वृक्षों, घरों और प्राणियों को नष्ट करता हुआ चलता है। ऐसा तूफान ही चाण्डाल कहा जाता है। ऐसा सम्भव है कि, प्राचीन काल में ऐसे तूफानों की पूर्व सूचना देने की भी कोई व्यवस्था रही हो, और चाण्डाल तूफान की व्यवस्था में लगे होने के कारण उसकी सूचना देने वाले व्यक्तियों को भी चाण्डाल कहा जाता रहा हो। कालान्तर में यह शब्द अत्यन्त क्रोधपूर्वक हत्या करने वाले, और मृत्युदण्ड दिये गये व्यक्तियों को मृत्युदण्ड देने वाले व्यक्ति के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा। इसके बाद भी यह शब्द

१. उड़ादि १/११७।

वर्तमान में भी तूफान के लिए और मैदानी क्षेत्रों में तूफानी वायु के लिए भी प्रयुक्त किया जाता है।

१६६. अन्तरिक्षाय वंशनर्तिनम्

अन्तरिक्षाय- अंतरिक्ष के लिए **वंशनर्तिनम् –** बाँस पर नाचने वाले को, अथवा बाँस की बनी दूरबीन आदि से अंतरिक्ष स्थित नक्षत्र आदि का ज्ञान करने में सक्षम व्यक्ति को **(आलभते)** अच्छी तरह प्राप्त किया जाता है।

मीमांसा- ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ अंतरिक्ष में नक्षत्रों के ज्ञान के लिए वाँस से बनने वाली दूरबीन आदि के सम्बन्ध में विशेष प्रकार की जानकारी रखने वाले व्यक्ति को, 'वंशनर्तिनम्' कहा गया है। प्राचीन काल में बाँस की बनी ग्लोब आदि के द्वारा और उसी प्रकार बाँस की ही वस्तुओं से बने उपकरणों से अंतरिक्ष के नक्षत्रों का ज्ञान कराया जाता था। उन यंत्रों को ठीक-ठीक नचा कर, या चला कर, नक्षत्रों का ज्ञान करा सकने में सक्षम व्यक्ति को, ही सम्भवत: यहाँ वंशनर्तिन् शब्द से कहा गया है। अथवा वंशनर्तिन् शब्द अंतरिक्ष के ज्ञाता ज्योर्तिविदों के लिए रूढ़ हो गया हो, इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

१६७. दिवे खलतिम्

दिवे- द्युलोक-द्योतित हो रहे आकाशीय ग्रहपिण्डों, नक्षत्रों,गोलों के ज्ञान के लिए अर्थात् खगोल के लिए **ख-लतिम्-**आकाश में स्थित गोलों की गति भलीभाँति जानने वाले को **(आलभते)** सम्पूर्ण समाज से अच्छी तरह प्राप्त कर राष्ट्र व्यवस्था में नियुक्त किया जाता है।

१६८. सूर्याय हर्यक्षम्

सूर्याय- सूर्य के लिए **हरि-अक्षम् –** हरे रंग की आँख वाले को **(आलभते)** सम्पूर्ण समाज से प्राप्त कर, राष्ट्र-व्यवस्था में संयुक्त किया जाता है।

मीमांसा- हरे रंग के शीशे के साथ सूर्य का वेध होने से आँख को हानि नही होती। ऐसा प्रतीत होता है कि, सूर्य की गतिविधि का अध्ययन करने के लिए हरे रंग के शीशे से युक्त यंत्रों का निर्माण होता था, और इन

यंत्रों से सूर्य की गतिविधि का अध्ययन करने की शिक्षा दी जाती थी। और उनमें से योग्य लोगों का चयन कर राष्ट्र-व्यवस्था में लगाया जाता था। उसी का मंत्र में यहाँ निर्देश किया गया है।

१६९. नक्षत्रेभ्यः किर्मिरम्

नक्षत्रेभ्यः – नक्षत्रों के ज्ञान के लिए **किर्मिरम्** – नारंगी रंग का यंत्र धारण करने वाले को **(आलभते)** अच्छी तरह से प्राप्त किया जाता है।

मीमांसा- ऐसा प्रतीत होता है कि, नारंगी रंग के शीशे के दूरदर्शी यंत्रों द्वारा नक्षत्रों का वेध करना सरल एवं उचित मानकर यह व्यवस्था बतायी गयी है।

१७०.चन्द्रमसे किलासम्

चन्द्रमसे- चन्द्रमा के लिए **किलासम्** – श्वेतवर्ण का ज्ञान रखने वाले को **(आलभते)** – अच्छी तरह से प्राप्त किया जाता है।

मीमांसा- ऐसा प्रतीत होता है कि, चन्द्रमा का अध्ययन करने के लिए श्वेतवर्ण के पारदर्शी दर्पणयुक्त दूरदर्शी यंत्रों का प्रयोग किया जाता था जिन्हें किलास कहा जाता था।

१७१.अह्ने शुक्लं पिङ्गाक्षम्

अह्ने- दिन में आकाश में देखने के लिए **शुक्लं पिङ्गाक्षम्** – दिन के शुक्ल तेज को आँखों पर सामान्य पिंग प्रकाश में बदल सके ऐसे यंत्र के प्रयोग को जानने में सक्षम व्यक्ति को **(आलभते)** अच्छी तरह प्राप्त किया जाता है।

१७२. रात्र्यै कृष्णं पिङ्गाक्षम्

रात्र्यै- रात्रि के अंधेरे में कार्य करने के लिए **कृष्णं पिङ्गाक्षम्** – रात्रि के काले अंधेरे को नेत्रों पर सामान्य पिंग प्रकाश में बदल सकने वाले सक्षम यंत्र के उचित उपयोग के जानकार व्यक्ति को **(आलभते)** अच्छी तरह प्राप्त किया जाता है।

१८-आठ विपरीत रूप, अतिलम्बा-अतिछोटा, अतिमोटा-अति दुबला, अतिगोरा-अतिकाला, बिना रोयें वाला-बहुत रोये

वाला, ये यदि शूद्र और ब्राह्मण नहीं तो प्राजापत्य, मागध, पुंश्चली, कितव और क्लीव यदि ये शूद्र और ब्राह्मण नहीं तो प्राजापत्य–

अथैतानष्टौ विरूपानालभतेऽतिदीर्घं चातिह्रस्वं चातिस्थूलं चातिकृशं चातिशुक्लं चातिकृष्णं चतिकुल्वं चातिलोमशं च। अशूद्रा अब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः। मागधः पुँश्चली कितवः क्लीबोऽशूद्रा अब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः ।।२२।।

अथ एतान् अष्टौ विरूपान् - आलभते–

अब इन आठ विपरीत रूप वालों को अच्छी तरह प्राप्त किया जाता है।

१७३.१७४. अतिदीर्घञ्च- अतिह्रस्वञ्च – अति दीर्घ - अर्थात् अत्यन्त लम्बे और अत्यन्त छोटे व्यक्ति को

१७५.१७६. अतिस्थूलञ्च- अतिकृशञ्च – अति मोटे और अति दुबले व्यक्ति को

१७७.१७८. अतिशुक्लञ्च-अतिकृष्णञ्च – अत्यन्त गौर वर्ण को और अति काले वर्ण वाले व्यक्ति को

१७९.१८०. अतिकुल्वञ्च-अतिलोकशञ्च – अति रोम रहित अर्थात् बिना रोये वाले और अतिशय रोये बाले व्यक्ति को जो **अ-शूद्राः** – श्रमिक या शिल्पी नहीं हैं **अ-ब्राह्मणाः** – और जो न तो ज्ञानी शिक्षक ही हैं **ते प्राजाप्रत्याः** – वे प्रजापालक राजा के अधीन किये जाते हैं, अर्थात् उन्हें वह प्रजापति अपने विवेक से उपयुक्त कार्य में लगाये।

१८१. मागधः – वंशावली लेखक अथवा स्तुति गायक

१८२. पुँश्चली – पुरूषों का मनोरन्जन करने वाली चंचला नर्तकी

१८३. कितवः – अति ज्ञानी या बौद्धिक खेल का खिलाड़ी

१८४. क्लीबः – नपुंसक व्यक्ति अर्थात् स्त्री या पुरुष दोनों ही न होकर तृतीय प्रकृति के व्यक्ति हैं।

वे यदि **अ-शूद्राः**–श्रमिक या शिल्पी नहीं है, **अ-ब्राह्मणाः**– और जो ज्ञानी शिक्षक भी नहीं है। ऐसे उक्त चार प्रकार के मनुष्यों को प्रजापति राजा अपने अनुशासन में रखे और उन्हें अपने विवेक से कार्यों में लगाये।

मीमांसा- यजुर्वेद का यह अध्याय नरमेध याग के नाम से बाद के ग्रन्थों में कहा गया है। जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया गया है कि, यज्ञ का अर्थ वेदों में ही अध्वर है, और यह यज्ञ शब्द ऐसे सभी सत्कर्मों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो किसी प्राणी को बिना सताये सत्कर्म के रूप में किये जायें। चूँकि यह अध्याय मनुष्यों को उनकी योग्यता और प्रवृत्ति के अनुरूप, कर्मों का चयन कर, उन्हें सहज स्वाभाविक आजीविका प्रदान करने से सम्बन्धित है। इस प्रकार यह मनुष्य मात्र को अत्यन्त पवित्र ढंग से अकर्मण्यता से हटा कर पवित्र आजीविका प्रदान करने के कारण नरमेध कहा गया। नरमेध शब्द में नर शब्द का अर्थ है मनुष्य और मेध शब्द का अर्थ है पवित्र करना। साथ ही यज्ञ शब्द का अर्थ है अहिंसनीय सत्कर्म। इस प्रकार नरमेध यज्ञ का अर्थ हुआ, ''मनुष्य मात्र को बिना किसी प्राणी की हिंसा के पवित्र आजीविका प्राप्त कराने की व्यवस्था।''

यहाँ यह भी अत्यन्त विचारणीय प्रश्न है कि, इस वर्ण-कर्म-व्यवस्था में कहीं भी वर्णसंकर शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। बाद के विविध स्मृति ग्रन्थों में इन कर्मों के विभाजन में जो वर्णसंकर की परिकल्पना की गयी है, वह जन्मना वर्ण-व्यवस्था स्थापित करने का निराधार फर्जी कुप्रयास मात्र है। इस अध्याय में तो वर्णसंकर शब्द कहीं है ही नहीं, मुझे अध्ययन करते हुए चारों वेदों की मुख्य चारों संघिताओं में वर्णसंकर शब्द कहीं आया हो ऐसा स्मरण नहीं है। ऐसा लगता है कि जब अपने को जन्मना श्रेष्ठ, और दूसरों को जन्मना हेय, सिद्ध करने का प्रयास, कुछ शिक्षक संगठनों द्वारा, जिन्होंने अपने इस कुप्रयास में कुछ प्रशासक वर्ग के लोगों को भी मिला लिया था उनके द्वारा ही स्मृति ग्रन्थों में ऐसे क्षेपक जोड़े गये, और उन्हें जन्मना हेय दिखाने के लिए ही उनमें वर्णसंकर की मनगढ़ंत परिकल्पना को जोड़ा गया। मूलतः वेदों में योग्य युवा स्त्री-पुरुषों के अपनी प्रकृति एवं कर्म के अनुरूप विवाह करने का ही उल्लेख है। यह तथ्य ऋग्वेद के विवाह सूक्त जिसकी द्रष्ट्री ऋषिका सूर्यासावित्री हैं, के अध्ययन से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है।

१९- सहयज्ञ

मूलतः मनुष्य की आवश्कताएँ अनेक प्रकार की हैं, जैसे भोजन, वस्त्र, जल, मकान, बर्तन, आभूषण, हिंसक पशुओं से रक्षा, कृषि के लिए

अपेक्षित हल, फाल, कुदाल, फावड़ा, बर्तन के लिए अपेक्षित धातु, उनसे बर्तन बनाने की कला, मिट्टी के बर्तन, पति-पत्नी संतान, आमोद-प्रमोद, शिक्षा, रक्षा आदि। एक ही व्यक्ति इन विविध आवश्यकताओं के लिए अपेक्षित आवश्यक कला-कौशल से सम्पन्न नहीं हो सकता। क्योंकि उसके कार्य करने और सीखने की क्षमता सीमित है। यदि सीख भी ले तो अपनी हर आवश्यकता के वस्तुओं के निर्माण में बहुत समय नष्ट हो जायेगा और वह सभी चीजें व्यवस्थित नहीं कर सकेगा। किन्तु यदि इन्हीं सभी कर्मों को सभी लोग अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार अलग-अलग कर्मों को सीख कर करने लग जाँय और सभी अलग-अलग लोगों के द्वारा किये जा रहे कर्मों के फल को आपस में बाँटकर उपभोग करें तो सभी लोगों को सभी चीजें सरलतापूर्वक सुलभ हो जाती हैं। यही कर्मों के अपनी रूचि के अनुसार वरण करने की व्यवस्था ही, वर्ण-व्यवस्था का मूल है। यह बिना एक दूसरे को कष्ट पहुँचाये, बिना एक दूसरे की हिंसा किये एक दूसरे के सहयोगात्मक कर्म ही अहिंसनीय सत्कर्म अर्थात् अध्वर है। यज पूजायां धातु से यज्ञ शब्द निस्पन्न होता है, यह अपने चुने हुए कर्मों को पूर्ण निष्ठा से करते हुए अपने उस कर्म द्वारा सर्व जन में विद्यमान परमात्मा की पूजा ही वास्तविक यज्ञ कर्म है। यही सहयज्ञ है जैसाकि भगवान कृष्ण श्रीमद्भवद्गीता में कहते हैं—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।[१]

प्रजापतिः—प्रजा के प्रथम पालक महाराज वैवस्वत मनु ने **पुरा**- पहले आदिकाल में, **सहयज्ञाः**—सहयोगात्मक सत्कर्म से परस्पर एक दूसरे की सेवा करने रूप कर्म, **सृष्ट्वा**—सृजित कर **प्रजाः**— प्रजा को उस कर्म से युक्त कर उस सारी प्रजा से **उवाच**— कहा, **अनेन**- इस सहयज्ञ रूप सत्कर्म द्वारा **प्रसविष्यध्वम्**— एक दूसरे को सहयोग करते हुए परम उत्कर्ष को प्राप्त करें, **च**- और, **एषः** — यह सहयज्ञ रूप सत्कर्म **वः**— तुम लोगों को **इष्टकामधुक्**- इच्छित भोग प्रदान करने वाला **अस्तु**- हो।

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता ३/१०

चतुर्थ अध्याय
वेदों मे अधिकार

१- वेदांत सूत्रों पर आचार्यों के नाम से नृशंस दुष्टों का अपशूद्राधिकरण नामक क्षुद्र भाष्य।

किसी के मन में ऐसा प्रश्न हो सकता है कि, ज्ञानात्मक वेदों को सुनने, पढ़ने और अर्थ जानने का तो शूद्र वर्ण का अधिकार ही नहीं है, तो फिर सभी वर्णों को अपने दायित्वों का पालन करते हुए आत्मानुसंधान करना चाहिए ऐसा वेद में लिखा है, यह कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि वादरायण मुनि द्वारा रचित ब्रह्मसूत्र के भाष्य में सभी संप्रदाय प्रवर्तक आचार्यों ने अपशूद्राधिकरण में स्मृतियों के उदाहरणपूर्वक ऐसा विमर्श किया है। उन सबका किञ्चित् न्यूनाधिक्य से इस प्रकार का विचार है-"**न शूद्राय मतिं दद्यात्।**[१]" अर्थात् शूद्र को बुद्धि नहीं देनी चाहिए।

आगे इस प्रकार का प्रश्न उठने पर कि वेद तो ज्ञानात्मक ही हैं, इसलिए जो कोई भी वेद सुनेगा उसे वेद के सुनने मात्र से ज्ञान हो जायेगा? इन आचार्यों ने अपने उक्त भाष्य में इस प्रकार का स्मृति उदाहरण दिया है-

"**पद्यु ह व एतच्छ्मशानं यच्छूद्रः। तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यमिति[२]**" यह जो शूद्र है, सांक्षात् श्मसान है। इसलिए इसके (शूद्र के) समीप में नहीं पढ़ना चाहिए।

इसके बाद भाष्यकार का स्वयं का पक्ष दिखाया है कि, "**यस्य हि समीपेऽपि नाध्येतव्यं भवति, स कथमश्रुतमधयीत?**[३]"

---

१. ब्रह्मसूत्र १/३/३८ सूत्र के ऊपर शाङ्करभाष्य, रामानुजाचार्यभाष्य, निम्बार्काचार्य-भाष्य, आनन्दभाष्य और बल्लभभाष्य में मनु स्मृति ४/८० के रूप में यह पक्ति उद्धृत है।

२. ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्यादि उक्त भाष्यों में १/३/३८ में गौतम स्मृति २/१२/३ से उद्धृत है।

३. ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य१/३/३८

जिसके समीप भी नहीं पढ़ना चाहिए, वह बिना सुने हुए कैसे पढ़ लेगा?

यह विचार आने पर कि, यदि चोरी से, छिप कर, सुनकर पढ़ लेगा तो वेद बोलेगा। इसपर इन आचार्यों ने स्मृति के अनुसार उसे दण्ड देने का विधान किया है-

"अथास्य वेदमुपश्रृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्।[1]"

हिन्दी– इसके बाद भी वेद सुनता हुआ पाये जाने पर इसके कानों को सीसा और रांगा से भर देना चाहिए।

इस पर यह विचार आने पर कि वेद सुनते हुए शूद्र के कानों में सीसा और रांगा भर देने से उसकी श्रवणेन्द्रिय नष्ट हो जाने पर भी, उसके वेद सुन लेने के कारण उसे वेद याद हो जायेगा और वह वेद बोलेगा? इस पर पुनः इन आचार्यों ने उद्धृत किया—

"उच्चारणे जिह्वा छेदः[2]"

हिन्दी- वेद उच्चारण करने पर जीभ काट ली जाय।

आगे पुनः यह विचार आने पर कि जीभ काट लेने से तो, उसकी वागिन्द्रिय नष्ट होगी, किन्तु वेद सुनकर उसका मनन करने के कारण उसे वेद का ज्ञान हो जायेगा? जब कि उद्देश्य यह था कि शूद्र को ज्ञान न दिया जाय? इस पर आचार्यों ने उदाहरण देते हुए व्यवस्था दिया।

"धारणे शरीरभेद इति।[3]"

हिन्दी–शूद्र के वेद का अर्थ जान लेने पर उसे मार डाला जाय।

वेद विरोधी पूर्व पक्षी–इस प्रकार इन आचार्यों ने अपने भाष्यों में यह सिद्ध किया है, कि शूद्र को वेद सुनने, पढ़ने और उसका अर्थ जानने का अधिकार नहीं है।

---

१. ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्यादि उक्त भाष्यों में १/३/३८ में गौतम स्मृति २/१२/३ से उद्धृत है।

२. ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्यादि उक्त भाष्यों में १/३/३८ में गौतम स्मृति २/१२/३ से उद्धृत है।

३. ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्यादि उक्त भाष्यों में १/३/३८ में गौतम स्मृति २/१२/३ से उद्धृत है।

२-आचार्यों का तथ्यात्मक सत्पक्ष

उत्तर-समाधान–ऐसा पापपूर्ण कथन आचार्यों का होना असम्भव है। इन वाक्यों में निर्दयता की और क्रूरता की पराकाष्ठा है। यहाँ, इन वाक्यों में, उपनिषदों की परमात्म दृष्टि नहीं है, जिसके होने से सभी प्राणियों का हित चाहने लगता है। जैसा कि भगवान वेद कहते हैं—

''यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।
यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवामूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।[१]''

जब सारे प्राणियों को आत्मा में देखता है, और सारे प्राणियों में आत्मा को देखता है, तब किसी की निन्दा नहीं करता है। जब सारे प्राणी आत्मा ही हैं ऐसा जानता है। तो सबमें उस एक आत्मा का दर्शन करते हुए कौन मोह और कौन शोक हो सकता है, अर्थात् वह एकात्म दर्शन करता हुआ शोक मोह से ऊपर उठ जाता है। इस प्रकार पूर्व पक्षी का कथन वेद विरुद्ध है, श्रुति विरुद्ध है, मानवता विरुद्ध है, और आपराधिक आसुरी दुष्ट प्रवृत्ति से परिपूर्ण है। इसलिए यह परमात्मदर्शी, समदर्शी, सहृदय, दयालु, आचार्यों के कथन कथमपि नहीं हो सकते।

पूर्व पक्षी– यदि यह कथन आचार्यों के नहीं है तो उनके भाष्यों मे किसने लिखा?

उत्तर- इसका उत्तर देते हैं सुनो! राक्षसी मानसिकता के, शरीर को ही आत्मा मानने वाले, वैदिक संस्कृति के शत्रु दुष्टों ने छलपूर्वक आचार्यों के भाष्यों मे इसे जोड़ दिया। उनके इन सूत्रों पर लिखे वास्तविक भाष्यों को उन छल करने वालों ने छल से हटाकर यह विपरीत अर्थ लिख दिया।

पूर्व पक्षी- उन्होंने ऐसा क्यों किया?

उत्तर- उन महापुरुष आचार्यों के प्रति घृणा उत्पन्न करने के लिए, और समाज में वर्ग विद्वेष फैलाने के लिए।

पूर्व पक्षी- यदि यह माना जाय कि उन आचार्यों ने ही लिखा?

---

१. यजु. मा.४०/६/७, यजु.४०/६-७, ईशा.६/७

उत्तर- तब तो फिर यह मानना पड़ेगा कि ये आचार्य वेद विरोधी थे, शरीर अहंवादी थे, अधार्मिक थे और तत्त्वद्रष्टा नहीं थे।

पूर्व पक्षी- तो क्यों न ऐसा ही मान लिया जाय कि, वे ऐसे ही थे?

उत्तर- ऐसा इसलिए नहीं माना जा सकता कि जहाँ दुष्टों ने परिवर्तन नहीं किया है, छलपूर्वक क्षेपक नहीं किया है, वहाँ उनके कथन अत्यन्त समतावादी, दयालुतापूर्ण हैं। जैसे शंकराचार्य का इसी ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र "**अथातो ब्रह्म जिज्ञासा**[1]" पर भाष्य। यहाँ हम आचार्य के भाष्य के साथ ही वाक्यानुसार उसकी हिन्दी भी लिख रहे हैं।

तत्र अथ शब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते- वहाँ चेतन स्वात्मा ब्रह्म की जिज्ञासा के प्रकरण में, अथ शब्द का आनन्तर्य अर्थ ग्रहण किया जाता है। **नाधिकारार्थः**—अधिकार अर्थ के लिए नहीं। **ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात्**— स्वात्मा चैतन्य ब्रह्म की जिज्ञासा का, अधिकार्य होना सम्भव न होने के कारण। अर्थात् स्वस्वरूप को जानने में किसी प्रकार का प्रतिबंध सम्भव नहीं है। **मङ्गलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात्**— अथ शब्द का जो मंगल अर्थ होता है, उसका यहाँ वाक्यार्थ में समन्वय नहीं हो सकने के कारण, **अर्थान्तरप्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवति**—आनन्तर्य अर्थरूप भिन्नार्थ में प्रयुक्त हुआ ही, यहाँ यह 'अथ' शब्द सुनने मात्र से मंगल प्रयोजन वाला भी होता है। **पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलत आनन्तर्याव्यतिरेकात्** और पूर्व प्रकृति की अपेक्षा के परिणाम रूप में भी, अथ शब्द के आनन्तर्य अर्थ में कोई व्यवधान नहीं होता। **सति चानन्तार्यार्थत्वे धर्मजिज्ञासा पूर्ववृत्तं वेदाध्ययनं नियमेनापेक्षते**— तब तो अथ शब्द के आनन्तर्य अर्थ होने पर, जैसे धर्म जिज्ञासा के पहले, नियम से वेद का अध्ययन अपेक्षित होता है, **एवं ब्रह्मजिज्ञासापि यत्पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्षते**- उसी प्रकार ब्रह्म जिज्ञासा के पहले भी, नियम से होने वाले जिस ज्ञान की अपेक्षा हो, **तद्वक्तव्यम्**— उसे कहना चाहिए? **स्वाध्यायाध्ययनानन्तर्ये तु समानम्**— स्वाध्याय और अध्ययन का आनन्तर्य तो समान है, **नन्विह कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषः**— यदि कहो कि धर्म जिज्ञासा से ब्रह्म जिज्ञासा में यहाँ कर्म के अवबोध का

१. ब्रह्मसूत्र १/१/१।

आनन्तर्य ही विशेष है? **न-** तो ऐसा नहीं कह सकते, **धर्मजिज्ञासायाः प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः–** धर्म-जिज्ञासा के पहले भी वेदान्त का अध्ययन किये हुए को ब्रह्म-जिज्ञासा हो सकती है, **यथा च हृदयाद्यवदानानामानन्तर्यनियमः–** और जिस प्रकार से हृदयादि न्यास में हृदयादि अवदानों के आनन्तर्य का नियम है, **क्रमस्य विवक्षितत्वात्–** क्रम की विवक्षा होने के कारण, **न तथेह क्रमो विवक्षितः–** उस प्रकार के क्रम की अपेक्षा यहाँ नहीं है, **शेषशेषित्वेऽधिकृताधिकारे वा प्रमाणाभात्–** धर्म-जिज्ञासा और ब्रह्म-जिज्ञासा में अंग और अंगी भाव, अथवा अधिकृत व अधिकार मानने में कोई प्रमाण नहीं है। **धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः फलजिज्ञास्यभेदाच्च–** इसके अतिरिक्त धर्म जिज्ञासा और ब्रह्म जिज्ञासा दोनों के फल और जिज्ञास्य में भेद है **अभ्युदयफलं धर्मज्ञानं–** लोक में अभ्युदय फल वाला धर्म ज्ञान है **तच्चानुष्ठानापेक्षम्–** और उसके लिए कर्म का अनुष्ठान अपेक्षित है। **निःश्रेयसफलं तु ब्रह्मविज्ञानं** - परमार्थ मोक्ष ब्रह्म विज्ञान का फल है। **न चानुष्ठानान्तरापेक्षम् –** उसके लिए स्वस्वरूप विज्ञानात्मक ब्रह्मविज्ञान के अतिरिक्त किसी बाह्य अन्य अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं है। अर्थात् स्वरूप-ज्ञान के लिए, स्वरूप अनुसंधान के अतिरिक्त अन्य किसी अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं है। **भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञानकालेऽस्ति–** धर्म जिज्ञासा का विषय धर्म शरीर साध्य है, और ज्ञान काल में नहीं है, **पुरुषव्यापारतन्त्रत्वात्–** क्योंकि शरीर साध्य विषय पुरुष के द्वारा किये जाने वाले कर्म के अधीन होते हैं, **इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं नित्यत्वान्न पुरुषव्यापारतन्त्रम्–** यहाँ तो नित्य सिद्ध आत्मा ब्रह्म जिज्ञास्य है, जो व्यक्ति के द्वारा होने वाले कर्मों के अधीन नहीं है। **चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च-** और जो दोनों धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा की प्रेरणा करने वाली प्रवृत्तियाँ हैं, उनमें भी भेद होने के कारण यह सम्भव नहीं। **या हि चोदना धर्मस्य लक्षणं सा स्वविषये नियुञ्जानैव पुरुषमवबोधयति–** जो प्रेरणा धर्म का लक्षण है, वह अपने विषय में नियुक्त व्यक्ति को ही उसका अवबोध कराती है, **ब्रह्मचोदना तु पुरुषमवबोधयत्येव केवलम्–** अपने आत्मा को जानने की प्रेरणा तो व्यक्ति को केवल स्वस्वरूप का अवबोध

कराती है, **अवबोधस्य चोदनाजन्यवान्न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते**- और आत्मज्ञान प्रेरणाजन्य होने के कारण, वह व्यक्ति को बाह्यकर्म-ज्ञान में नहीं लगाता है, **यथाऽक्षार्थ-संनिकर्षेणार्थावबोधे, तद्वत्**– जैसे आखों के समक्ष होने से वस्तु स्वभाविक रूप से दिखती है, किन्तु वह उस वस्तु-विषय में व्यक्ति को नियुक्त नहीं करती उसी प्रकार। **तस्मात्किमति वक्तव्यं यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासोपदिश्यत इति**– इसलिए कुछ तो ऐसा बताना चाहिए, जिसके उपरान्त ब्रह्म जिज्ञासा का उपदेश किया जाता है। **उच्यते**-बताता हूँ, **नित्यानित्यवस्तुविवेकः**- नित्य और अनित्य वस्तु का ज्ञान, **इहामुत्रार्थभोगविरागः** – इस संसार की और उस परलोक के विषयों को भोगने की आकांक्षा से वैराग्य, **शमदमादिसाधनसंपत्**- शम, दम **आदि**-उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान यह साधन सम्पत्तियाँ, **मुमुक्षत्वं च**-और मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा, **तेषु हि सत्सु प्रागपि धर्मजिज्ञासाया ऊर्ध्वं च शक्यते ब्रह्म जिज्ञासितुं ज्ञातुं च**- इनके होने पर धर्म जिज्ञासा के पहले भी, और बाद में भी, किसी को भी, ब्रह्म जिज्ञासा हो सकती है, **न विपर्यये**– इसके विपरीत नहीं, **तस्मादथशब्देन यथोक्तसाधन-संपत्त्यानन्तर्यमुपदिश्यते**- इसलिए अथ शब्द के द्वारा जैसा कि कहा गया ऐसी साधन-सम्पत्तियों के अनन्तर ब्रह्म जिज्ञासा का उपदेश किया जाना चाहिए, **अतः शब्दो हेत्वर्थः**– यहाँ 'अतः' शब्द हेतु के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। **यस्माद्वेद एवाग्निहोत्रादीनां श्रेयःसाधनानामनित्यफलतां दर्शयति**– क्योंकि वेद ही अग्निहोत्र आदि श्रेय साधनों के फल की अनित्यता दिखाता है, *"तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते [१]"– वह इस प्रकार जैसे यहाँ कर्मों के द्वारा इकठ्ठा किया गया धन सम्पत्ति वैभव आदि युक्त इस लोक के भोगों का शरीर के साथ क्षय हो जाता है। इसी प्रकार वह पुण्य से प्राप्त किया गया परलोक भी, पुण्यक्षीण होने के साथ क्षीण हो जाता है।* **इत्यादिः** – इत्यादि श्रुतियों में यह तथ्य स्पष्ट है। **तथा ब्रह्मविज्ञानादपि परं पुरुषार्थं दर्शयति**- इसी प्रकार आत्म विज्ञान का भी परम पुरुषार्थ वेद दिखाता है, *"ब्रह्मविदान्पोति परम् [२]"– आत्मज्ञानी परम को प्राप्त कर लेता है*

१. छान्दो०८/१/६। २. तैत्ति०२/१।

इत्यादिः - इत्यादि श्रुतियों में यह तथ्य भी स्पष्ट है। **तस्माद्यथोक्त-साधनसंपत्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या**- इसलिए जैसा कहा गया, ऐसी साधन सम्पत्ति के अनन्तर आत्म-जिज्ञासा करनी चाहिए, **ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा**- चैतन्य आत्मस्वरूप को जानने की इच्छा ही ब्रह्मजिज्ञासा है, **ब्रह्म च वक्ष्यमाणलक्षणं** – और ब्रह्म आगे बताये जाने वाले लक्षण वाला है, *"जन्माद्यस्य यत:" – जिससे जन्मादि होते हैं,* **इति**- इस सूत्र से **अत एव न 'ब्रह्म' शब्दस्य जात्याद्यर्थान्तरमाशङ्कितव्यम्**- इसलिए ब्रह्म शब्द के ब्राह्मण जाति आदि भिन्न अर्थों की आशंका नहीं करनी चाहिए। **ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी- "ब्रह्मणः"** इस शब्द में कर्म में षष्ठी है, **न शेषे**- शेष अर्थ में नहीं **जिज्ञास्यापेक्षत्वाज्जिज्ञासायाः** – क्योंकि जिज्ञासा को जिज्ञास्य की अपेक्षा होती है। **जिज्ञास्यान्तरानिर्देशाच्च**- और यहाँ आत्मा के अतिरिक्त अन्य जिज्ञास्य का निर्देश नहीं किया गया है। **ननु शेषषष्ठीपरिग्रहेऽपि ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं न विरुध्यते**- यदि ऐसा कहा जाय कि शेष षष्ठी के स्वीकार करने पर भी ब्रह्म में जिज्ञासा कर्म का विरोध नहीं है। **सम्बन्धसामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वात्** – क्योंकि सम्बन्ध सामान्य, विशेष में भी रहता है। **एवमपि प्रत्यक्षं ब्रह्मणः कर्मत्वमुत्सृज्य समान्यद्वारेण परोक्षं कर्मत्वं कल्पयतो व्यर्थः प्रयासः स्यात्**- इस प्रकार मानने पर भी प्रत्यक्ष ब्रह्म शब्द का कर्मत्व छोड़कर सामान्य द्वार से परोक्ष कर्मत्व को कल्पित करने का व्यर्थ प्रयास होगा। **न व्यर्थः** – यदि यह कहो कि यह प्रयास व्यर्थ नहीं है, **ब्रह्माश्रिताशेषविचारप्रतिज्ञानार्थत्वाद् इति चेन्न**– क्योंकि ब्रह्म के आश्रित सम्पूर्ण विचार की प्रतिज्ञा की जाने के कारण, यदि ऐसा कहते हों, तो यह कहना ठीक नहीं है, **प्रधानपरिग्रहे तदपेक्षितानामर्थाक्षिप्तत्वात्**– प्रधान का ग्रहण होने पर उससे अपेक्षित सभी पदार्थों का अर्थतः ग्रहण हो जाने के कारण। **ब्रह्म हि ज्ञानेनाप्तुमिष्टतमत्वात्प्रधानम्** – आत्मा ही ज्ञान के द्वारा इष्टतम प्राप्तब्य प्रधान है। **तस्मिन्प्रधाने जिज्ञासाकर्मणि परिगृहीते यैर्जिज्ञासितैर्विना ब्रह्म जिज्ञासितं न भवति**– उस प्रधान जिज्ञासा कर्म के ग्रहण में जिन जिज्ञासाओं के बिना ब्रह्म-जिज्ञासा नहीं होती, **तान्यर्थाक्षिप्तान्येवेति न पृथक्सूत्रयितव्यानि**– उनका ब्रह्म-जिज्ञासा में ही अर्थतः ग्रहण हो जाने के

कारण अलग से उन्हें सूत्रित किये जाने की आवश्यकता नहीं है। **यथा राजासौ गच्छतीत्युक्ते सपरिवारस्य राज्ञो गमनमुक्तं भवति, तद्वत्–** "जिस प्रकार वह राजा जाता है", यह कहने पर सपरिवार राजा का गमन कहा जाता है अलग से कहने की जरूरत नहीं होती उसी प्रकार, **श्रुत्यनुगमाच्च-** और श्रुति का अनुगमन करने से भी यही तथ्य स्पष्ट होता है, *"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते*[1]*"- जिससे यह सारे प्राणी उत्पन्न होते हैं।* **इत्याद्याः श्रुतयः –** इस श्रुति से आरम्भ कर *"तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म*[2]*" उसको जानने की इच्छा कर वह ब्रह्म है।* **इति प्रत्यक्षमेव ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं दर्शयन्ति–** ये श्रुतियाँ प्रत्यक्ष ही ब्रह्म को ही जिज्ञासा का कर्म दिखाती हैं। **तच्च कर्मणि षष्ठीपरिग्रहे सूत्रेणानुगतं भवति–** वह कर्म में षष्ठी ग्रहण होने पर ही सूत्र से अनुगत होता है। **तस्माद्ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी–** इसलिए ब्रह्मणः यह कर्म में षष्ठी है। **ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा–** जानने की इच्छा ही जिज्ञासा है। **अवगतिपर्यन्तं ज्ञानं सन्वाच्याया इच्छायाः कर्म-** भलीभाँति जान लेने तक का ज्ञान सन् प्रत्यय से कही गयी इच्छा का कर्म है, **फलविषयत्वादिच्छायाः –** इच्छा के फल विषयक होने के कारण। **ज्ञानेन हि प्रमाणेनावगन्तुमिष्टं ब्रह्म-** ज्ञान प्रमाण के द्वारा ही इष्ट ब्रह्म को ठीक-ठीक जाना जा सकता है। **ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः –** ब्रह्म अर्थात् आत्मा का भलीभाँति अवबोध ही पुरुषार्थ है। **निःशेषसंसारबीजा-विद्याद्यनर्थनिबर्हणात् –** क्योंकि सम्पूर्ण संसार का मूल कारण अविद्या रूप अनर्थ का वही निवर्तक है। **तस्माद्ब्रह्म विजिज्ञासितव्यम् –** इसलिए आत्मा को जानना चाहिए। **तत्पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात् –** यहाँ पूर्व पक्षी पुनः प्रश्न उठाता है कि, वह ब्रह्म प्रसिद्ध है अथवा अप्रसिद्ध? **यदि प्रसिद्धं, न जिज्ञासितव्यम् –** यदि प्रसिद्ध है, तो जानने की आवश्यकता नहीं **अथाऽप्रसिद्धं, नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति-** यदि अप्रसिद्ध है, तो जाना ही नहीं जा सकता है, **उच्यते–** कहते हैं, **अस्ति तावद्ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितम्-** वह ब्रह्म निश्चय ही नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव सर्वज्ञ सभी प्रकार की शक्तियों से युक्त है, **ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य**

---

१. तैत्ति० ३/१। २. तैत्ति० ३/१।

नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते- व्युत्पत्ति- सिद्ध 'ब्रह्म' शब्द के नित्य शुद्ध आदि अर्थ प्रतीत होते हैं, **बृहते-र्धातोरर्थानुगमात्**- बृंह धातु के अर्थ का अवगमन करने के कारण **सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्व-प्रसिद्धिः**– सबका आत्मा होने के कारण ब्रह्म का अस्तित्व प्रसिद्ध है। **सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति**- सभी लोगों को आत्मा का अस्तित्व अनुभूत होता है। **न नाहमस्मीति**– "मैं नहीं हूँ", ऐसा अनुभव किसी को नहीं होता **यदिहि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात्, सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात्**- यदि आत्मा का अस्तित्व अनुभव प्रसिद्ध नहीं होता, तो सभी लोग "मैं नहीं हूँ" ऐसा अनुभव करते, **आत्मा च ब्रह्म**- और आत्मा ही ब्रह्म है, **यदि तर्हि लोके ब्रह्मात्मत्वेन प्रसिद्धमस्ति**- यदि लोक में ब्रह्म आत्मरूप से प्रसिद्ध है, **ततो ज्ञातमेवेत्यजिज्ञास्यत्वं पुनरापन्नम्**- तब तो फिर जाना हुआ ही है, फिर जानने की क्या आवश्यकता? यह प्रश्न पुनः उपस्थित है। **न, तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः**– ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उसके विशेष रूप से जानने में विवाद है, **देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता जना लोकयतिकाश्च प्रतिपन्नाः** – देह मात्र चैतन्य विशिष्ट आत्मा है, ऐसा सामान्य जन और लोकायतिक लोग मानते हैं। **इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरे**- दूसरे लोग चेतन इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं, ऐसा मानते हैं। **मन इत्यन्ये**- अन्य लोग मन को ही आत्मा मानते हैं, **विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येके**- क्षणिक विज्ञान मात्र आत्मा है, ऐसा कुछ लोग मानते हैं। **शून्यमित्यपरे**- आत्मा शून्य है, ऐसा अन्य लोग मानते हैं। **अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी कर्ता भोक्तेत्यपरे**- दूसरे अन्य लोग, देहादि से अतिरिक्त कर्ता-भोक्ता संसारी आत्मा है, ऐसा मानते हैं। **भोक्तैव केवलं न कर्तेत्येके**- केवल भोक्ता ही है, कर्ता नहीं कुछ एक ऐसा मानते हैं, **अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचित्** – दूसरे कुछ लोग इस आत्मा के अतिरिक्त ईश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान है, ऐसा मानते हैं। **आत्मा स भोक्तुरित्यपरे**- वह आत्मा ही भोक्ता है, यह दूसरे लोग मानते है, **एवं बहवो विप्रतिपन्ना युक्तिवाक्यतदाभास-समाश्रयाः सन्त**– इस प्रकार बहुत-से परस्पर विपरीत युक्ति वाक्य और उनके आभासों का आश्रय लेकर विवाद करते हैं। **तत्राविचार्य**

यत्किंचित्प्रतिपद्यमानो निःश्रेय-सात्प्रतिहन्येतानर्थं चेयात्– इस सभी विचारों में जो कुछ भी अविचार पूर्ण है, उस सबका विचार किये बिना जिस किसी मत को मानने वाला, तथ्य के ज्ञान से, व मोक्ष से वंचित रहेगा, और अनर्थ को प्राप्त होगा। **तस्माद् ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधितर्कोपकरणा निःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते–** इसलिए ब्रह्मजिज्ञासा के कथन द्वारा जिसमें अविरोधी तर्क उपकरण रूप हैं, ऐसे निःश्रेयस-मोक्ष की साधनभूत प्रयोजन वाली वेदांत वाक्यों की मीमांसा की जाती है।

मीमांसा–इस सूत्र की व्याख्या में आचार्य शंकर ने 'अथ' शब्द को अधिकार के लिए न मानकर आनन्तर्य अर्थ में माना है। और उस आनन्तर्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है, जब भी किसी व्यक्ति को नित्य-अनित्य का विवेक हो, सांस्सारिक और स्वर्गीय भोगों को भोगने की आकांक्षा से वैराग्य हो जाय। शम-दम-उपरति-तितिक्षा-श्रद्धा और समाधान रूप छः सम्पत्तियाँ जीवन में आ जायें, और संसार के दुखों से मोक्ष पाने की इच्छा का उदय हो जाये, ऐसे किसी भी व्यक्ति को परमात्म जिज्ञासा का अधिकारी समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध में ब्राह्मण आदि जाति अथवा कर्म-काण्डीय धर्मज्ञान के होने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट रूप से ब्रह्म जिज्ञासा में, जाति, वर्ग आदि शारीरिक अहंता का पूर्ण निषेध किया है।

इसी क्रम में 'तत्त्वबोध' नामक ग्रन्थ में जीवन मुक्त के लक्षण में शरीर में आत्मबुद्धि त्याग करने का उनका यह उपदेश भी द्रष्टव्य है—

''ननु जीवनमुक्तः कः? वेदान्तवाक्यैः सद्गुरूपदेशेन च सर्वेष्वपि भूतेषु येषां ब्रह्मबुद्धिरुत्पन्ना ते जीवन्मुक्ताः इत्यर्थः। यथा देहोऽहं पुरुषोऽहं ब्राह्मणोऽहं शूद्रोऽहमस्मीति दृढनिश्चयस्तथा नाहं ब्राह्मणः, न शूद्रः, न पुरुषः किन्तु असङ्गः सच्चिदानन्दस्वरूपः प्रकाशरूपः सर्वान्तर्यामी चिदाकाशरूपोऽस्मीति दृढनिश्चयरूपोऽपरोक्षज्ञानवान् जीवन्मुक्तः।[१]

हिन्दी अनुवाद–

प्रश्न- जीवनमुक्त कौन है?

उत्तर- वेदांत वाक्य और सद्गुरु के उपदेश से सभी प्राणियों में

---

१. श्रीमद् आदिशंकराचार्य द्वारा रचित तत्त्वबोध नामक ग्रन्थ में जीवन्मुक्त के लक्षण

जिनके भीतर परमात्म बुद्धि उत्पन्न हुई है, वे जीवन मुक्त हैं। जिस प्रकार से, "मैं देह हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं शूद्र हूँ इत्यादि दृढ़ निश्चय लोगों में हो जाता है, उसी प्रकार मैं ब्राह्मण नही हूँ , मैं शूद्र नही हूँ, मैं देह नहीं हूँ, मैं पुरुष नहीं हूँ, अपितु मैं इन सबसे असंग, सच्चिदानन्द स्वरूप, प्रकाशरूप, सर्वान्तर्यामी, चिदाकास्वरूप हूँ।" इस प्रकार का दृढ़ निश्चयात्मक अपरोक्ष ज्ञानवान् जीवन्मुक्त है।

मीमांसा– यहाँ भगवत्पाद शंकराचार्य ने यह स्पष्ट उपदेश किया है कि, जिस प्रकार ब्राह्मण स्वात्मा में, मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, अपितु शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा हूँ, ऐसा दृढ़ निश्चय करे, उसी प्रकार शूद्र भी स्वात्मा में, मैं शूद्र नहीं हूँ, अपितु सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा हूँ, ऐसा दृढ़ निश्चय करे। अर्थात् प्रत्येक मानव अपने को जाति, वर्ग, सम्प्रदाय न मानकर शुद्ध आत्मस्वरूप का चिन्तन करते हुए विशुद्ध परमात्म स्वरूप को उपलब्ध करे, ऐसा उपदेश कर रहे हैं। वही आचार्य **"न शूद्राय मतिं दद्यात्"** शूद्र को बुद्धि नहीं देनी चाहिए ऐसा विपरीत उपदेश कथमपि नहीं कर सकते। आगे कही गयी अत्यन्त क्रूरतापूर्ण उक्तियों को उनका लिखा हुआ कहना, अत्यन्त घृणित और मिथ्या आरोप है। इस उपर्युक्त जीवन्मुक्त प्रकरण में तो शूद्र के लिए तत्त्वोपदेश मात्र किया है। जिस शूद्र या उससे भी अत्यन्त निम्न वर्ग के व्यक्ति को आत्मज्ञान प्राप्त हो गया है, उसको मार डालने की कल्पना तो बहुत दूर की बात है, उसके प्रति शंकराचार्य में जो अगाध श्रद्धा है, उसे मनीषा पञ्चक में देखने लायक है, वहीं से यह एक श्लोक—

"भाति यस्य जगद्दृढबुद्धेः, सर्वमप्यनिशमात्मतयैव।
स द्विजोऽस्तु श्वपचो वा, वन्दनीय इति मे दृढनिष्ठा।।
या चितिः स्फुरति विष्णुमुखे, सा पुत्तिकावधिषु सैव सदाहम्।
नैवदृश्यमिति यस्य मनीषा, पुल्कसो भवतु वा स गुरुर्मे।।[1]"

अर्थ- जिसकी दृढ़ बुद्धि में सारा जगत निरन्तर आत्मरूप से प्रकाशित होता है, वह द्विज हो अथवा श्वपच चाण्डाल हो, वन्दनीय है, ऐसी मेरी दृढ़

---

१. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय स्थित विश्वनाथ मंदिर के प्रथम तल में संगमरमर के पाषाण पीठ पर आद्यशङ्कराचार्य का यह श्लोक महामना ने मनीषा पञ्चक से उत्कीर्ण करवाया है।

निष्ठा है। जो चेतना शक्ति भगवान विष्णु के मुख में स्फुरित होती है, वही पुत्तलिकाओं में भी स्फुरित होती है, वह चैतन्य स्वरूप ही सदा मैं हूँ, यह नानाकार दृश्य नहीं है, अपितु सर्वत्र-सबकुछ आत्मा ही है, परमात्मा ही है, ऐसी जिसकी बुद्धि है, वह चाण्डाल हो तो भी मेरा गुरु है।

मीमांसा- इससे यह स्पष्ट हो गया कि क्रूरता की पराकाष्ठा तक अपशूद्राधिकरण नामक शूद्र का हृदय विदारक भाष्य जो शंकराचार्य के नाम से लिखा गया है, उनका कथमपि नहीं हो सकता। अपितु शरीर अहं वादी राक्षसी मानसिकता के वेद द्रोही, भारतीय सांस्कृतिक समरसता के शत्रुओं द्वारा, छलपूर्वक आचार्य के भाष्य में मूल भाष्य को हटा कर प्रक्षेपित किया गया है।

जगद्गुरु रामानुजाचार्य ने, भवन की अट्टालिका के शिखर पर चढ़कर, सभी लोगों के हित के लिए, और सभी लोगों के सुख के लिए, महामंत्र का उपदेश किया जिसे उनके गुरु ने अत्यन्त गोपनीय बताया था। इसी प्रकार जगद्गुरु निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य और बल्लभाचार्य तो अपने को भगवद्भक्तों के दासों का अनुदास कहते हैं।

जगद्गुरु रामानन्दाचार्य के शिष्यगण कबीरदास, रैदास, पीपादास, सेनदास आदि बारह शिष्य उनकी महानीयता के परिचायक हैं। इससे ही स्पष्ट है कि, अपशूद्राधिकरण के नाम से प्रचारित किया गया भाष्य इन आचार्यों का नहीं है, बल्कि दुर्जनों, वैदिक संस्कृति के शत्रुओं के द्वारा कर्म विभाग रूप में वेदों में बनायी गयी कर्मात्मिका वर्ण संरचना में अन्तर्निहित पारस्परिक समरसता को नष्ट करने के लिए, और जगद्गुरुओं के प्रति घृणा उत्पन्न करने के लिए, कूट रचित है। कूट योजना के द्वारा ही महापुरुषों, आचार्यों के पवित्र शास्त्रों में, उक्त प्रकार के दुष्टों द्वारा योजित किया गया है।

यहाँ यह ही बड़ा आश्चर्य है कि, जिस दर्शन में सब जगह, सबके भीतर, परमात्मा की उपस्थिति का दर्शन कराया गया है, उसी दर्शन में इस प्रकार की छद्म निर्मित कूट रचना भी मौजूद है। जन्मना श्रेष्ठ शरीर के अहंकार में मदान्ध हुए हम लोगों को, ऐसी कूट रचना नहीं दिखाई देती। बल्कि आज भी हम इस कूट रचना को अपने महापुरुषों के नाम से ही पढ़ाये चले जा रहे हैं।

३- सभी वर्णों के समान ही शूद्र वर्ण के लोगों को भी वेद पढ़ने का अधिकार स्वयं वेद में ही स्पष्ट।

प्रश्न- ''**श्रावयेच्चतुरो वर्णान्**'' इत्यादि प्रमाणों के द्वारा इतिहास पुराण आदि के पढ़ने में चारो वर्णों का अधिकार है, ऐसा स्मृतियों से स्पष्ट होता है, किन्तु वेदपूर्वक शूद्र को ज्ञान देने का निषेध किया गया है, यदि ऐसा मान लिया जाय तो क्या हानि है?

उत्तर- वेद वाणी ही ऋषियों के मुख से आयी हुई, सभी लोगों का कल्याण करने वाली, परम्परा से कण्ठस्थ की गयी, विशुद्ध रूप में स्वतः प्रमाण, अपौरुषेय, ज्ञानमयी वाणी है। वह ही इन कूट रचनाओं को ध्वस्त कर देने में सक्षम है। वह ही तो मनुष्य मात्र को ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी घोषित करती है। उसे पढ़ने के अनधिकार की कल्पना भी कैसे की जा सकती है? देखें यह वेद वाणी—

''यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।
प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासम्,
अयं मे कामः समृद्धतामुप मादो नमतु।[१]''

सभी मनुष्यों के द्वारा वेद पढ़ने योग्य हैं, और सभी मनुष्यों को वेद पढ़ाये जाने योग्य हैं, वेदात्मा पुरुष स्वयं यह आज्ञा देते हैं–देखें मंत्रार्थ—

यथा- जिस प्रकार से ''**इमाम्**''- यह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद की ''**कल्याणीं वाचम्**''- सब लोगों का कल्याण करने वाली वाणी ''**जनेभ्यः**''- सभी जनों के लिए, सभी लोगों के हित के लिए ''**आवदानि**''- हमने कही उसी प्रकार आपलोग भी सबके लिए इस वेद चतुष्टयी का उपदेश करें।

मीमांसा- यहाँ लोट् लकार उत्तम पुरुष का प्रयोग कर भगवान वेद ने स्वयं किये गये उपदेश को सभी लोगों को भी उपदेश करने की आज्ञा दी है।

शरीर अहं वादी का प्रश्न- यहाँ जनेभ्यः के साथ द्विजेभ्यः विशेषण अध्याहार करके अर्थ करना चाहिए, तब अर्थ होगा द्विज लोगों के लिए,

---
१. यजुर्वेद मा. २६/२

ऋग्वेद आदि कल्याणमयी वाणी का उपदेश करना चाहिए। यदि ऐसा कहें तो?

उत्तर- ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि किन लोगों को उपदेश करना चाहिए, ऐसी आकांक्षा का समाधान स्वयं वेदवाणी करती हुई कहती है- यह कल्याणमयी वेदवाणी, **ब्रह्मराजन्याभ्यां**- ब्राह्मण के लिए, क्षत्रिय के लिए, **शूद्राय चार्याय**- वैश्य के लिए और शूद्र के लिए, **स्वाय चारणाय च**- अपने लिए, अपने स्वात्मीय पुत्र भृत्य आदि के लिए, और उन सबके लिए जो वेद में श्रद्धा रखते हैं, शत्रु भाव नहीं रखते। ऐसे इन सब लोगों के लिए वेद चतुष्टयी का ज्ञान कराना चाहिए।

भगवान वेद कहते हैं कि **इह**-इस वेद विद्या दान के प्रसंग में **दातुः**- वेद का ज्ञान देने वाले दाता आचार्य का **देवानाम्**- जो वेद ज्ञान से द्योतित होना चाहते हैं वे ब्रह्मचारी गण, विद्यार्थी लोग ही यहाँ देव हैं, ऐसे देवों का **दक्षिणायै**- वेद ज्ञान से जीवन के कर्मों में दक्षता प्राप्त करने के लिए ''**प्रियः भूयासम्**''- प्रिय होऊँ। ''**अयं मे कामः**''- मुझ वेदात्मा पुरुष की सबका प्रिय होने की, और मेरे ज्ञान के द्वारा अपने कर्म में दक्षता प्राप्ति से लोगों के अपने जीवन में सफलता प्राप्ति की, मेरी यह कामना ''**समृद्धताम्**''- सफल हो ।

'**अदः**'- वेद ज्ञान के द्वारा अपने-अपने कर्म में दक्षता प्राप्त करने वाला वह जन समुदाय '**मा**'- मेरे प्रति '**उप नमतु**'- वेद का ज्ञान प्राप्त होने के कारण, वेदात्मा पुरुष का सामीप्य प्राप्त होने के कारण, जीवन के सफल होने से आयी हुई श्रद्धा से विनम्र हुआ, मुझे नमन करने वाला हो।

पूर्वपक्षी की शङ्का- इस मंत्र से तो ऐसा लगता है कि, वेद मंत्रों में परस्पर विरोध है, जैसा कि यह मंत्र प्रसिद्ध है–''**न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयताम्**''– ''स्त्री और शूद्र वेद न पढ़ें''।

समाधान- ऐसा कोई भी मंत्र किसी भी वेद में नही है, वल्कि वेद द्रोहियों, दुर्जनों ने छल से ऐसा झूठ फैला दिया है, कि वेद में ऐसा लिखा है, यह केवल उन वेद द्रोहियों की कपोल कल्पना मात्र है ।

प्रश्न– स्त्रियों के वेद अध्ययन का क्या प्रमाण है?

उत्तर- वेद मंत्रों की द्रष्टा बहुत-सी ऋषिकायें ही स्वयं प्रमाण हैं, उनके रहते हुए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं है।

शङ्का - उन ऋषिकाओं ने बाल ब्रह्मचारिणी रहकर, विवाह न करते हुए तपस्या कर यह सफलता प्राप्त की थी, जैसे ऋषिका वागाम्भृणी। यह सामान्य स्त्रियाँ नहीं थीं।

समाधान- ऐसा कहना उचित नहीं है, ऋग्वेद में विवाह मंत्रों की द्रष्ट्री ऋषिका सूर्या सावित्री अपने ही विवाह का वर्णन करते हुए पति के घर जाने के समय का वर्णन करती हुई कहती है—

''रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी।
सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृतम् ।।
चित्तिरा उपवर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम् ।
द्यौ भूमिः कोश आसीद् यदयात् सूर्या पतिम्[१]।।''

हिन्दी- ऋषिका सूर्या अपने विवाह का वर्णन करते हुए कहती है कि, जिस समय सूर्या पतिगृह को गयी, उस समय में रैभी कही जाने वाली कुछ ऋचायें ही उसकी **अनुदेयी** – पतिगृह को विवाहोपरान्त पहली बार जाने वाली वधू के साथ उसके मनोविनोद के लिए कुछ छोटी-छोटी बालिकायें सखी के रूप में भेजी जाती थीं, उन्हें ही अनुदेयी कहा जाता था। यहाँ सूर्या अपनी अनुदेयी के रूप में रैभी नामक ऋचाओं को ही अपनी अनुदेयी सखी कह रही है।

न्योचनी- प्रथम बार पतिगृह जाने वाली वधू की सेवा के लिए दी जाने वाली दासी को ही **न्योचनी** कहा जाता था। **नाराशंसी-** प्रातारत्न कही जाने वाली ऋचायें जिन्हें लोग प्रातः काल स्तुति के रूप में प्रयोग करते थे, वे ऋचायें ही सूर्या के साथ जाने वाली **न्योचनी** दासी के रूप में थीं। सूर्या के दुकूल आदि आच्छादन योग्य वस्त्रों को गाथा नाम की ऋचाओं से सजाया गया था। **आ चित्तिः उपबर्हणम्**–सम्पूर्ण चित्त में उठ रहे नये-नये उल्लासात्मक विचार ही सिर के नीचे लगायी जाने वाली तकिया थे। **चक्षुः अभ्यञ्जनम**–नेत्रों में ज्ञान का अंजन लगा हुआ था। आकाश और पृथ्वी ही कोश थे, जब सूर्या पति गृह गयी। अर्थात् सूर्या अपने विवाह के समय पूर्ण

---

१. ऋग्वेद १०/९०/६,७।

वेद ज्ञान वाली विदुषी युवती थी। विवाह के बाद ही मातृ गौरव को प्राप्त कर सूर्या गृहस्थ जीवन के अनुभूति परक मंत्रों की द्रष्ट्री ऋषिका हुईं।

इसी प्रकार मानव संस्कृति के जन्मदाता महामनस्वी महाराज मनु की पत्नी, नारियों की आदर्श महीयशी श्रद्धा भी श्रद्धा सूक्तों की द्रष्ट्री ऋषिका हैं। इसलिए यह कथन नितांत हास्यास्पद है कि स्त्रियों को वेद सुनने या पढ़ने का अधिकार नहीं था। अपितु नारियाँ भी पुरुषों की भाँति बाल्यकाल में वेद की शिक्षा ग्रहण करती थीं और पूर्ण वेद की विदुषी होकर विवाह करती थीं। जैसा कि वेद मंत्र है—

''ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्[१]।''

हिन्दी—ज्ञानाचरण पूर्वक ब्रह्मकुल में विधिवत् वेद ज्ञान प्राप्त कर ज्ञानवती कन्या ज्ञानपूर्वक ही अपने समान युवापति को प्राप्त करती है।

४-वेद ज्ञान के लिए, विद्यार्जन के लिए, सभी बालक-बालिकाओं को ब्रह्मकुल में प्रवेश का अधिकार है।

उक्त तथ्यों से कई ऐसे लोगों के मन में, जो वेद पढ़ने में बालिकाओं का अधिकार ही नहीं मानते, उनके मन में यह संदेह उठ सकता है, कि क्या बालिकायें भी बालकों के समान ब्रह्मकुल में ब्रह्मचारिणी के रूप में रहकर वेद विद्या का अर्जन करती थीं? तो उन्हें यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि, हाँ! बालिकायें भी वैदिक काल में ब्रह्मकुलों में ब्रह्मचारिणी के रूप मे रहकर वेद विद्या का अर्जन करती थीं। विद्या और युवा अवस्था को प्राप्त कर अपने अनुरूप योग्य वेद के विद्वान् स्नातक युवक के साथ विवाह करती थीं। जैसा कि सूर्या ने अपने विवाह के विषय में स्पष्ट बताया है। सभी कार्य ज्ञान के द्वारा ही ठीक से होते हैं। अध्यापन, प्रशासन, कृषि-वाणिज्य, और श्रमशिल्पात्मक, सभी कर्म वेद ज्ञान पूर्वक ही भली भाँति किये जाते थे। जीवन में उत्कर्ष के लिए सबकी मूल आवश्यकता, ज्ञान की ही है। जिस प्रकार से कि अथर्ववेद में वर्णित है, वहीं से कुछ ऋचायें प्रस्तुत करता हूँ—

''आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे विभर्ति तं जाते द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः।।[२]''

---

१. अथर्ववेद ११/५/१८। २. अथर्ववेद ११/५/३ ।

अर्थ–आचार्य, ब्रह्मचारी-शिक्षार्थी का, शिक्षा के लिए उपनयन करता हुआ, दृढ़ व्रत का उपदेश करता हुआ, अपने गर्भ में रखने के समान करता है। उस ब्रह्मचारी को तीन रात तीन दिन पर्यन्त अपने उदर में रखकर, अर्थात् अपने ब्रह्मकुल में रखकर, उस बालक के घर में प्राप्त संस्कारों का परीक्षण करता है और शिक्षा प्राप्ति के लिए, ब्रह्मकुल के अपेक्षित नियमों का उपदेश करता है। जब वह बालक विद्या ग्रहण करने के सामर्थ्य से युक्त होता है, तब विद्या ग्रहण करने की योग्यता के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए उस ब्रह्मचारी को विद्या देने के सामर्थ्य से युक्त देव-विद्वान् उसे देखने और विद्या देने के लिए आते हैं।

''पूर्वो जातो ब्राह्मणो ब्रह्मचारी धर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठम् देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्[१]।।''

उक्त प्रकार से पहले ब्राह्मण से ब्रह्मपूर्वक, अर्थात् आचार्य से ज्ञान पूर्वक, त्रिदिवसीय दीक्षा कालीन ज्ञान से बालक ब्रह्मचारी में परिवर्तित हो जाता है। फिर वह ब्रह्म-ज्ञान का आचरण करता हुआ इस ज्ञानाचरण के धर्म में बसा हुआ, ज्ञान ग्रहणात्मक धर्म का आचरण करता हुआ, **तपसा–** इस ज्ञानग्रहण रूप तप के द्वारा **'उदतिष्ठत्'**– निरन्तर ज्ञान के उत्कर्ष को प्राप्त करता हुआ उस ज्ञान के उत्कर्ष से **ब्रह्मज्येष्ठम्–** श्रेष्ठ ज्ञान से सम्पन्न **'ब्राह्मणं जातम्'** ब्राह्मण हो जाता है। अर्थात् उत्पन्न हुए इस उत्कृष्ट ज्ञान से वह ब्रह्मचारी ही ब्राह्मण हो जाता है। उस ब्राह्मण-ज्ञानी के प्रति सभी देवता-इन्द्रियाँ ज्ञान-अमृत के साथ होती हैं, अर्थात् ज्ञानामृत देती रहती हैं।

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः, कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं, लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्[२]।।

वह ब्रह्मचारी **समिधा**-भावी जीवनोपयोगी विद्या के द्वारा **समिद्धः** - समृद्ध हुआ, **कार्ष्णं**-लेखन अध्ययन में **वसानः** – वसता हुआ, अर्थात् पठन-पाठन को जीता हुआ, **दीर्घश्मश्रुः**- वाल्यावस्था में जब दाढ़ी मूछ का आरम्भ नहीं हुआ रहता है तब ब्रह्मकुल में प्रवेश कर दीर्घ काल तक

---

१. अथर्ववेद ११/५/५। २. अथर्ववेद ११/५/६।

अध्ययन करता हुआ युवा अवस्था में दाढ़ी मूंछ आने तक **दीक्षितः**– पूर्ण स्नातक होकर **सः**-वह **सद्यः** शीघ्र ही, **पूर्वस्मात समुद्रात्** पूर्व समुद्र से **उत्तरम् समुद्रम** उत्तर समुद्र को जाता है, अर्थात् पूर्व के ब्रह्मचर्य आश्रम से स्नातक होकर, उत्तर आश्रम-गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है। **लोकान्त्संगृभ्य** वह लोक संग्रह करता हुआ **मुहुराचरिक्रत्** बार-बार अपने समग्र जीवन में ब्रह्मचर्य का ही आचरण करता है। अर्थात् ज्ञानाचरणपूर्वक ही जीवन को जीता है। ज्ञानाचरण ही ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य के द्वारा, ज्ञानाचरण के द्वारा वह अपने अग्रिम जीवन में क्या क्या करता है? ऐसी आकांक्षा होने पर वेद स्वयं कहते है—

''ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते।।
ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीषति।।[1]

ब्रह्मचर्य आश्रम से गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट हुआ, राजा के दायित्व को प्राप्त हुआ, वह स्नातक **राजा**- राज्य संचालन के ज्ञान से सम्पन्न राजा **ब्रह्मचर्येण तपसा**- अपने ज्ञानाचरण रूप श्रमात्मक तप के द्वारा **राष्ट्रं विरक्षति**- राष्ट्र की रक्षा करता है। **आचार्यः**- ब्रह्मचर्य आश्रम से गृहस्थ आश्रम में आकर आचार्य के दायित्व को प्राप्त हुआ वह स्नातक आचार्य **ब्रह्मचर्येण**- ब्रह्मचर्यात्मक-ज्ञानाचरणात्मक तप के द्वारा **ब्रह्मचारिणमिच्छते**- ब्रह्मचारियों-शिक्षार्थियों को प्राप्त करता है, और उन्हें ज्ञानवान ज्ञानी ब्राह्मण बनाता है। **ब्रह्मचर्येण कन्या**- ब्रह्मचर्य आश्रम में पूर्ण स्नातक हुई कन्या ब्रह्मचर्यात्मक-ज्ञानाचरणात्मक तप करती हुई अपने ही समान **युवानं**- योग्य युवा स्नातक **पतिं**- पति को **विन्दते**- प्राप्त करती है। इतना ही नहीं **अनड्वान्**- साँड़ और बैल, **अश्वः**- घोड़ा **ब्रह्मचर्येण**- ब्रह्मचर्यपूर्वक-ज्ञानाचरणपूर्वक ही **घासं**- घास को **जिगीषति**- चरने की इच्छा करता है। अर्थात् भूमि में प्रस्फुटित घास को वृषभ और अश्व आदि घास चरने वाले प्राणी, पृथ्वी पर सरकने वाले विषधर बिच्छू, सर्प आदि से ज्ञानपूर्वक आत्म

---

१. अथर्ववेद ११/५/१७/१८

रक्षा करते हुए ही घास चरते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि, सभी कार्य अच्छी तरह ब्रह्मचर्य के द्वारा अर्थात् ज्ञानाचरणपूर्वक ही सम्पन्न हो सकते हैं, चाहे वह कार्य शिक्षणात्मक हों, रक्षणात्मक हों, कृषि-वाणिज्यात्मक हों, अथवा श्रम शिल्पात्मक हों ज्ञानपूर्वक ही श्रेष्ठतापूर्वक सम्पन्न हो सकते हैं।

इस प्रकार से वेदों में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि वेद के अध्ययन में, ज्ञान के ग्रहण में, सदाचरणपूर्वक जीवन जीने में, सभी मनुष्यों का अधिकार समान है। केवल अधिकार ही नहीं है, बल्कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी वर्णाश्रमियों को जीवन के उत्कर्ष के लिए वेदाध्ययन, ज्ञानग्रहण और सदाचरण परम आवश्यक है। ज्ञान के उत्कर्ष में ही राष्ट्र का उत्कर्ष है, और राष्ट्र के उत्कर्ष में ही लोक का उत्कर्ष, समाज का उत्कर्ष सम्भव है।

पञ्चम अध्याय

ब्रह्मज्ञान में सभी मनुष्यों का अधिकार

१-वेदान्त के सूत्रों में मनुष्याधिकार का प्रकरण है, न कि अपशूद्राधिकरण-

वेदों के प्रामाण्य के द्वारा यह स्पष्ट हो गया है कि, वेद का अध्ययन करने में, वेद का ज्ञान प्राप्त करने में, सभी मनुष्यों का अधिकार है। साथ ही अब तक के विमर्श से यह भी स्पष्ट हो गया है कि, वेदान्त सूत्रों में अपशूद्राधिकरण का भाष्य सम्प्रदायप्रवर्तक आचार्यों का नहीं है। इसलिए वेदान्त सूत्रों के रचयिता महामुनि बादरायण के इन सूत्रों का तथ्यात्मक अर्थ क्या है? क्या महामुनि बादरायण ने वेदान्त सूत्रों में मनुष्यों के वेद के ज्ञानपूर्वक आत्मज्ञान का ही प्रतिपादन किया है? क्या मुनि ने शूद्रों के वेद-अध्ययन का निषेध नहीं किया? तब क्या यह अपशूद्राधिकरण नामकरण वहाँ आये हुए कुछ सूत्रों की वेद द्रोहियों, भारतीय समरसता के भञ्जक छद्म पंडितों द्वारा, छलपूर्वक विपरीत व्याख्या करके कर दिया गया है? हाँ, बादरायण मुनि ने मूलतः मनुष्य के अधिकार प्रकरण में ऐसे पूर्वपक्षियों का खण्डन ही किया है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए पूर्वापर सूत्रों के अर्थों का विमर्श करते हुए सूत्रों के मौलिक अर्थ को स्पष्ट करना अत्यन्त आवश्यक है। अतः अब यहाँ उसी पर विचार करते हैं। श्रुति कहती है—

''अङ्गुष्ठमात्रः पुरूषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत्[१]।।''

कठोपनिषद में नचिकेता को आत्मा का उपदेश करते हुए यमराज कहते है कि, हे नचिकेता! अङ्गुष्ठ परिमाण वाला पुरुष शरीर के मध्य में

---

१. कठोपनिषद २/१/१२

स्थित है। उसे भूत और भविष्य का शासक जानने वाला उसकी निन्दा नहीं करता। यही वह आत्मा है।

मीमांसा– यहाँ शरीर में अंगुष्ठ परिमाण वाला हृदयकमल है। मनुष्य शरीर में वही चेतना का केन्द्र है। उसे दर्शाने के लिए ही उस आत्मा को यहाँ अंगुष्ठ मात्र कहा है। इसी तथ्य को श्रुति और भी स्पष्ट करते हुए कहती है–

''अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः।। एतद्वै तत्[1]।।''

यह अंगुष्ठ मात्र पुरुष धूम रहित ज्योति के समान है। यह भूत और भविष्य का शासक है। यही आज है, और यही कल भी रहेगा। निश्चय ही तेरे द्वारा पूछा गया परमात्म तत्व यही है।

मीमांसा– यहाँ इन औपनिषद् श्रुतियों में अंगुष्ठ मात्र पुरुष के रूप में जीवात्मा या परमात्मा को दर्शाया गया है? यह प्रश्न इसलिए उठता है कि असीमित परमात्मा को अंगुष्ठ मात्र की सीमा में नहीं कहा जा सकता, साथ ही इसी उपनिषद में अंगुष्ठ मात्र जीव को कहा गया है। इसलिए यहाँ भी अंगुष्ठ मात्र से क्या जीवात्मा का ही ग्रहण करना चाहिए? इस पर आचार्य बादरायण ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यह सूत्र बनाया।

''शब्दादेव प्रमितः[2]'' इस श्रुति में जो द्वितीय पंक्ति **ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उश्वः** अर्थात् ''यह भूत और भविष्य का शासक है, यही आज और यही कल भी रहेगा।'' इन शब्दों के द्वारा यह स्पष्ट है कि भूत भविष्य का शासक परमात्मा ही हो सकता है जीवात्मा नहीं इसलिए यहाँ अंगुष्ठ मात्र शब्द से परमात्मा ही कहा गया है। इसके अतिरिक्त नचिकेता ने परमात्मा की जिज्ञासा की है, और यमराज इस श्रुति के बाद स्पष्ट रूप से कह रहे हैं– **एतद्वै तत्** यही वह है जो तुम्हारे द्वारा पूछा गया है। इससे भी स्पष्ट होता है कि यहाँ अंगुष्ठ मात्र पुरुष परमात्मा को ही कहा गया है, जीवात्मा को नहीं। इस पर यह प्रश्न उठता है कि यदि अंगुष्ठ मात्र पुरुष से असीमित परमात्मा कहा गया है तो उसे अंगुष्ठ मात्र की सीमा में बाधने का यहाँ क्या प्रयोजन है, क्योंकि निःसीम परमात्मा अंगुष्ठ मात्र की सीमा वाला तो हो ही नहीं सकता। इस पर आचार्य बादरायण अग्रिम सूत्र लिखते हैं।

---

१. कठोपनिषद २/१/१३। २. ब्रह्मसूत्र १/३/२४।

"हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्[१]"

यहाँ श्रुति ने मनुष्य के हृदय की अपेक्षा से अङ्गुष्ठ मात्र परिमाण कहा है, क्योंकि मनुष्य का हृदय मध्य शरीर में अङ्गुष्ठ मात्र परिमाण का है, और वही मनुष्य की चेतना का केन्द्र है, और चूँकि यह ज्ञानोपदेश मनुष्यों के लिए किया जा रहा है, इसलिए मनुष्य के हृदय के चेतना का केन्द्र बिंदु होने के कारण, और समष्टि परमात्म चेतना के एक ही होने के कारण, उस परमात्म चेतना को ही मनुष्य की चेतना का भी केन्द्र होने के कारण, यहाँ उस परमात्मा को अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष के रूप में दर्शाया गया है। यहाँ इस कथन से परमात्म चेतना को परिमित समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। अपितु वह अपरिमित पुरुष ही यहाँ अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष के रूप में मनुष्य के हृदय की चेतना के केन्द्र में दर्शाया गया है।

इससे पुनः शङ्का उठाई गयी कि परमात्मज्ञान का अधिकार क्या केवल मनुष्य को ही है? अन्य प्राणियों का अधिकार नहीं है? जिसके उत्तर में आचार्य बादरायण अग्रिम सूत्र लिखते हैं—

"तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात्[२]"

अर्थात् मनुष्यों का अधिकार तो है ही, मनुष्य के अतिरिक्त उन सभी प्राणियों को भी परमात्मज्ञान ग्रहण करने का अधिकार है, जिनमें ज्ञान ग्रहण करने की सामर्थ्य सम्भव हो। इसके बाद यहाँ आचार्य बादरायण ने अपने इस कथन के बाद आचार्य जैमिनि के देवों में ज्ञानग्रहण की सामर्थ्य होने पर भी ज्ञान प्राप्ति का अधिकार न होने के तर्क को पूर्व पक्ष में रखते हुए उसका खंडन करते हुए अपना अन्तिम निर्णय इस सूत्र से दिया—

"भावं तु बादरायणोऽस्ति हि।[३]"

अर्थात् मुझ बादरायण के मत में मनुष्यों के समान ही देवादि में भी यदि परमात्मज्ञान प्राप्त करने की इच्छा है, तो उनका भी अधिकार बनता है। इस विमर्श से यह निश्चय हो जाता है कि, जिस किसी में भी परमात्मज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा हो, और उस ज्ञान को ग्रहण करने का सामर्थ्य सम्भव हो, ऐसे सभी प्राणियों को परमात्म ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार है।

---

१. ब्रह्मसूत्र १/३/२५ । २. ब्रह्मसूत्र १/३/२६ । ३. ब्रह्मसूत्र १/३/३३ ।

स्थित है। उसे भूत और भविष्य का शासक जानने वाला उसकी निन्दा नहीं करता। यही वह आत्मा है।

मीमांसा– यहाँ शरीर में अंगुष्ठ परिमाण वाला हृदयकमल है। मनुष्य शरीर में वही चेतना का केन्द्र है। उसे दर्शाने के लिए ही उस आत्मा को यहाँ अंगुष्ठ मात्र कहा है। इसी तथ्य को श्रुति और भी स्पष्ट करते हुए कहती है–

''अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः।। एतद्वै तत्[१]**।।''**

यह अंगुष्ठ मात्र पुरुष धूम रहित ज्योति के समान है। यह भूत और भविष्य का शासक है। यही आज है, और यही कल भी रहेगा। निश्चय ही तेरे द्वारा पूछा गया परमात्म तत्व यही है।

मीमांसा– यहाँ इन औपनिषद् श्रुतियों में अंगुष्ठ मात्र पुरुष के रूप में जीवात्मा या परमात्मा को दर्शाया गया है? यह प्रश्न इसलिए उठता है कि असीमित परमात्मा को अंगुष्ठ मात्र की सीमा में नहीं कहा जा सकता, साथ ही इसी उपनिषद में अंगुष्ठ मात्र जीव को कहा गया है। इसलिए यहाँ भी अंगुष्ठ मात्र से क्या जीवात्मा का ही ग्रहण करना चाहिए? इस पर आचार्य बादरायण ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यह सूत्र बनाया।

''शब्दादेव प्रमितः[२]**''** इस श्रुति में जो द्वितीय पंक्ति **ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उश्वः** अर्थात् ''यह भूत और भविष्य का शासक है, यही आज और यही कल भी रहेगा।'' इन शब्दों के द्वारा यह स्पष्ट है कि भूत भविष्य का शासक परमात्मा ही हो सकता है जीवात्मा नहीं इसलिए यहाँ अंगुष्ठ मात्र शब्द से परमात्मा ही कहा गया है। इसके अतिरिक्त नचिकेता ने परमात्मा की जिज्ञासा की है, और यमराज इस श्रुति के बाद स्पष्ट रूप से कह रहे हैं– **एतद्वै तत्** यही वह है जो तुम्हारे द्वारा पूछा गया है। इससे भी स्पष्ट होता है कि यहाँ अंगुष्ठ मात्र पुरुष परमात्मा को ही कहा गया है, जीवात्मा को नहीं। इस पर यह प्रश्न उठता है कि यदि अंगुष्ठ मात्र पुरुष से असीमित परमात्मा कहा गया है तो उसे अंगुष्ठ मात्र की सीमा में बाधने का यहाँ क्या प्रयोजन है, क्योंकि निःसीम परमात्मा अंगुष्ठ मात्र की सीमा वाला तो हो ही नहीं सकता। इस पर आचार्य बादरायण अग्रिम सूत्र लिखते हैं।

---

१. कठोपनिषद २/१/१३। २. ब्रह्मसूत्र १/३/२४।

"हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्[१]"

यहाँ श्रुति ने मनुष्य के हृदय की अपेक्षा से अङ्गुष्ठ मात्र परिमाण कहा है, क्योंकि मनुष्य का हृदय मध्य शरीर में अङ्गुष्ठ मात्र परिमाण का है, और वही मनुष्य की चेतना का केन्द्र है, और चूँकि यह ज्ञानोपदेश मनुष्यों के लिए किया जा रहा है, इसलिए मनुष्य के हृदय के चेतना का केन्द्र बिंदु होने के कारण, और समष्टि परमात्म चेतना के एक ही होने के कारण, उस परमात्म चेतना को ही मनुष्य की चेतना का भी केन्द्र होने के कारण, यहाँ उस परमात्मा को अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष के रूप में दर्शाया गया है। यहाँ इस कथन से परमात्म चेतना को परिमित समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। अपितु वह अपरिमित पुरुष ही यहाँ अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष के रूप में मनुष्य के हृदय की चेतना के केन्द्र में दर्शाया गया है।

इससे पुनः शङ्का उठाई गयी कि परमात्मज्ञान का अधिकार क्या केवल मनुष्य को ही है? अन्य प्राणियों का अधिकार नहीं है? जिसके उत्तर में आचार्य बादरायण अग्रिम सूत्र लिखते हैं—

"तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात्[२]"

अर्थात् मनुष्यों का अधिकार तो है ही, मनुष्य के अतिरिक्त उन सभी प्राणियों को भी परमात्मज्ञान ग्रहण करने का अधिकार है, जिनमें ज्ञान ग्रहण करने की सामर्थ्य सम्भव हो। इसके बाद यहाँ आचार्य बादरायण ने अपने इस कथन के बाद आचार्य जैमिनि के देवों में ज्ञानग्रहण की सामर्थ्य होने पर भी ज्ञान प्राप्ति का अधिकार न होने के तर्क को पूर्व पक्ष में रखते हुए उसका खंडन करते हुए अपना अन्तिम निर्णय इस सूत्र से दिया—

"भावं तु बादरायणोऽस्ति हि।[३]"

अर्थात् मुझ बादरायण के मत में मनुष्यों के समान ही देवादि में भी यदि परमात्मज्ञान प्राप्त करने की इच्छा है, तो उनका भी अधिकार बनता है। इस विमर्श से यह निश्चय हो जाता है कि, जिस किसी में भी परमात्मज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा हो, और उस ज्ञान को ग्रहण करने का सामर्थ्य सम्भव हो, ऐसे सभी प्राणियों को परमात्म ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार है।

---

१. ब्रह्मसूत्र १/३/२५ । २. ब्रह्मसूत्र १/३/२६ । ३. ब्रह्मसूत्र १/३/३३ ।

इस प्रकार इस प्रकरण के केन्द्र में मनुष्य समुदाय के होने के कारण यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया कि सभी मनुष्यों को परमात्मज्ञान प्राप्त करने का अधिकार है, यदि उनमें उसे प्राप्त करने की आकांक्षा और योग्यता हो, ऐसा निश्चित कर दिया गया।

२-ब्रह्मसूत्र में संस्कार परामर्श के प्रसंग में छान्दोग्यउपनिषद स्थित राजा जानश्रुति की कथा

इस पर पुनः इस प्रकार का पूर्व पक्ष उपस्थित होने पर कि कुछ श्रुति वाक्यों से ऐसा दिखता है कि, शूद्र को ब्रह्मविद्या प्राप्त करने का अधिकार नहीं है। वह श्रुति की आख्यायिका छान्दोग्य उपनिषद् में इस प्रकार है—

ॐ जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस। स ह सर्वत आवसथान्मापयाञ्चक्रे सर्वत एव मेऽनमत्स्यन्तीति।

"राजा जनुश्रुति की संतान परम्परा में उसके पुत्र का पौत्र श्रद्धा से बहुत दान करने वाला, बहुत लोगों को पका हुआ शुद्ध भोजन कराने वाला, महान राजा हुआ। उसने सभी दिशाओं में– ग्राम-ग्राम में, नगर-नगर में, धर्मशालाएँ बनवायीं। सब तरफ से आने वाले यात्री इन धर्मशालाओं में रहते हुए मेरे ही अन्न का भोजन करें, ऐसी सुन्दर व्यवस्था करवायी। उसके बाद—

"अथ हा हंसा निशायामति पेतुस्तद्धैव हंसो हंसमभ्युवाद।[1]"

एक रात्रि में उस राजा को अपने सामने से उड़ता हुआ हंसों का समूह दिखाई दिया। उस समय सबसे आगे उड़ने वाले हंस के पीछे उड़ते हुए हंस ने आगे उड़ते हुए हंस से कहा—

"हो होऽयि भल्लाक्ष भल्लाक्ष जानुश्रुतेः पौत्रायणस्य समं दिवा ज्योतिराततं तन्मा प्रसाङ्क्षीस्तत्त्वा मा प्रधाक्षीरिति।[2]"

"हो हो अयि भली आँखों वाले! भली आँखों वाले! जानुश्रुति के पौत्र का तेज जो इस रात्रि मे भी दिन के समान दमक रहा है, उसको लांघने की कोशिश मत करो! वह तुम्हें भस्म न कर दे।"

उस अग्रगामी हंस को इस प्रकार कहने वाले हंस के प्रति अग्रगामी हंस ने ऐसा उत्तर दिया—

---

१. छान्दो.४/१/१। २. छान्दो.४/१/१।

''कम्वर एनमेतत्सन्तं सयुग्वानमिव रैक्वमात्थ?''

अरे किस माहात्म्य से युक्त हुए इस तुच्छ राजा को तू बड़ा सम्मान देता हुआ इस प्रकार बोल रहा है? क्या तू इसे उस गाड़ी वाले महान तेजस्वी रैक्व के समान कहना चाहता है?

इस पर उस पीछे वाले हंस ने इस आगे वाले हंस से पूछा—

''यो नु कथं सयुग्वारैक्वः''?

हे भाई! ये गाड़ी वाला रैक्व कैसा है?

ऐसा पूछने वाले उस हंस के प्रति उस अग्रगामी हंस ने कहा—

''यथा कृतायविजितायाधरेयाः संयत्येवमेनं सर्वं तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति।[१]''

''जिस प्रकार से अपने सत्कर्मों से अपने अधीनस्थ सभी राज्याधिकारियों और प्रजा का हृदय जीतने वाले राजा के प्रति, वे सभी राज्याधिकारी, और प्रजा श्रद्धा, सम्मान और सद्भावना रखते हैं, और उसके दृष्टिगत अपने जीवन में जो कुछ भी सदाचरण करते हैं, उस सबका फल उस महनीय राजा को जाता है, ऐसे ही रैक्व ने जिस परमात्मज्ञान को प्राप्त किया है, उसमें उसको सम्पूर्ण प्रजा के सभी सत्कर्मों का फल प्राप्त होता है। जिस परमात्मज्ञान से रैक्व युक्त है, अन्य भी जो कोई उस ज्ञान से युक्त होता है, उन सबको वैसा ही फल प्राप्त होता है।''

इस वार्तालाप को उस राजा जानुश्रुति पौत्रायण ने सुना। रैक्व की तुलना में अपने अनादर के द्वारा उस राजा ने जागते हुए ही रात बितायी। सुबह राजा को जगाने के लिए रक्षा में तैनात सेवकों ने जब उसकी स्तुति, महिमा गाना सुरू किया, तब राजा ने उन अपने रक्षक सेवकों के प्रति इस प्रकार कहा—

''अङ्ग अरे ह सयुग्वानं रैक्वमिव माम आत्थ''

अरे रक्षकों! तुम सब महान तेजस्वी गाड़ी वाले रैक्व के समान मुझे कहते हो? अर्थात् मैं रैक्व के समान तेजस्वी स्तुति करने योग्य नही हूँ।

उन स्तुति करने वाले सेवकों ने राजा से पूछा—

''यो नु कथं सयुग्वा रैक्व इति।''

---

१. छान्दो. ४/१/२

हे महाराज! यह गाड़ी वाला रैक्व कैसा है?

इस पर उस राजा ने हंस के उस वचन को ही ज्यों का त्यों कहा-

"जिस प्रकार से अपने सत्कर्मों से अपने अधीनस्थ सभी राज्याधिकारियों और प्रजागण का हृदय जीतने वाले राजा के प्रति वे सभी राज्याधिकारी और प्रजा, श्रद्धा-सम्मान और सद्भावना रखते हैं, और उसके दृष्टिगत अपने जीवन में जो कुछ भी सदाचरण करते हैं, उन सबका फल उस महनीय राजा को जाता है। ऐसे ही रैक्व जिस परमात्मज्ञान को प्राप्त है, उसमें उसको सम्पूर्ण प्रजा के सभी सत्कर्मों का फल प्राप्त है। जिस परमात्मज्ञान से रैक्व युक्त है, अन्य भी जो उस ज्ञान से युक्त होते है, उन सबको वैसा ही फल प्राप्त होता है।"

तब वे सेवक रैक्व को खोजने गये, और न पाकर वापस आकर राजा से कहा कि, हम सबने आपके बताये गाड़ी वाले रैक्व को खोजा, किन्तु नहीं प्राप्त कर सके। तब राजा ने उन सेवकों से कहा—

"यत्रारे ब्राह्मणस्यान्वेषणा तदेनमर्च्छेति।[१]"

"अरे सेवक-सैनिको! जहाँ ज्ञानियों की-ब्राह्मणों की-आचार्यों की खोज करनी चाहिए, वहाँ इस गाड़ी वाले रैक्व को खोजो"।

राजा जानश्रुति पौत्रायण के ऐसा कहने पर उन सैनिकों और राजा के सेवकों ने ब्रह्मकुलों में–गुरुकुलों में आचार्यों के आवास स्थलों में, रैक्व को खोजना शुरू किया। तब उन जगहों में खोजते हुए उनमें से एक ने, एक स्थान में रखी हुई बैलगाड़ी शकट के नीचे रहने वाले शकट के धुरे को कसते हुए एक व्यक्ति को देखा। गाँवों में किसान बैलगाड़ी का पहिया जिस धुरे पर चलता है, उस धुरे को गाड़ी खड़ी कर सुतली और तेल से कसते थे। जिससे बैलगाड़ी का पहिया आसानी से घूमता था, और बैल उसे आसानी से खींच पाते थे। नियमित चलने वाली बैलगाड़ियों में धुरे की तेल से सनी हुई सुतली पाँच-छः दिनों में कट जाती थी जिसे किसान पुनः सुतली से कसते और तेल से माँजते थे। ऐसे ही किसान आचार्य-ब्राह्मण गाड़ी वाला रैक्व भी अपनी गाड़ी का धुरा कस रहा था। उसी समय उस सेवक ने उसे देखा। तब वह सेवक उस गाड़ी के नीचे धुरा को कसते हुए

१. छन्दोग्य ४/१/३।

उसके समीप बैठकर पुछा? **"त्वं हि भगवः सयुग्वा रैक्व इति"?**– भगवन् ! क्या आप ही गाड़ी वाले रैक्व हैं? तब उसने उत्तर दिया—**"अहं ह्यरे।"**— अरे हाँ! मैं ही हूँ। तब उस सेवक ने राजा के पास आकर रैक्व के निवास स्थल की सूचना दी।

तब वह अपने अनादर से क्षुब्ध अन्तःकरण जानुश्रुति पौत्रायण ६०० गायें, सोने के निष्क और खच्चरियों से चलने वाले रथ को लेकर, रैक्व के पास गया, और उस रैक्व का अभिवादन करके इस प्रकार बोला—

"रैक्वेमानी षट्शतानि गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथो नु मा एता भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्स इति।[1]"

अर्थ– हे रैक्व! ये ६०० गायें, यह सोने का हार, यह अश्वतरी-खच्चरियों से चलने वाला रथ आप लें, और हे भगवन्! जिस देवता की आप उपासना करते हैं, उसका ज्ञान मुझे करायें।

मीमांसा– बात बहुत स्पष्ट है, राजा ने सोचा कि यह सामान्य किसान आचार्य, जो बैलगाड़ी से अपना काम चलाता है, उसके लिए खच्चरों से चलने वाला रथ, ६०० गायें और सोने का हार बहुत है। इनसे लालायित होकर वह शीघ्र ही हमें अपनी विद्या का ज्ञान करा देगा। यहाँ राजा का सम्पत्ति का अभिमान और अपने अपमान के बदले थोड़े-से धन द्वारा विद्या खरीद लेने का अहंकार स्पष्ट है। तब उस आत्मदर्शी ब्रह्मज्ञानी रैक्व ने राजा के क्षुब्ध अन्तःकरण को, जो एक सामान्य व्यक्ति के ज्ञान से अपने अपमान के कारण क्षुब्ध और ईर्ष्या से शोकग्रस्त था, को देखते और समझते हुए कहा—

"तमु ह परःप्रत्युवाच अहहारे त्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु[2]"

तम् उ ह प्रति-तब उस प्रसिद्ध राजा के प्रति, **परः**-दूसरा अर्थात् रैक्व **उवाच** - बोला, **अह हारे शूद्र!**-(अन्तःकरण के ईर्ष्याजन्य शोक के दृष्टिगत रैक्व का राजा को यह अपमान सूचक सम्बोधन है) **त्वा**-तुझको (परमात्म साधना ज्ञान जो इस अन्तःस्थिति वाले व्यक्ति को दे पाना सम्भव ही नहीं है अतः) **तवैव एह गोभिरस्तु–** गायों के सहित यह हार यह रथ तेरे ही पास रहे।

---

१. छन्दो.४/२/३ । २. छन्दो.४/२/३ ।

मीमांसा– कुछ लोग हारित्वा का हार+इत्वा ऐसा विच्छेद कर हार और गाड़ी ऐसा भी अर्थ करते हैं। तब उन्हें 'अह' को निरर्थक मानना पड़ता है। मूलतः **गोभिः** के बहुवचन होने से ही गायों के साथ आये हार और रथ का ग्रहण हो जाता है। अतः यहाँ **अहहारे!** यह अपमानसूचक व्यंग्ययुक्त सम्बोधन ही है। श्रुति की इस पंक्ति में **अहहारे शूद्र!** इस सम्बोधन को देखकर किसी के मन में ऐसा संदेह हो सकता है, कि शूद्रवर्ण के व्यक्ति को परमात्मज्ञान प्राप्त करने का अधिकार नहीं है। इसी संदेह का निराकरण करने के लिए, महात्मा बादरायण ने यह अग्रिम सूत्र लिखा है—

"शुगस्य तदनादरश्रावणात्तदाद्रवणात् सूच्यते हि। [१]**"**

अर्थात् वहाँ श्रुति के उक्त प्रकरण में, उस जानुश्रुति पौत्रायण ने हंस के वाक्य में कि "इस सामान्य राजा को, क्या तू महान तेजस्वी रैक्व के समान मानता है?" अपना अनादर सुनकर दुखी हुआ, और उस दुख से दुखी होकर, धन के बदले ज्ञान खरीदने आया। उसके इस ईर्ष्या से दुखी अन्तः करण को देखकर ही उसे शूद्र कहा गया है। अर्थात् यहाँ शूद्र का अर्थ ईर्ष्या और शोक से ग्रस्त है। यह शूद्र शब्द शुच् – शोके धातु से बना है। यह निषेध वर्ण-व्यवस्था के शूद्र के लिए नहीं किया गया है, क्योंकि वह शूद्र शब्द, **"शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः"** इस निरुक्त की धातु, जो निघण्टु में शुच्, तप आदि पर्यायवाची रूप में पठित है, से बना है। जैसा कि श्रुति स्वयं स्पष्ट करती है—

" तपसे शूद्रम् ।" "तपो वै शूद्रः। तप एव तत्तपसा समर्द्धयति। [२]**"**

तपसाध्य-श्रमसाध्य, विविध शिल्पादि कर्मों के लिए, उस प्रकार के तप-श्रम करने में समर्थ, तपस्वी-श्रमिक व्यक्ति को सब जगह से प्राप्त करना चाहिए। निश्चय ही तप ही शूद्र है। उस तपस्वी, श्रमिक, शूद्र के द्वारा किये जाने वाले तप से उन-उन शिल्पों की सफल संरचना के रूप में तप ही समृद्ध होता है।

इसलिए यहाँ वर्णव्यवस्था में व्यवस्थित शूद्र का अधिकार आत्मविद्या में नहीं है, ऐसा नहीं कहना चाहिए। अपितु शोक उत्पन्न करने के कारण, ईर्ष्याग्रस्त क्षुब्ध अन्तःकरण के द्वारा, ज्ञान ग्रहण करना सम्भव न होने के

---

१. ब्रह्मसूत्र १/३/३४ । २. यजुर्वेद ३०/५, श. ब्रा.१३/६/२/१०

कारण, क्षुब्ध अन्तःकरण वाले को ज्ञानोपदेश का निषेध किया गया है। यह तथ्य महर्षि बादरायण ने अपने अग्रिम सूत्र में स्वयं स्पष्ट किया है—

''क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात्।[1]''

जानुश्रुति पौत्रायण का क्षत्रिय होना उत्तर-बाद की श्रुति में, उसका क्षत्रिय राजा चैत्ररथ के साथ सम्बन्ध होने से स्पष्ट होता है। इस सूत्र के द्वारा आचार्य इस बात की और प्रबलता से पुष्टि करते हैं, कि यहाँ ज्ञानोपदेश का निषेध, दुःख से क्षुब्ध अन्तःकरण क्षत्रिय वर्ण वाले जानुश्रुति पौत्रायण को, शूद्र-दुःख से क्षुब्ध अन्तःकरण कहकर रैक्व ने किया है। न कि आत्मज्ञान की आकांक्षा से सम्पन्न शूद्र वर्णावलम्बी व्यक्तियों को ज्ञानोपदेश का निषेध किया गया है।

जानुश्रुति पौत्रायण ने भी रैक्व की पारदर्शी चेतना को जानकर, अपने अन्तःकरण की स्थिति को देखा। इसके द्वारा अपना दोष और महात्मा रैक्व की सर्वज्ञता को देखकर, उसके मन में कुछ निर्मलता आयी। उस निर्मलता से उसने चिन्तन किया कि, ये युवा आचार्य महात्मा रैक्व अविवाहित हैं। मेरी पुत्री भी युवती और अविवाहिता है, उसकी धर्म और ज्ञान में अभिरुचि भी है, यह महान ज्ञानी मेरा जामाता भी होने लायक है। ऐसा चिंतन कर वह जानुश्रुति पौत्रायण, अपनी पुत्री का विवाह रैक्व के साथ करने का निश्चय कर घर गया। अपने अभिप्राय को अपनी पुत्री से कहकर, उसकी प्रसन्नता और उल्लासमयी स्वीकृति लेकर, उसके साथ बहुत धन-सम्पत्ति लेकर, रैक्व को अपना दामाद बनाने और ज्ञान प्राप्त करने की आकांक्षा से, पुनः रैक्व के पास पहुँच कर इस प्रकार निवेदन किया—

''रैक्वेदं सहस्रं गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथ इयं जायायं ग्रामो यस्मिन्नासेऽन्वेव मा भगवः शाधीति।[2]''

''भगवन् रैक्व! ये हजार गायें, यह स्वर्णहार, यह अश्वतरीरथ – खच्चरियों से चलाया जाने वाला रथ, यह मेरी पुत्री और यह गाँव जिसमें आप रहते हैं, इसे स्वीकार करें, व मुझे ज्ञान देने की कृपा करें।''

जानुश्रुति पौत्रायण की इन बातों को सुनते हुए महात्मा रैक्व ने पूर्व की अपेक्षा राजा के कुछ परिवर्तित अन्तःकण को देखा और उसके साथ

---

१. ब्रह्मसूत्र १/३/३५। २. छान्दो.४/२/४।

आयी हुई उसकी पुत्री के महान् ज्ञानी पति प्राप्त होने की भावना से प्रफुल्लित, मन से उल्लसित, मुख को भी देखा। जानुश्रुति पौत्रायण का मानसिक क्षोभ पूर्व की अपेक्षा काफी कम हुआ था, किन्तु पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ था। वहीं उसके साथ आयी हुई उसकी पुत्री का अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल और ज्ञानप्राप्ति हेतु उत्कंठित था। रैक्व ने इन तथ्यों को अपनी पारदर्शी चेतना से सूक्ष्मतापूर्वक देखा। श्रुति के शब्दों में यह तथ्य इस प्रकार है—

तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्नुवाच। आजहारेमाः शूद्रानेनैवमुखेनालापयिष्यथा इति। ते हैते रैक्वपर्णा नाम महावृषेषु यत्रास्मा उवास। स तस्मै होवाच।[१]

हिन्दी–**'तस्याः'**– उसका अर्थात् जानुश्रुति पौत्रायण की पुत्री का **'मुखमुपोद्गृहणन्'**– मुख के उपर विद्यमान ज्ञानप्राप्ति के लिए उत्सुक प्रवित्र अन्तःकरण के भावों को, अपने पारदर्शी ज्ञान के द्वारा ग्रहण करता हुआ **'ह'**-निश्चयपूर्वक **'उवाच'**– कहा–**'शूद्र!'** हे शोक से उद्विग्न मानस अर्थात् शूद्र! **'इमाः'**- यह सम्पत्तियाँ **'आजहार'**- ज्ञान खरीदने के उद्देश्य से ले आया है? अर्थात् ज्ञान, धन सम्पत्ति से नहीं खरीदा जा सकता है। वह तो पवित्र अन्तःकरण से ही ग्रहण किया जा सकता है, और इस प्रकार के अन्तःकरण की पवित्रता अभी भी तुझमें नहीं है। किंतु तेरी पुत्री का अन्तःकरण पवित्र और ज्ञान प्राप्ति हेतु उल्लसित हो रहा है, जो इसके मुख पर स्पष्ट दिख रहा है। इसलिए **'अनेन एव मुखेन'**- इस उल्लसित मुख के सम्मुख ही, मैं महान् औपनिषद विद्या का **'आलापयिष्यथाः'**– उपदेश करूंगा। इस प्रकार सहश्रोता के रूप में तू भी ज्ञान प्राप्त कर सकेगा। **'स तस्मै होवाच'**–इस प्रकार यह कह करके, उन महात्मा रैक्व ने उस जानुश्रुति पौत्रायण के लिए औपनिषद् अध्यात्म विद्या का उपदेश किया। **'ते ह एते रैक्वपर्णा नाम'**– निश्चय ही वे यह रैक्वपर्ण नाम वाले गाँव **'महावृषेषु यत्रास्मा उवास'**– महावृष नामक स्थान में जहाँ कि इस छान्दोग्य उपनिषद का लेखन और अध्यापन किया जा रहा है, जहाँ कि हम सब इस उपनिषद् के लेखक, प्रवचनकर्ता और

१. छान्दो.४/२/५ ।

अध्ययनकर्ता ब्रह्मचारीगण हैं। महावृष के यह रैक्वपर्ण नाम वाले सभी गाँव वही हैं। जिन्हें जानुश्रुति पौत्रायण ने, रैक्व को अपनी पुत्री सहित अध्यात्म विद्या प्राप्त करने के लिए दिया था।

यहाँ श्रुति की इन पंक्तियों की शब्दशः व्याख्या इसलिए की गई है, क्योंकि प्राप्त प्रक्षिप्त भाष्यों में, इन पक्तियों की बहुत ही गलत व्याख्या की गयी है। जो न तो पंक्तियों में कहीं कही गयी है, और न ही विमर्श बोध के अनुकूल ही है। वहाँ उनके अर्थ इस प्रकार किये गये हैं, मानो परमात्मज्ञानी रैक्व अत्यन्त कामुक और धनलोभी हो, व धन और वासना में विद्या बेच रहा हो। अतः श्रुति के भावों को स्पष्ट करने के लिए, यहाँ हमने शब्दशः व्याख्या प्रस्तुत की।

इस प्रकार महर्षि बादरायण ने अपने दो सूत्रों के द्वारा यह स्पष्ट किया कि, इस श्रुति में आया 'शूद्र' शब्द ईर्ष्या दुःख से द्रवित क्षुब्ध अन्तःकरण के लिए है, न कि वर्ण व्यवस्था में प्रयुक्त तपस्वी श्रमिक शूद्र के लिए। भिन्न-भिन्न धातुओं से बने इस एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। प्रसंग के अनुसार ही अर्थ का ग्रहण किया जाना चाहिए। जैसे सैन्धव शब्द का अर्थ नमक और घोड़ा दोनों होता है। तो भी यदि कोई भोजन करने बैठा हो, और कहे कि सैन्धव लाओ, तो उसे भोजन में नमक देना चाहिए न कि घोड़ा। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति यात्रा पर जाने को तैयार है और कहता है सैन्धव लाओ, तो उसका नौकर उसे घोड़ा लाकर देगा न कि नमक।

३ -ब्रह्मसूत्र में सत्संस्कार के परामर्श हेतु छान्दोग्य उपनिषद वर्णित सत्यकाम और उसकी माँ जबाला की कथा।

इस प्रकार बादरायण ने अपने इन दो सूत्रों के द्वारा अपने पूर्व सूत्र में कहे इस तथ्य की स्थापना की, कि जिस किसी में भी आत्मज्ञान प्राप्त करने की आकांक्षा और योग्यता है, उसे अध्यात्म ज्ञान देना चाहिए। अध्यात्म विद्या के अधिकार के विषय में सर्वत्र अन्तःकरण की पवित्रता और सत्-संस्कार का ही ग्रहण करना चाहिए। इस तथ्य को इसी उपनिषद् से सम्बंधित आख्यायिका के प्रसंग में महर्षि अपने अग्रिम सूत्रों में स्पष्ट करते हैं। आख्ययिका इस प्रकार है—

"सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयाञ्चक्रे ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि किंगोत्रो न्वहमस्मीति।[१]"

जबाला का पुत्र सत्यकाम, अपनी माँ जबाला को बुलाकर उससे बोला, माँ! मैं ब्रह्म-ज्ञान प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्या पूर्वक ब्रह्मकुल में बसना चाहता हूँ। जैसा कि पहले ही बताया गया है कि, वैदिक काल में विद्यालयों और विश्वविद्यालयों को ब्रह्मकुल कहा जाता था, और वहाँ शिक्षा लेने वाले विद्यार्थियों को ब्रह्मचारी कहा जाता था। शिक्षाचरण को ही ब्रह्मचर्या कहते थे। वे सभी शिक्षालय अर्थात् ब्रह्मकुल आवासीय होते थे। ब्रह्मचारियों को पूर्ण कालिक शिक्षा प्राप्त करने तक, लगभग २५ वर्ष की उम्र प्राप्त होने तक, इन ब्रह्मकुलों में ही रहना होता था। इन ब्रह्मकुलों में ब्रह्मचारी के रहने के काल को ब्रह्मचर्य आश्रम कहा जाता था। कालांतर में ब्रह्मकुल के स्थान में गुरुकुल, ब्राह्मण के स्थान में गुरु, ब्रह्मचारी के स्थान में शिष्य, ब्रह्मचर्य के स्थान में शिक्षाचरण शब्द प्रयोग होने लगे। आज इन शब्दों की जगह विद्यालय व विश्वविद्यालय, शिक्षक, विद्यार्थी और अध्ययन शब्द प्रयुक्त होते हैं। सत्यकाम ने अपनी माँ जबाला से कहा कि, मैं ज्ञानार्जन के लिए ब्रह्मचर्या पूर्वक ब्रह्मकुल में बसना चाहता हूँ, "मैं किस गोत्र वाला हूँ?"—

"सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात यद्गोत्रस्त्वसि। बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि। जबाला तु नामाऽहमस्मि, सत्यकामो नाम त्वमसि। स सत्यकाम एव जबालो ब्रुवीथा इति।[२]"

उसकी माँ जबाला ने उससे कहा कि "मैं यह नहीं जानती हूँ, जिस गोत्र का तू है।" युवा अवस्था में परिचर्या सेविका का काम करने वाली मैं, बहुत से घरों में सेविका का काम झाड़ू, पोछा, बर्तन की सफाई आदि करने वाली, अपने कार्य के लिए बहुत चलती हुई, तुझे प्राप्त किया। इसलिए बहुत घरों में सेविका का काम करके आजीविका चलाने वाली मैं, यह न जान सकी कि तेरा गोत्र क्या है। आज भी बहुत से घरों में जल्दी- जल्दी चलकर आजीविका कमाने वाली दायियों से यदि उनके पुत्र पूछे कि, माँ! मेरा गोत्र क्या है? तो एक भी दायी ऐसी नहीं मिलेगी, जो अपने पुत्र को उसका गोत्र बता सके। तो उस माँ जबाला ने कहा कि पुत्र मेरा नाम जबाला

---

१. छान्दो.४/४/१। २. छान्दो.४/४/२।

है, और तू सत्यकाम है, तो जब आचार्य तुमसे तुम्हारा गोत्र पूछे तो मै सत्यकाम जाबाल हूँ, ऐसा बोल देना।

" स ह हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्याम्युपेयां भवन्तमिति।[१]"

वह सत्यकाम हारिद्रुमत गौतम ऋषि के ब्रह्मकुल में उनके पास गया और बोला—"भगवन् ! मैं ब्रह्मचर्यापूर्वक आपके ब्रह्मकुल में बसना चाहता हूँ , आप से उपनयन दीक्षा प्राप्त कर।

"तं होवाच किं गोत्रो नु सोम्यासीति। स होवाच नाहमेत द्वेद भो यद्गोत्रोऽहमस्मि। अपृच्छं मातरं सा मां प्रत्यब्रवीद्, बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। साहमेतन्नवेद यद्गोत्रस्त्वमसि। जबाला तु नामाऽहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसीति। सोऽहं सत्यकामो जाबालोऽस्मि भो इति।[२]"

तब हारिद्रुमत गौतम ने उससे पूछा—हे सौम्य! "तू किस गोत्र का है?" उसने कहा—मैं यह नहीं जानता हूँ, कि मैं किस गोत्र का हूँ। मैने माँ से पूँछा था, उसने मुझसे कहा कि युवावस्था में बहुतों के घर परिचर्या का काम करती हुई मैने तुझे प्राप्त किया। इसलिए मैं नहीं जान सकी कि, तू किस गोत्र का है। मैं जबाला नाम वाली हूँ, और तेरा नाम सत्यकाम है। इसलिए हे ऋषि! "मैं सत्यकाम जाबाल हूँ।"

"तं होवाच! नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति। समिधं सोम्याहरोप, त्वा नेष्ये, न सत्यादगा इति।[३]"

तब उन ऋषि ने उससे कहा—इतना स्पष्ट अब्राह्मण नहीं कह सकता। हे सौम्य! समिधा ले आ। मैं तुझे ब्रह्मकुल के लिए उपनीत करता हूँ, दीक्षित करता हूँ। तू सत्य बोलने से कम्पित नहीं हुआ।

अब यहाँ किसी के मन में ऐसा संदेह हो सकता है, कि अज्ञात गोत्र वाले सत्यकाम की सत्यनिष्ठा से ऋषि हारिद्रुमत गौतम ने उसके ब्राह्मण का पुत्र होने का निश्चय हो जाने पर ही, उसको ब्रह्मचर्या के लिए दीक्षित कर ब्रह्मकुल में प्रवेश दिया। क्योंकि, उन्होंने स्वयं कहा कि ऐसा सत्य अब्राह्मण नहीं बोल सकता, इसलिए उसके सत्य बोलने से ऋषि ने उसे ब्राह्मण पिता का पुत्र होना जान लिया। तभी ब्रह्मकुल में प्रवेश के लिए उपनीत किया।

---

१. छान्दो.४/४/३। २. छान्दो.४/४/४। ३. छान्दो.४/४/५ ।

इस प्रकार की शङ्का को दूर करने के लिए ऋषि ने इस आख्यायिका से सम्बंधित सूत्र लिखा—

"संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलाच्च।[१]"

संस्कार का परामर्श करने के कारण, और असत् संस्कार के अभाव का निश्चय करने के कारण, यह स्पष्ट होता है कि यहाँ गोत्र पूछने का अभिप्राय आगत बालक में माता-पिता से प्राप्त संस्कारों का परीक्षण करना है। न कि पिता माता के शुक्रशोणित का पता करना। इसलिए आचार्य ने **संस्कारपरामर्शात्** लिखा अन्यथा **शूक्रशोणितपरामर्शात्** लिखते, किन्तु ऐसा कहीं भी नहीं लिखा गया है। यहाँ भी ऋषि ने सत्यकाम की सत्यनिष्ठा के कारण, जो उसकी माँ जबाला के द्वारा दिये गये संस्कार का परिणाम थी, को ब्राह्मणत्व कहा है, न कि ब्राह्मण पिता का पुत्र होना उनकी अपेक्षा है, क्योंकि वे स्पष्ट कहते हैं कि– **'न सत्यादगाः'** तू सत्य से कंपित नहीं हुआ। यह सत्य उसकी माँ जबाला की देन है, बच्चे ने अपनी माँ के द्वारा कही हुई बात को यथावत दुहरा दिया है। यदि माँ ने उसको सत्य बोलने का सत् संस्कार उसमें न डाला होता, तो वह ब्रह्मकुल में प्रविष्ट नहीं होता। इसी तथ्य को और स्पष्ट करने के लिए महर्षि बादरायण अगला सूत्र लिखते हैं—

"तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः[२]"

अर्थात् ऋषि की उसमें "असत् संस्कार के अभाव निर्धारण में प्रवृत्ति है" न कि शुक्रशोणित निर्धारण में। कुछ लोगों ने इस प्रकार से भी अर्थ किया है, कि सत्यकाम की माँ जबाला ब्राह्मणी थी। इसलिए वह स्वयं सत्य बोलती थी, और अपने पुत्र को भी सत् संस्कार से संस्कारित किया था। जन्मना वर्णव्यवस्था की स्थापना के लिए, इस प्रकार निराधार कल्पना करना कथमपि उचित नहीं है। यहाँ आख्यायिका में सत्यकाम की माँ जबाला स्वयं कहती है कि—

"बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभते।"

"मैं परिचारिणी सेविका बहुत से घरों में परिचर्या का अपना काम करने के लिए बहुत चलती हुई युवा अवस्था में तुझे प्राप्त किया।" यहाँ

---

१. ब्र.शू.१/३/३६। २. ब्र.१/३/३७।

वह स्वयं अपने को परिचारिणी कहती है, और वर्णव्यवस्था के अनुसार परिचर्या का कार्य शूद्र वर्ण का है। जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान ने स्वयं कहा है—"**परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।**[१]"

परिचर्यात्मक कर्म शूद्र का स्वभाविक धर्म है। इससे बिल्कुल स्पष्ट है कि, "**जबाला शूद्रा थी**" और अपने परिचर्यात्मक कार्य के लिए बहुत से घरों में आती-जाती थी, जिससे उसे बहुत चलना पड़ता था। कुछ लोग यहाँ इस प्रकार का भी संदेह करते हैं कि, वह वेश्या थी, और बहुत लोगों से उसके शारीरिक सम्बन्ध थे। इसलिए वह यह नहीं जान सकी थी कि उसके पेट में किस जाति के पुरुष का गर्भ ठहरने से सत्यकाम का जन्म हुआ। यह कथन भी अत्यन्त हास्यास्पद है, क्योंकि शास्त्रों में वेश्या के लिए स्वैरिणी और वेश्या शब्द ही प्रचलित हैं। कहीं भी किसी शास्त्र में वेश्या को परिचारिणी नहीं कहा गया है, और न हि किसी शास्त्र में ऐसा कोई प्रसंग मिलता ही है, जिसमें कोई वेश्या अपने को परिचारिणी कहे। इसलिए जबाला को वेश्या कहना मानसिक विकृति से अधिक और कुछ भी नहीं है। मूलतः दूषित मानसिकता के लोगों में, वर्तमान में शूद्र जाति के प्रति जो एक दूषित भावना है, वह उसके कारण शूद्रा नारी भी सत्यनिष्ठ हो सकती है, यह सोच ही नहीं पाते। आज भी घरों में चौका बर्तन करने वाली गरीबी में अपने संतानों का पालन करने वाली महिलाओं से, यदि उनके पुत्र, अपना गोत्र पूछे तो उनके लिए यह बहुत कठिन होगा। कि वह अपने बच्चे को उसका गोत्र बता पायें। हमारी जानकारी में बहुत से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य घरों की महिलायें भी अपने पति का गोत्र नहीं जानती हैं। फिर यदि गरीब महिला का पति उसकी युवा अवस्था में ही किसी कारण से मर गया हो, और उसकी पत्नी कई घरों में सेविका का कार्य करते हुए अपने बच्चे का पालन करे, तो उससे उसके पति के गोत्र का पूछना भी हास्यास्पद है। जबाला इसी प्रकार की एक सात्विक नारी थी, जिसने परिचर्या कर्म करके अपने पुत्र को पाला, और उसकी सरलता व सच्चाई के संस्कार स्वाभाविक रूप से उसके पुत्र सत्यकाम पर पड़े। सत्यकाम में जो सत्य कहने की सरलता है, मूलतः वह उसकी माँ

---

१. श्रीमभगद्गीता १८/४४।

की ही है। इस प्रकार यह बिल्कुल स्पष्ट है कि, आचार्य हारिद्रुमत गौतम ने, "ब्राह्मण पद से यहाँ सत् संस्कार को ही कहा है" क्योंकि वह स्वयं ही कहते हैं कि–"**न सत्यादगाः**" तू सत्य से विचलित नहीं हुआ। मूलतः सत्य जीना, और सत्य जीने की शिक्षा देना ही ब्राह्मणत्व है। जैसा कि श्रुति स्वयं स्पष्ट करती है—

"**तस्यै वाचः सत्यमेव ब्रह्म।**[१]"

उस सत्य वाणी के लिए कहा कि, उस वाणी में सत्य ही ब्रह्म है।

"**ब्रह्म वा ऋतम्**[२]"

निश्चय ही ऋत-सत्य ही ब्रह्म है। और "**ब्रह्म वै ब्राह्मणः**"– ब्रह्म ही ब्राह्मण है। इस प्रकार के सत्य से युक्त होने के कारण सत्यकाम ब्राह्मण है। इस प्रकार के सत्य के संस्कार से जो भी युक्त है, वह कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण है। जिस प्रकार पूर्व आख्यायिका में शूद्र शब्द के द्वारा जानुश्रुति पौत्रायण के शोक संस्कार ही ग्राह्य हैं उसी प्रकार ब्राह्मण शब्द के द्वारा यहाँ पर माता के द्वारा प्रदत्त सत् संस्कार ही ग्राह्य है। यहाँ अन्तःकरण में कुसंस्कार के अभाव निर्धारण में ही ऋषियों की प्रवृत्ति है। इसी तथ्य को ब्रह्मसूत्रकार मुनि बादरायण ने स्पष्ट किया कि–"**तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः।**" और उसके अर्थात् कुसंस्कार के अभाव निर्धारण में ही प्रवृत्ति है। शिशु के जन्म के बाद प्रथम शिक्षा माता देती है, द्वितीय शिक्षक पिता होता है, उसके बाद ही आचार्य के द्वारा दी जाने वाली शिक्षा का क्रम आता है। वैदिक काल में ब्रह्मकुल में प्रवेश के समय आचार्य माता पिता के द्वारा दी गयी संस्कारात्मिका शिक्षा का परीक्षण करता था। जैसा कि अथर्ववेद में स्पष्ट किया है—

"**आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।**
तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः[३]**।।**"

नवागत ब्रह्मचारी को उपनीत करता हुआ, आचार्य तीन दिनों तक ब्रह्मकुल में रखते हुए, माता-पिता से प्राप्त उसके संस्कारों का परीक्षण करता हुआ, और साथ ही ब्रह्मकुल में विद्या ग्रहण करने के उपायों की शिक्षा देता हुआ, मानों तीन दिन तक अपने गर्भ में रखता है। इस प्रकार

---

१. श.ब्रा.२/१/४/१०। २. श.ब्रा.४/१/४/१० । ३. अथर्ववेद ११/५/३

तीन दिन के अपने परीक्षण से संतुष्ट हो जाने के बाद ही, उसे विद्वानों के समक्ष विद्या देने को प्रस्तुत करता है।

इसी तथ्य को समझाने के लिए तैत्तिरीय श्रुति स्पष्ट करती है—

"मातृदेवोभव। पितृदेवोभव। आचार्यदेवभव।[१]"

जन्म के बाद शिशु को ज्ञान के द्वारा द्योतित करने वाली प्रथम देवता माँ होती है। उसके बाद ज्ञान प्रकाश देने वाला दूसरा देव पिता होता है। और माता पिता के दिये संस्कारात्मक ज्ञानोपरान्त ही तीसरे देव आचार्य का क्रम आता है। इसी तथ्य को श्रुति कह रही है कि, सर्वप्रथम माँ देवता होती है, उसके बाद पिता देव है, तदुपरान्त ही आचार्य देव है।

अन्तःकरण के संस्कार का ही वाह्य रूप है, **उपनयन संस्कार**। अन्तःकरण के संस्कार के अभाव में मात्र वाह्य संस्कार से कुछ भी नहीं होगा। वास्तव में अन्तःकरण के संस्कार के जागरण के लिए ही यह उपनयन संस्कार भी किया जाता है, जिससे ब्रह्मचारी-विद्यार्थी को अपने आदर्श-संस्कारों का स्मरण होता रहे। मूलतः कुसंस्कार ग्रस्त अन्तःकरण द्वारा ज्ञान को ग्रहण करना सम्भव ही नहीं है। क्योंकि कुसंस्कार ग्रस्त मानस वाला व्यक्ति, सत्य और धर्म से सम्पन्न विद्या को, मन से विरुद्ध होने के कारण, न तो वह सुनना चाहता है, न समझना चाहता है, तो उस ज्ञान को धारण करने की सम्भावना ही नहीं बनती। वेदान्त सूत्रों के रचयिता महर्षि बादरायण व्यास इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए अग्रिम सूत्र की रचना करते हैं—

४-कुसंस्कारग्रस्त अंतःकरणयुक्त व्यक्ति के श्रवण अध्ययन और अर्थ के निषेध में रामायण और महाभारत स्मृतियों का उदाहरण–

"श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च[२]"

अर्थात् कुसंस्कार से ग्रस्त अन्तःकरण, पवित्र ज्ञान ग्रहण करने की प्रक्रिया, श्रवण अध्ययन और तदनुसार अर्थग्रहण करने का निषेध करता है। प्रतिक्रिया से ग्रस्त, क्षुब्ध कुसंस्कारग्रस्त, अन्तःकरण ज्ञान की बातें नहीं सुनता, और न ही सुनना चाहता है। सुनकर भी मनन नहीं करता, उसपर

१. तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली, एकादश अनुवाक। २. ब्र.१/३/३८।

विचार नहीं करता, और इसलिए अर्थग्रहण करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी बात को महर्षि बादरायण अपने सूत्र में कह रहे हैं कि, कुसंस्कारग्रस्त अन्तःकरण के द्वारा श्रवण, अध्ययन अर्थ का प्रतिषेध करने के कारण, और स्मृतियों के द्वारा भी यह तथ्य स्पष्ट होने के कारण, कुसंस्कार ग्रस्त अन्तःकरण से युक्त व्यक्ति को अध्यात्म विद्या देने का निषेध किया गया है। जिस प्रकार से प्रसिद्ध स्मृति रामायण में, मंथरा के द्वारा कुसंस्कार से ग्रस्त अन्तःकरण वाली कैकेयी, पवित्र अन्तःकरण के राजा दशरथ की ज्ञान की बातों को नहीं सुनती है। राजा के बार बार सुनाने पर भी, उस पर विचार नहीं करती है, और इसलिए उनके कथन के सत्यार्थ को नहीं ग्रहण करती, भले ही उसका परिणाम स्वयं उस कैकेयी को विधवा बनाने वाला होता है। महामना मनस्वी पुत्र भरत के द्वारा भी धिक्कारी जाती है।

राजा दशरथ के द्वारा कैकेयी को, तथ्यों को समझाने का प्रयास, जो वाल्मीकि रामायण में है, प्रसङ्गवशात् यहाँ प्रस्तुत करते हैं—

ननु तु राघवस्तुल्यो भरतेन महात्मना।
बहुशो हि स्म बाले त्वं कथाः कथयसे मम।।[1]''

मंथरा के कुसंस्कार देने से पहले कैकेयी राम को बहुत प्यार करती थी तथा भरत और राम को समान मानती थी। कुसंस्कार से ग्रस्त होने के बाद, महाराज दशरथ को उसके अन्तःकरण के दूषित होने का ज्ञान न होने के कारण, वह कैकेयी की राम के प्रति विपरीत धारणा को बाल हठ की तरह आश्चर्य से लेते हुए, राम के प्रति उसकी पूर्व भावना का स्मरण दिलाते हुए इस श्लोक में कहते हैं—

"हे बाले कैकेयि! तुम तो पहले राम और भरत की चर्चा करते हुए यह कहती रही हो कि, महात्मा भरत और राम में मुझे कोई अन्तर नहीं लगता है।

रोचयस्यभिरामस्य रामस्य शुभलोचने।
तव शुश्रूषमाणस्य किमर्थं विप्रवासनम् ।।[2]

हे सुन्दर नेत्रों वाली कैकेयि! हमेशा तुम्हारी सेवा में लगे रहने वाले राम को किसलिए तुम देश-निकाला देना चाहती हो?

---

१. वा.रा.अयो.१२/२१ । २. वा.रा.अयो.१२/२४ ।

रामो हि भरताद् भूयस्तव शुश्रूषते सदा।
विशेषं त्वयि तस्मात् तु भरतस्य न लक्ष्यसे।।[१]

भरत से ज्यादा राम ही तेरी सेवा में सदैव लगे रहते है, मैने ऐसा कभी नही देखा कि भरत राम से अधिक तेरा सम्मान करते हैं।

शुश्रूषां गौरवं चैव प्रमाणं वचनक्रियाम् ।
कस्तु भूयस्तरं कुर्यादन्यत्र पुरुषर्षभात् ।।[२]

पुरुषों में श्रेष्ठ राम से बढ़कर दूसरा कौन है जो गुरुजनो की सेवा करने, उन्हे गौरव देने, उनकी बातों को मान्यता देने, और उनकी आज्ञा का सदैव पालन करने में, अधिक तत्तपरता रखता हो?

सान्त्वयन् सर्वभूतानि रामः शुद्धेन चेतसा।
गृहणाति मनुजव्याघ्रः प्रियैर्विषयवाषिनः।।[३]

पुरुष सिंह राम सभी प्राणियों को शुद्ध चित्त से सांत्वना देते हुए, अपने सबको प्रिय लगने वाले आचरणों द्वारा, सभी देश वाशियों को अपने में अनुरक्त किये हुए हैं।

सत्यं दानं तपस्त्यागो मित्रता शौचमार्जवम्।
विद्या च गुरुशुश्रूषा ध्रुवाण्येतानि राघवे।।[४]

सत्य, दान, तप, त्याग, मित्रता, पवित्रता, सरलता, विद्या और गुरुजनों की सेवा यह सभी चीजें राम में सदैव विद्यमान रहती हैं।

न स्मराम्यप्रियं वाक्यं लोकस्य प्रियवादिनः।
स कथं त्वत्कृते रामं वक्ष्यामि प्रियमप्रियम्।।[५]

राम सब लागों से प्रिय बोलते हैं, मैं ऐसा कोई भी अप्रिय वाक्य स्मरण नहीं कर पा रहा हूँ, जो कभी भी उन्होंने किसी को कहा हो, ऐसे प्रिय बोलने वाले राम के लिए, मैं तुम्हारे लिए तुम्हारे द्वारा कहे गये उनके लिए, इन अप्रिय वचनों को कैसे कह पाऊँगा?

क्षमा यस्मिन्स्तपस्त्यागः सत्यं धर्मः कृतज्ञता।
अप्यहिंसा च भूतानां तमृते का गतिर्मम।।[६]

जिसमें क्षमा, तप, त्याग, सत्य, धर्म, कृतज्ञता और सारे प्राणियों के

---

१. वा.रा.अयो.१२/२५ । २. वा.रा.अयो.१२/२६ । ३. वा.रा.अयो.१२/२८।
४. वा.रा.अयो.१२/३० । ५. वा.रा.अयो.१२/३२। ६. वा.रा.अयो.१२/३३।

प्रति अहिंसा की भावना भरी हो, उन श्रीराम के बिना मेरी क्या गति होगी?

मम वृद्धस्य कैकेयी गतान्तस्य तपस्विनः।
दीनं लालप्यमानस्य कारुण्यं कर्तुमर्हसि।।[१]

जिसका अंत समीप है, तपस्या में लगा हुआ है, तुम्हारे सामने लालसा से गिगिड़ा रहा है, ऐसे मुझ बूढ़े पर हे कैकेयि! तुम्हें दया करनी चाहिए।

पृथिव्यां सागरान्तायां यत् किञ्चिदधिगम्यते।
तत् सर्वं तव दास्यामि मां च त्वं मन्युमाविश।।[२]

समुद्रपर्यन्त पृथ्वी पर जो कुछ भी मिलता है, वह सब मैं तुझे दे दूंगा, किंतु तू ऐसी माँग का त्याग कर दे, जिससे की मैं मृत्यु में प्रवेश कर जाऊँ।

अञ्जलिं कुर्मि कैकेयी पादौ चापि स्पृशामि ते।
शरणं भव रामस्य माधर्मो मामिह स्पृशत्।।[३]

हे कैकेयि! मैं तेरे सामने हाथ जोड़ता हूँ, और तेरे पैर भी छूता हूँ, तूं राम की शरण बन, जिससे यहाँ इस प्रसंग में मुझे अधर्म, पाप स्पर्श न करे।

मीमांसा- इस प्रकार से महात्मा महाराज दशरथ के द्वारा सद्वाक्यों से समझाये जाने और प्रार्थना करने पर भी, मंथरा के द्वारा कुसंस्कारग्रस्त अन्तःकरण वाली कैकेयी, अपने पति के सद्ज्ञान से सम्पन्न वाक्यों को स्वीकार नहीं की। अपितु महाराज दशरथ के विपरीत चिन्तन करती हुई, इस प्रकार बोली।

''यदि दत्वा वरौ राजन् पुनः प्रत्यनुतप्यसे।
धार्मिकत्वं कथं वीर पृथिव्यां कथयिष्यसि।।[४]

हे राजन् ! यदि दो वरदान देकर अब देने के समय आप दुख कर रहे हैं, तो हे वीर! पृथ्वी में आप किस प्रकार धार्मिक कहलायेंगे?

''शैब्यः श्येनकपोतीये स्वमांसं पक्षिणे ददौ।
अलर्कश्चक्षुषी दत्वा जगाम गतिमुत्तमाम्।।[५]

---

१. वा.रा.अयो.१२/३४। २. वा.रा.अयो.१२/३५। ३. वा.रा.अयो.१२/३६।
४. वा.रा.अयो.१२/३९। ५. वा.रा.अयो.१२/४३।

राजा शैब्य ने श्येन-बाज और कपोत के झगड़े में कपोत के प्राण वचाने की प्रतिज्ञा, कबूतर के शरीर के बराबर मांस देने की किया, और अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए श्येन पक्षी को अपने शरीर का मांस काट कर दे दिया। इसी प्रकार राजा अलर्क ने अपने दोनो नेत्रों का दान अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए देकर उत्तम गति प्राप्त की

स त्वं धर्मं परित्यज्य रामं राज्येऽभिषिच्य च।
सह कौशल्यया नित्यं रन्तुमिच्छसि दुर्मते।।[1]

दुर्बद्धि राजन् ! तुम तो धर्म का परित्याग करके, राम का राज्याभिषेक कर नित्य ही कौशल्या के साथ रमण करना चाहते हो।

भवत्यधर्मो धर्मो वा सत्यं वा यदि वानृतम्।
यत्त्वया संश्रुतं मह्यं तस्य नास्ति व्यतिक्रमः।।[2]

धर्म हो, चाहे अधर्म हो, सत्य हो, चाहे झूठ हो। तुमने जो प्रतिज्ञा हमें वर देने की की है, उसमें अब कोई परिवर्तन नहीं हो सकता।

एकाहमपि पश्येयं यद्यहं राममातरम्।
अञ्जलिं प्रतिगृह्णन्तीं श्रेयो ननु मृतिर्मम।।[3]

यदि मैं राम माता को, एक दिन भी राजमाता के रूप में, लोगों द्वारा हाथ जोड़कर नमस्कार करने को स्वीकार करता हुआ देख लूँगी, तो उससे अच्छा मैं अपने लिए मर जाना ही समझूँगी।

भरतेनात्मनाचाहं शपे ते मनुजाधिप।
यथा नान्येन तुष्येयमृते रामविवासनात्।।[4]

हे नरेश्वर! मैं तुमको अपनी और भरत की शपथ देकर कहती हूँ, कि राम को घर से निकाल कर वनवास देने के अतिरिक्त, अन्य किसी वरदान से मुझे संतोष नहीं होगा।

इस प्रकार मंथरा के द्वारा विपरीत सूचना से भ्रान्त, अन्तःकरण के दोष से दूषित अन्तःकरणा कैकेयी की भ्रान्ति को दूर करने के लिए महाराज दशरथ ने पुनः उसे समझाने का प्रयास इस प्रकार किया—

---

१. वा.रा.अयो.१२/४५। २. वा.रा.अयो.१२/४६।
३. वा.रा.अयो.१२/४७। ४. वा.रा.अयो.१२/४८।

विना हि सूर्येण भवेत् प्रवृत्तिरवर्षता वज्रधरेण वापि।
रामं तु गच्छन्तमितः समीक्ष्य जीवेन्न कश्चिदिती चेतना मे।।[१]

कदाचित ऐसा सम्भव हो कि लोग बिना सूर्य के ही अपने कार्यों में प्रवृत्त हो जाँय, अर्थात् सूर्य के बिना भी संसार का काम चल जाय, वज्रधारी बादलों के बिना भी वर्षा हो जाये, किन्तु इस अयोध्या से राम को जाता हुआ देखकर कोई भी अयोध्यावासी जीवित नहीं रह सकता, ऐसी मेरी चेतना है, मेरी समझ है।

न किञ्चिदाहाहितमप्रियं वचो, न वेत्ति रामः परुषाणि भाषितुम्।
कथं तु रामे ह्यभिरामवादिनि, ब्रवीषि दोषान् गुणनित्यसम्मते।।[२]

राम कभी भी किसी से कोई अहितकर, अप्रिय वचन नहीं बोलते। वे कटु वचन बोलना ही नहीं जानते। हे पूर्व में राम के वचनों में विश्राम बताने वाली कैकेयी ! नित्य गुण ही जिसमें बसते हैं, उन राम में आज तू कैसे दोषों को देख और दिखा रही है?

न जीवितं मेऽस्ति कुतः पुनः सुखं, विनात्मजेनात्मवतां कुतो रतिः।
ममाहितं देवि न कर्तुमर्हसि, स्पृशामि पादावपि ते प्रसीद मे।।[३]

राम के विना मेरा जीवन नहीं है, फिर मेरे बिना तू कहाँ से सुख पा सकती है? आत्मीय के बिना आत्मज्ञ लोगों को कहाँ से सुख हो सकता है? हे देवि! तुम मेरा अहित नहीं कर सकती हो, क्योंकि मेरे हित में ही तुम्हारा भी हित है। इसलिए मैं तेरे पाँव छू कर प्रार्थना करता हूँ, कि तू मेरे ऊपर प्रसन्न हो।

इस प्रकार से अनेक उपायों के द्वारा समझाये जाने पर भी, मंथरा के द्वारा कुसंस्कार से ग्रस्त हुई कैकेयी, अपने पति महाराज दशरथ के अत्यन्त हितकारी वचनों को सुनकर भी, नहीं सुन सकी, जैसा कि महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—

विशुद्धभावस्य हि दुष्टभावा, दीनस्य ताम्राश्रुकलस्य राज्ञः।
श्रुत्वा विचित्रं करुणं विलापं, भर्तृर्नृशंसा न चकार वाक्यम्।।[४]

विशुद्ध भावों से युक्त गर्म अश्रुवों से करुण विलाप करते हुए, दीन

---

१. वा.रा.अयो.१२/१०४। ३. वा.रा.अयो.१२/३६।
३. वा.रा.अयो.१२/१११। ४. वा.रा.अयो.१३/२४।

राजा के मुख से निकल रहे वचनों को सुन करके भी, दूषित-दुष्ट भावों से युक्त नृशंस हुई कैकेयी ने पति की बातों को नहीं सुना।

परिणाम तो सर्वविदित है, महाराज दशरथ की मृत्यु, कैकेयी के वैधब्य के साथ कौशल्या और सुमित्रा का भी वैधब्य, सीता, लक्ष्मण सहित राम का वनगमन, सम्पूर्ण अयोध्यावासी राम वनगमन से अत्यन्त दुखी, इस प्रकार दुख तो सबको हुआ। किन्तु कैकेयी ने अपने जिस पुत्र भरत के लिए राज्य माँगा था, उसी पुत्र की दृष्टि में वह घृणा की पात्र बन गयी। इसलिए यह कहा जा सकता है कि, राम वनगमन के बाद कैकेयी का दुख सर्वाधिक था।

मीमांसा– इस प्रकार यह स्पष्ट है कि, कुसंस्कारग्रस्त अन्तःकरण वाले व्यक्ति को, सदुपदेश नहीं किया जा सकता। यदि किया भी जाये, तो उसका कोई लाभ नहीं हो सकता। जिस प्रकार यहाँ प्रसिद्ध स्मृति रामायण में कुसंस्कारग्रस्त अन्तकरण से उपदेश ग्रहण करने का निषेध सिद्ध होता है। उसी प्रकार महाभारत में भी, राजसिंहासन के आकांक्षी, पुत्रमोह से ग्रस्त, दूषित अन्तःकरण वाले धृतराष्ट्र ने भी भीष्मपितामह और महात्मा विदुर के द्वारा दिये गये, सर्वकल्याणकारी ज्ञानात्मक महान उपदेश में से कुछ भी धारण नहीं किया। केवल इतना ही नहीं, भगवान कृष्ण के द्वारा अर्जुन के लिए, युद्ध से पूर्व सुनाई गई सम्पूर्ण गीता को भी, संजय के माध्यम से उसी समय धृतराष्ट्र ने सुना, भगवान के विराट रूप के विषय में भी सुना और गीता सुनाने के बाद उस गीता से और भगवान की भगवत्ता से पूर्ण परिचित हो चुके युद्ध के परिणाम के विषय में भी संजय का यह निर्णय भी सुना—

"यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम[१]।।"

जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं, जहाँ पृथा पुत्र धनुर्धर अर्जुन हैं, वहीं विजय है, वहीं श्री है, वहीं विभूति है, ऐसी मेरी निश्चित मति है, ऐसी मेरी दृढ़ बुद्धि है।

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता १८/७८ अंतिम श्लोक

इस प्रकार सम्पूर्ण गीता सुनकर भी संजय के द्वारा युद्ध का परिणाम स्पष्ट बता दिये जाने के बाद भी ईर्ष्या, मोह, लोभ आदि कुसंस्कारों से ग्रस्त अंतःकरण वाला धृतराष्ट्र नहीं चेता। परिणाम–सभी पुत्रों की मृत्यु और महाविनाश। इसलिए बादरायण व्यास ने श्रुति के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा कि जानुश्रुति पौत्रायण और सत्यकाम के प्रकरण में ऋषि रैक्व तथा ऋषि हारिद्रुमत गौतम की प्रवृत्ति, उनके भीतर कुसंस्कारों के अभाव निर्धारण और सत् संस्कारों की स्थिति जानने के लिए है। न कि किसी व्यक्ति को जिज्ञासा होने, और अन्तःकरण के पवित्र होने पर भी जन्म के आधार पर ज्ञान प्राप्ति के अधिकार से वंचित कर देने की। इसलिए उन्होंने संस्कार परामर्श करने के लिए लिखा, न की शुक्र शोणित परामर्श करने के लिए। इस सम्बंध में यह दो प्रकरण ही पर्याप्त हैं।

षष्ठ अध्याय

क्षेपक विमर्श

१- क्षेपक विमर्श का आधार

शङ्का–यहाँ महर्षि वाल्मीकि के ऐतिहासिक आदि काव्य रामायण से आपने उदाहरण प्रस्तुत किया है। उसमें तो स्वयं राम ने तप करते हुए, निरपराध तापस शम्बूक का, शूद्र होने के कारण, तप करने का अधिकार न होने को मानकर, वध कर दिया। ऐसी परिस्थिति में उसी रामायण से आप के द्वारा सभी मनुष्यों को सत्कर्म करने का और आत्मज्ञान प्राप्त करने का उदाहरण, कैसे स्वीकार किया जा सकता है?

समाधान– शम्बूक वध की कथा महर्षि वाल्मीकि के ग्रन्थ रामायण में दुष्टों, राक्षसी मानसिकता के लोगों द्वारा, राम के चरित्र का हनन करने के लिए, लोगों में जो राम के प्रति अनन्य श्रद्धा है, उसे नष्ट करने के लिए, छलपूर्वक जोड़ी गयी है, इस तथ्य को भी यहाँ स्पष्ट करने के लिए रामायण का तथ्यात्मक विमर्श करते हैं—

प्राचीन काल से ही लोक में हम सब देखते हैं कि, कुछ लोग दैवी धार्मिक प्रकृति के और दूसरे कुछ लोग राक्षसी दुष्ट प्रकृति के होते हैं। परमात्मा की अनुग्रह शक्ति के द्वारा पवित्र अन्तःकरण वाले ऋषि लोग, दैवीय आध्यात्मिक सम्पत्ति से सम्पन्न होते हैं। उनमें ही लोक पर अनुग्रह करने के लिए शास्त्र अवतरित होते हैं। अपौरुषेय निश्चयात्मक वेदों की ज्ञान राशि भी, ऋषियों के माध्यम से ही, लोक कल्याण के लिए अवतरित होती है। उसी प्रकार से परमात्मा की आवरक शक्ति से, आसुरी भाव को प्राप्त हुए, शरीर को ही आत्मा मानने वाले अधार्मिक लोग, लोगों में भ्रान्ति उत्पन्न करने के लिए, अपने अधार्मिक कृत्यों को छद्म धर्म रूप से ढकने के लिए, पवित्र शास्त्रों में अपने कलुषित भावों को कूटबुद्धि

से मिला देते हैं। ऐसी कूट रचनाओं को प्रक्षिप्त कहते हैं। ये राक्षसी मानसिकता के लोग महात्माओं, ऋषियों के प्रति शत्रु भाव से भरे रहते हैं। इन आसुरी भावों से युक्त दुष्टों के प्रति लोक में श्रद्धा नहीं होती है। इसलिए ये दुष्ट अपनी कूट रचनाओं को, छलपूर्वक ऋषियों के नाम से ही, उन ऋषियों के द्वारा उनके शास्त्रों में स्थापित, जीवन मूल्यों को ढकने के लिए, उन-उन शास्त्रों में मिला देते हैं, प्रक्षेप कर देते हैं।

हम सब जानते हैं कि रावण आदि शरीर को ही आत्मा मानने वाले राक्षस भी, संस्कृत भाषा के ज्ञाता थे। वे वैदिक संस्कृति के शत्रु, वैदिक सत्कर्मों के विरोधी जहाँ किसी प्रकार की हिंसा नहीं होती, ऐसे अध्वर कहे जाने वाले, यज्ञ रूप सत्कर्मों में हिंसा करने वाले, ऋषियों के द्वारा किये जा रहे अध्वरों में, यज्ञों में, रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा आदि फेंक कर, यज्ञों को ध्वंस करने वाले, सदाचारहीन कदाचारलीन होते थे। पुनः हमारा देश ऐसे ही दुष्ट राक्षसी मानसिकता के क्रूर विदेशियों के द्वारा काफी समय तक आक्रान्त रहा है। इन सभी राक्षसी मानसिकता के लोगों द्वारा, हमारे शास्त्रों के, और हमारे वैदिक जीवन मूल्यों के विनाश के लिए, सभी प्रकार के प्रयास किये गये। ऐसे समय में वेदों की रक्षा के लिए, वैदिक शब्दों को न जानते हुए भी, वेदों को सस्वर कण्ठस्थ कर लेना ही महाफलदायक है। इस प्रकार की समसामयिक शास्त्र व्यवस्था महापुरुषों ने दिया। इस प्रकार वैदिक संहिताओं को कण्ठस्थ कर, वेदों की शुद्धता की रक्षा की गयी। किन्तु जो शास्त्र परम्परा से कण्ठस्थ नहीं किये गये थे, और सरल संस्कृत में लिखे गये थे, उन शास्त्रों में मानवता के इन शत्रुओं के द्वारा, मिथ्या कूट रचनायें, विविध शास्त्रों में उन उन स्थलों में, स्थापित जीवन मूल्यों के विपरीत, उन मूल्यों को छिपाने और नष्ट करने के उद्देश्य से, उन उन स्थलों में मिला दीं, प्रक्षेपित कर दीं।

इस तरह के लोगों की भावनाओं का अनुमान हमारे विद्वानों को पूर्व में ही हो गया था। इसलिए उन्होंने, उस प्राचीन काल में ही, यह व्यवस्था स्थापित किया कि, **''स्वतः प्रामाण्य आनुपूर्वी परम्परा से कण्ठस्थ किये गये वेदों का ही है। और अन्य शास्त्रों का, उन वेदों के अनुकूल जो कुछ मिलता है, उतने का ही प्रामाण्य है।''** इस प्रकार सभी प्राणियों

के हित में लगे हुए ऋषियों ने, लोकोपकार के लिए, अपने शास्त्रों में, जिन-जिन जीवन मूल्यों की स्थापना की। उनके उन-उन जीवन मूल्यों को छिपाने के लिए, उन-उन शास्त्रों में, मानवता के शत्रु राक्षसी मानसिकता के दुष्टों द्वारा, जो-जो कूट रचनायें प्रक्षेपित की गयी हैं, उन-उन शास्त्रों में पवित्र बुद्धि के द्वारा किये गये, अध्ययनात्मक तप से वह शास्त्र, और उसमें प्रक्षिप्त कूट रचनायें उसी प्रकार स्पष्ट हो जाती हैं, जैसे सोना और उसके ऊपर डाली गयी धूल। इसलिए शास्त्र में, और लोक में **''धूलिप्रक्षेपन्यायः''** प्रचलित है। जिसका अर्थ है धूल डालकर सत्य को छिपाने का प्रयास।

भगवान राम का जीवन वैदिक मूल्यों का श्रेष्ठतम रूप है। उन मूल्यों को ढकने के लिए रामायण में जो कूट रचनायें मिलायी गयी हैं, उनका निराकरण परम आवश्यक है। और वह महर्षि वाल्मीकि की रचना के दिव्य प्रकाश में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। प्रथमतया महर्षि वाल्मीकि ने अपनी रामायण में राम के जिन जीवन मूल्यों को आदर्श के रूप में स्थापित किया है। उनपर दृष्टि डालना आवश्यक है उसी क्रम में—

२-''राम की सत्य-धर्मनिष्ठा'' और सम्पूर्ण पृथ्वी को राक्षसों से रहित करने की प्रतिज्ञा

महर्षि वाल्मीकि ने भगवान राम का वर्णन करते हुए लिखा—

स तु श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः।
वहिश्चर इव प्राणो वभूव गुणतः प्रियः।।[१]

''वे राम श्रेष्ठ गुणों से युक्त प्रजा की मूर्तिमान आत्मा हैं, अपने गुणों से वे प्रजा में इतने प्रिय हैं कि, प्रजा उनको अपने बाहर घूमने वाले प्राण के समान मानती है।''

इसलिए जब राम वन जाने लगे तो, सारे अयोध्यावासी उनके साथ वन जाने लगे, किसी तरह रास्ते में अयोध्यावासियों को रात में सोता हुआ छोड़कर, वह आगे वन गये। सारे प्राणियों के हित में लगे हुए राम, जब वन में चले गये, तो अपने इन्ही गुणों के कारण वहाँ भी, सबके अत्यन्त प्रिय हुए। वहाँ वनवास काल में, वनों से वनों में घूमते हुए, आश्रमों से

१. बा. अयो.१/१९।

आश्रमों में घूमते हुए, बारहवें वर्ष महर्षि शरभंग के आश्रम में गये। भगवान राम के द्वारा सेवित वृद्ध शरभंग ने, अपने स्थूल शरीर को छोड़कर मोक्ष प्राप्त किया। उस आश्रम में रहते समय ही, भगवान राम के पास मुनियों का समूह आया, और उन सबने राक्षसों की क्रूरता, और अपने संकटापन्न जीवन को बताते हुए, अपनी रक्षा की प्रार्थना की। राम को अपने साथ ले जाकर उन्होंने राक्षसों के द्वारा खाये गये, ऋषि-मुनियों और गायों के कंकालों को दिखाया। वह इस प्रकार –

एहि पश्य शरीराणि मुनीनां भवितात्मनाम्।
हतानां राक्षसैर्घोरैर्बहूनां बहुधावने।।[१]

हे राम! यह पवित्र आत्मा मुनियों के शरीरों (कङ्कालों) को देखिये! जो भयंकर राक्षसों द्वारा बारम्बार इस वन में अनेक प्रकार से मारे गये हैं।

पम्पानदीनिवासानामनुमन्दाकिनीमपि ।
चित्रकूटालयानाञ्च क्रियते कदनं महत्।।[२]''

जो पंपा सरोवर और उसके समीप बहने वाली तुङ्गभद्रा नदी के किनारे रहते रहे हैं तथा जिन्होंने चित्रकूट पर्वत के किनारे अपना आश्रम बनाया है, उन सभी ऋषियों-मुनियों का राक्षसों द्वारा बहुत भयंकर संहार किया जा रहा है।

एवं वयं न मृष्यामो विप्रकारं तपस्विनाम्।
क्रियमाणं वने घोरं रक्षोभिर्भीमकर्मभिः।।[३]

इस प्रकार से भयानक कर्म करने वाले, राक्षसों द्वारा, इस वन में इन तपस्वियों का जो ऐसा भयंकर विनाश किया जा रहा है, वह हम लोगों के द्वारा सहन नहीं हो रहा है।

ततस्त्वां शरणार्थिं च शरण्यं समुपस्थिताः।
परिपालय नो राम वध्यमानान् निशाचरैः।।[४]

इसलिए इन भयंकर राक्षसों से बचने के लिए हम सब आपकी शरण में आये हैं, हे राम! इन राक्षसों से मारे जाते हुए हम लोगों का आप परिपालन करें, हमारी रक्षा करें।

---

१. वा.रा.अरण्य ६/१६। २. वा.रा.अरण्य ६/१७।
३. वा.रा.अरण्य ६/१८। ४. वा.रा.अरण्य ६/१९।

परा त्वात्तो गतिर्वीर पृथिव्यां नोपपद्यते।
परिपालय न सर्वान् राक्षसेभ्यो नृपात्मज।।[१]

हे राजपुत्र! इस पृथ्वी पर आपके अतिरिक्त हम लोगों की और कहीं गति नहीं है। आप इन राक्षसों से हमारी रक्षा कीजिए।

एतच्छ्रुत्वा तु काकुत्स्थस्तापसानां तपस्विनाम्।
इदं प्रोवाच धर्मात्मा सर्वानेव तपस्विनः।।[२]

ऋषियों के द्वारा दिखाये गये कङ्कालों को देखकर, और उन राक्षसों के अत्यन्त निर्दय क्रूरतापूर्ण कर्म को सुनकर, उसका चिन्तन कर, करुणा से अत्यन्त द्रवित अन्तःकरण वाले, ककुत्स्थ कुलभूषण धर्मात्मा राम ने, उन सभी तपस्वियों से इस प्रकार कहा –

नैवमर्हथ मां वक्तुमाज्ञाप्योऽहं तपस्विनाम्।
केवलेन स्वकार्येण प्रवेष्टव्यं वनं मया।।[३]

हे तपस्वियो! आप लोग मुझसे इस प्रकार प्रार्थनापूर्वक न कहें, अपितु आप सब मुझे आदेश देने योग्य हैं। मुझे अपने कार्य से तो वन में प्रवेश करना ही है। अब आप लोगों की सेवा करने का सौभाग्य भी मुझे प्राप्त हो रहा है।

विप्रकारमपाक्रष्टुं राक्षसैर्भवतामिमम् ।
पितुस्तु निर्देशकरः प्रविष्टोऽहमिदं वनम् ।।[४]

यह जो राक्षसों के द्वारा आप सबको कष्ट पहुँच रहा है, इसे दूर करने के लिए ही मैं पिता की आज्ञा का पालन करता हुआ इस वन में प्रविष्ट हुआ हूँ।

भवतामर्थसिद्ध्यर्थमागतोऽहं यदृच्छया।
तस्य मेऽयं वने वासो भविष्यति महाफलः।।[५]

आप के कार्य की सिद्धि के लिए ही, मैं परमात्मा की इच्छा से यहाँ आ गया हूँ। इस प्रकार से आप तपस्वियों की सेवा करने का अवसर मिलने के कारण, मेरा यह वनवास महान् फलदायक होगा।

---

१. वा.रा.अरण्य ६/२०।
२. वा.रा.अरण्य ६/२१
३. वा.रा.अरण्य ६/२२
४. वा.रा.अरण्य ६/२३
५. वा.रा.अरण्य ६/२४

तपस्विनां रणे शत्रून् हन्तुमिच्छामि राक्षसान् ।
पश्यन्तु वीर्यमृषयः सभ्रातुर्मे तपोधनाः।।[१]

हे तपोधनो! मैं तपस्वियों के शत्रुओं, राक्षसों का युद्ध में संहार करना चाहता हूँ। आप सब ऋषि लोग, मेरे भाई सहित मेरा पराक्रम देखें ।

इस प्रकार से राक्षसों के विनाश का संकल्प करके, वहाँ से आगे चलते हुए, भ्राता लक्ष्मण और पत्नी सीता के साथ, महर्षि सुतीक्ष्ण के आश्रम में, तपस्वियों के योग्य आतिथ्य को स्वीकार कर रात्रि में वहीं विश्राम किया। प्रातः इस दण्डकारण्य में रहने वाले तपस्वियों, उनके आश्रमों, और वन की प्रकृति को देखने के लिए, धनुष-बाण और तलवार धारण किये हुए राम और लक्ष्मण, सीता के साथ चल पड़े। राक्षसों के संहार का संकल्प कर, मार्ग में निकले हुए रघुनन्दन राम का हित चाहती हुई, उनकी पतिव्रता पत्नी सीता ने, स्नेहपूर्ण वाणी में यह कहा—हे नाथ! सूक्ष्म विधि से विचार करने पर, मैं आप के द्वारा राक्षसों के वध के लिए की गयी प्रतिज्ञा में, अधर्म देख रही हूँ। काम जनित व्यसनों से, आप सर्वथा मुक्त हैं, तब विचारपूर्वक इस अधर्म से भी बच सकते हैं, जो इस प्रकार है—

त्रीण्येव व्यसनान्यत्र कामजानि भवन्त्युत।
मिथ्यावाक्यं तु परमं तस्माद् गुरुतरावुभौ।।[२]

इस जगत में तीन ही व्यसन, मनुष्य में कामना से उत्पन्न होते हैं। उनमें पहला मिथ्या वाक्य है, और दो उससे भी भारी व्यसन हैं।

परदाराभिगमनं विना वैरं च रौद्रता।
मिथ्यावाक्यं न ते भूतं न भविष्यति राघव।।[३]

उनमें दूसरा, कामवासनावश दूसरे की स्त्री से शारीरिक सम्बन्ध बनाना, और उससे भी भयानक है, बिना किसी शत्रुता के रौद्र रूप धारण कर लेना, अर्थात् बिना शत्रुता किसी को मार डालने का मन बनाना।

इनमें से पहला मिथ्या वाक्य आपने कभी नहीं कहा, और न ही भविष्य में कभी भी झूठ कहेंगे।

---

१. वा.रा.अरण्य ६/२५। २. वा.रा.अरण्य ९/३। ३. वा.रा.अरण्य ९/४।

कुतोऽभिळषणं स्त्रीणां परेषां धर्मनाशनम् ।
तव नास्ति मनुष्येन्द्र न चाभूत् ते कदाचन।।[१]

आप जैसे सत्यवादी धर्मनिष्ठ पुरुष में दूसरों के धर्म को नष्ट करने वाला, पर स्त्री से सम्बन्ध करने की आकांक्षा रूप, अधर्म कहाँ से हो सकता है? हे मनुष्यों में श्रेष्ठ! आप में ऐसी दूषित इच्छा न तो है, और न ही कभी थी। और भविष्य में कभी होने की संभावना भी नहीं है।

मनस्यपि तथा राम न चैतद् विद्यते क्वचित् ।
स्वादारनिरतश्चैव नित्यमेव नृपात्मज।।[२]

हे राम! यह दोष तो आप के मन में भी कभी नहीं उदित हुआ। आप सदा ही, अपनी धर्मपत्नी में ही निष्ठा रखने वाले हैं।

धर्मिष्ठः सत्यसंधश्च पितुर्निदेशकारकः।
त्वयि धर्मश्च सत्यञ्च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।।[३]

आप धर्मनिष्ठ हैं, और सत्यसंध हैं, अर्थात् सत्य का परित्याग कथमपि नहीं कर सकते, सत्य की रक्षा के लिए ही, आप पिता की आज्ञा का पालन कर रहें हैं। आप में धर्म और सत्य की नित्य प्रतिष्ठा है। आप में सभी सत्कर्म प्रतिष्ठित हैं।

तच्च सर्वं महाबाहो शक्यं बोढुं जितेन्द्रियैः।
तव वश्येन्द्रियत्वं च जानामि शुभदर्शन।।[४]

धर्म और सत्य को सब प्रकार से जीवन में धारण करने का कार्य, जितेन्द्रिय लोग ही कर सकते हैं। हे शुभदर्शन! मैं आप की धर्मपत्नी इस बात को अच्छी तरह जानती हूँ कि, आप की इन्द्रियाँ आप के वश में हैं।

तृतीयं यदिदं रौद्रं पर प्राणाभिहिंसनम् ।
निर्वैरं क्रियते मोहात् तच्च ते समुपस्थितम्।।[५]

लेकिन इन दोषों के क्रम में, यह जो तीसरा रौद्र रूप धारण कर, बिना किसी शत्रुता के कुछ लोगों के प्रति मोहवश, निर्दोष लोगों के प्राण हर लेने का है। वही दोष आप के सामने उपस्थित है।

---

१. वा.रा.अरण्य ९/५। २. वा.रा.अरण्य ९/६
३. वा.रा.अरण्य ९/७ ४. वा.रा.अरण्य ९/८
५. वा.रा.अरण्य ९/९

''प्रतिज्ञातस्त्वया वीर दण्डकारण्यवासिनाम् ।
ऋषीणां रक्षणार्थाय वधः संयति रक्षसाम् ।।[१]

हे वीर! आपने दण्डकारण्य में रहने वाले ऋषियों की रक्षा के लिए, युद्ध में राक्षसों का वध कर देने की प्रतिज्ञा कर ली है।

''एतन्निमित्तं च वनं दण्डका इति विश्रुतम् ।
प्रस्थितस्त्वं सह भ्रात्रा धृतबाणशरासनः ।।[२]

इसी के लिए आप, भाई के साथ धनुष-बाण लेकर, दण्डक नाम से प्रसिद्ध वन की ओर चल पड़े हैं।

ततस्त्वां प्रस्थितं दृष्ट्वा मम चिन्ताकुलं मनः।
त्वद्वृत्तं चिन्तयन्त्या वै भवेन्निःश्रेयसं हितम्।।[३]

इस प्रकार से आप को इस घोर कर्म के लिए चलता हुआ देखकर, मेरा मन चिन्ता से व्याकुल हो उठा है। आप के इस प्रतिज्ञा-पालन रूप संकल्प का विचार करके, मैं किस प्रकार धर्मानुकुल हितकर कर्म हो, यही सोचती रहती हूँ।

नहि मे रोचते वीर गमनं दण्डकान् प्रति ।
कारणं तत्र वक्ष्यामि वदन्त्याः श्रूयतां मम।।[४]

हे वीर! मुझे दण्डकारण्य निवासियों के प्रति, आपका इस प्रकार का गमन उचित नहीं लग रहा है। उसका कारण कहती हूँ। सुनिए—

त्वं हि बाणधनुष्पाणिर्भ्रात्रा सह वनं गतः।
दृष्ट्वा वनचरान् सर्वान् कश्चित कुर्याः शरव्ययम्[५]**।।**

आप धनुष-बाण लेकर, भाई के साथ वन में आये हैं, सभी वनचरों को देखकर, कहीं आप उनपर, अपने वाणों का अपव्यय न करने लगें।

स्नेहाच्च बहुमानाच्च स्मारये त्वां तु शिक्षये।
न कथञ्चन सा कार्या गृहीतधनुषा त्वया।।[६]

मेरे भीतर आप के लिए जो अत्यन्त स्नेह, और बहुत सम्मान है, उसी के फलस्वरूप मैं, आप को धर्मशिक्षा का स्मरण दिला रही हूँ, कि

---

१. वा.रा.अरण्य ९/१०। २. वा.रा.अरण्य ९/११।
३. वा.रा.अरण्य ९/१२। ४. वा.रा.अरण्य ९/१३।
५. वा.रा.अरण्य ९/१४। ६. वा.रा.अरण्य ९/२४।

धनुष-बाण लेकर, आप के द्वारा कहीं भी बाणों का, धर्म के विरूद्ध व्यय न हो जाय।

बुद्धिर्वैरं विना हन्तुं राक्षसान् दण्डकाश्रितान् ।
अपराधं विना हन्तुं लोको वीर न मंस्यते।।[1]

बिना किसी शत्रुता के, बिना अच्छी तरह बुद्धि से विचार किये हुए, दण्डक वन में रहने वाले सभी राक्षसों का वध कर डालने की प्रतिज्ञा कर लेना, उचित नहीं है। बिना किसी अपराध के, किसी की हत्या कर डालने वाले को लोक-समाज वीर नहीं मानता है।

मीमांसा- अर्थात् राक्षसों की हमसे किसी प्रकार की शत्रुता नहीं है, ऋषियों से उनकी शत्रुता किसी कारण से हो सकती है, उसपर भी विचार नहीं किया गया है। ऋषियों से शत्रुता होने पर भी वे हमारे मित्र हो सकते हैं। इन सभी बातों पर चिन्तन नहीं किया गया है। ऐसी परिस्थिति में राक्षसों का अपराध भी, स्पष्ट नहीं हुआ है। और बिना किसी अपराध के, किसी की हत्या कर डालने को, लोक-समाज वीर नहीं मानता है। अर्थात् राजनीतिक दृष्टि से उचित नहीं है, और न ही समाज में सम्मान देने वाला है।

क्षत्रियाणां तु वीराणां वनेषु नियतात्मनाम् ।
धनुषा कार्यमेतावदार्तानामभिरक्षणम्।।[2]

अपने मन, और इन्द्रियों को वश में रखने वाले, नियतात्मा क्षत्रिय वीरों का, वनों में धनुषधारण करने का, इतना ही अभिप्राय है, कि संकट में पड़े हुए आर्त लोगों की रक्षा की जाय।

क्व च शस्त्रं क्व च वनं क्व च क्षात्रं तपः क्व च।
व्याविद्धमिदमस्माभिर्देशधर्मस्तु पूज्यताम् ।।[3]

कहाँ शस्त्र धारण, और कहाँ वन। कहाँ क्षत्रिय का धर्म, और कहाँ सभी प्रणियों पर दया करना रूप तप। यह परस्पर विपरीत जान पड़ते हैं। इसलिए हमलोगों को, देश-धर्म का ही आदर करना चाहिए। अर्थात् तपोवन में तपस्वियों की तरह ही रहना चाहिए।

---

१. वा.रा.अरण्य ९/२५ २. वा.रा.अरण्य ९/२६
३. वा.रा.अरण्य ९/२७।

अक्षया तु भवेत् प्रीतिः श्वश्रूश्वशुरयोर्मम।
यदि राज्यं हि संन्यस्य भवेस्त्वं निरतो मुनिः।।[१]

राज्य त्याग कर वन में आ जाने पर, यदि आप पूर्ण रूप से मुनि होकर ही रहेंगे, तो वनवास का वरदान मांगने वाली मेरी सास और उनको वर देने वाले पूज्य श्वसुर जी को, अक्षय प्रसन्नता प्राप्त होगी।

धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात् प्रभवते सुखम्।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारसिदं जगत्।।[२]

धर्म से धन उत्पन्न होता है। धर्म से उत्कृष्ट सुख की प्राप्ति होती है। धर्म से सबकुछ प्राप्त होता है। इस जगत में धर्म ही सार है।

इस प्रकार पति में अत्यन्त श्रद्धा रखने वाली, सीता की बातें सुनकर, धर्म में स्थित रहने वाले, उनके पति राम ने उन जानकी के प्रति इस प्रकार कहा—

हितमुक्तं त्वया देवि स्निग्धया सदृशं वचः।
कुलं व्यपदिशन्त्या च धर्मज्ञे जनकात्मजे।।[३]

हे देवि! धर्म को जानने वाली जनककिशोरि! आपने अपने स्नेह के सदृश ही बात कही है। क्षत्रियों के कुलधर्म का उपदेश करती हुई, तुमने अपने कुल के अनुरूप, धर्मयुक्त बात कही है।

किं नु वक्ष्याम्यहं देवि त्वयैवोक्तमिदं वचः।
क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्तशब्दो भवेदिति।।[४]

देवि! मैं क्या कहूँगा! तुमने ही पहले यह बात कही कि, क्षत्रिय लोग धनुष-बाण इसलिए धारण करते हैं, कि कहीं आर्तनाद न होने पाये।

मीमांसा- अर्थात् किसी को दुख से हाहाकार न करना पड़े। कोई दुख या संकट में हो तो उसकी रक्षा की जाय।

ते चार्ता दण्डकारण्ये मुनयः संशितव्रताः।
मां सीते स्वयमागम्य शरण्यं शरणङ्गताः।।[५]

सीते! दण्डकारण्य में रहने वाले, उत्कृष्ट व्रत का पालन करने वाले,

---

१. वा.रा.अरण्य ९/२९। २. वा.रा.अरण्य ९/३०।
३. वा.रा.अरण्य.१०/२ ४. वा.रा.अरण्य.१०/३
५. वा.रा.अरण्य.१०/४

वे मुनि लोग, बहुत दुखी हैं। मुझे शरण में आये हुए की रक्षा करने वाला समझकर, मेरी शरण में आये।

वसन्तः कालकालेषु वने मूलफलाशनाः।
न लभन्ते सुखं भीरु राक्षसैः क्रूर कर्मभिः।।[१]

हे भीरु! सदा ही वन में रहकर, फल-मूल का आहार करने वाले ये ऋषिगण, दुष्ट क्रूरकर्मा राक्षसों के कारण कभी सुख नहीं पाते हैं।

मीमांसा- यहाँ सीता जी को भीरु संबोधन करने से यह स्पष्ट होता है कि, सीता जी के माध्यम से, भगवान राम ने नारियों में, अपने पति की सुरक्षा के प्रति, स्वाभाविक भय होने के कारण, वे उनकी सुरक्षा के लिए चिन्तित रहती हैं। उसी प्रकार का भय यहाँ सीता में भी दिखाया गया है।

भक्ष्यन्तेराक्षसैभीमैर्नरमांसोपजीविभिः।
ते भक्ष्यमाणा मुनयो दण्डकारण्यवासिनः।।
अस्मानभ्यवपद्येति मामूचुर्द्विजसत्तमाः।[२]

मनुष्यों का मांस खाने वाले, ये राक्षस इन्हें मारकर खा जाते हैं। उन राक्षसों के ग्रास बने, ये दण्डाकारण्यवासी, श्रेष्ठ द्विज मुनि लोगों ने, हमारे पास आकर मुझसे अपना दुख कहा।

मया तु वचनं श्रुत्वा तेषामेवं मुखाच्च्युतम्।।
कृत्वा वचनशुश्रूषां वाक्यमेतदुदाहृतम्।[३]

मैंने उनके मुख से निकले हुए, इस प्रकार के वचनों को सुनकर, उनके द्वारा कहे गये वचनों का सेवन करके, यह वाक्य भीतर से बाहर निकाला—

मीमांसा- यहाँ आये वचन शुश्रूषा शब्द, जिसका अर्थ वचनों का भलीभाँति सेवन, कहे गये शब्दों की तथ्यात्मक गवेषणा है, पर विमर्श करना आवश्यक है- वह इस प्रकार कि राम सीता और लक्ष्मण सहित इन ऋषियों के बीच में बारह वर्षों से रह रहे हैं। उन्होंने देखा है कि, ये ऋषि सारे प्राणियों के हित में लगे हैं, जैसा कि राम स्वयं सुतीक्ष्ण मुनि से वार्ता करते हुए कहते हैं-**''भवान् सर्वत्र कुशलः सर्वभूतहिते रतः।''** आप

---

१. वा.रा.अरण्य.१०/५। २. वा.रा.अरण्य.१०/६.५।
३. वा.रा.अरण्य.१०/७.५।

समस्त प्राणियों के हित में लगे हुए हैं और सब जगह कुशलता चाहते हैं। इस प्रकार जो किसी भी प्राणी का अहित नहीं चाहते, सबका हित-चिंतन करते हैं, सब जगह कुशलता चाहते हैं। ऐसे पवित्रमना इन ऋषियों के जो शत्रु हैं, ऐसे राक्षस कभी भी किसी के हितैषी नहीं हो सकते। हमारे यहाँ रहते हुए, ये इतना कष्ट उठा रहे हैं, हम यह नहीं जान सके, मुझे पहले ही इनकी पीड़ा को समझना और दूर करना चाहिए था। इस प्रकार राम मुनियों द्वारा कही गयी बातों पर भली-भाँति विचार कर, यह वाक्य अपने भीतर से बाहर लाये—

प्रसीदन्तु भवन्तो मे ह्रीरेषा तु ममातुला।[1]
यदीदृशैरहं विप्रैरुपस्थेयैरुपस्थितः।
किं करोमीति च मया व्याहृतं द्विजसनिधौ।।[2]

आप लोग मुझपर प्रसन्न हों! आप लोगों जैसे महान विप्रों, जिनके समीप स्वयं उपस्थित होकर उनकी सेवा करनी चाहिए, ऐसे आप लोगों को मेरे पास आकर अपनी रक्षा की प्रार्थना करनी पड़ रही है। यह मेरे लिए अत्यन्त लज्जा की बात है। ''आप मुझे आज्ञा दें कि, मैं आप लोगों की क्या सेवा करूँ।'' यह बात मैंने उन विप्रों से कही।

मीमांसा—यहाँ राम ने ऋषियों के लिए विप्र शब्द का प्रयोग किया है। भगवान वेद ने विप्र कौन है, इसकी व्याख्या स्वयं की है, वह इस प्रकार है-

''उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत।[3]''

अर्थ—''पर्वतों के टेढ़े-मेढ़े मार्गो पर, गुफाओं में, नदियों के संगम पर, ध्यान करता हुआ विप्र उत्पन्न हुआ।'' अर्थात् ध्यान करते हुए, अपने स्वरूप को जान लेने वाला, शुद्ध आत्मा व्यक्ति ही, विप्र कहा जाता है। और माता-पिता से जन्म लेने के बाद, ध्यान से आत्मबोधरूप, यह उसका दूसरा जन्म होता है। इसलिए उसे द्विज भी कहा जाता है। राम ने यहाँ इन ऋषियों को, इनकी महत्ता को स्पष्ट करते हुए विप्र, और द्विज इन दोनो शब्दों से सम्बोधित किया है। इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि, माँ के गर्भ से जन्म लेकर कोई विप्र या द्विज नहीं होता है। अपितु साधना से वह इस अवस्था को प्राप्त होता है।

---

१. वा.रा.अरण्य.१०/८ २. वा.रा.अरण्य.१०/९। ३. यजुर्वेद मा.सं.२६/१५।

तो राम इस प्रकार के शुद्ध-आत्मा विप्रों की, बिना उनके कहे ही, उनके समीप उपस्थित होकर, उनकी रक्षा रूप सेवा न कर पाने, और उसके लिए स्वयं इन ऋषियों द्वारा उपस्थित होकर प्रार्थना की जाने को, अपने लिए अत्यन्त लज्जा की बात कहते हुए, ऋषियों से निवेदन करते हैं कि, आप मुझे आज्ञा दें, कि मैं आप लोगों की क्या सेवा करूँ। यही तथ्य राम यहाँ सीता को बता रहे हैं कि, मैंने उन ऋषियों से निवेदन किया।

सर्वैरेव समागम्य वागियं समुदाहृता।
राक्षसैर्दण्डकारण्ये बहुभिर्कामरूपिभिः।।
अर्दिता स्म भृशं राम भवान् नस्तत्र रक्षतु।[१]

तब उन सब ने, साथ आकर, अपनी भावना इस प्रकार व्यक्त की– हे राम! दण्डकारण्य में रहने वाले बहुत प्रकार से कपटपूर्ण कामरूपधारी राक्षसों के द्वारा, हमें बहुत कष्ट दिया जा रहा है। वहाँ उनसे आप हमारी रक्षा करें।

होमकाले तु सम्प्राप्ते पर्वकालेषु चानघ।।
धर्षयन्ति सुदुर्धर्षा राक्षसाः पिशिताशनाः।[२]

हे निष्पाप रघुनन्दन! होम का समय आने पर, और पर्व के अवसरों पर, अत्यन्त दुर्धर्ष, मांसभक्षी राक्षस हमें धर दबाते हैं।

राक्षसैर्धर्षितानां च तापसानां तपस्विनाम्।।
गतिं मृगयमाणानां भवान् नः परमा गतिः।[३]

उन राक्षसों से भयाक्रान्त हम तपस्वी-तापस अपने वचने के लिए, आश्रय खोजते रहते हैं, इस प्रकार उन राक्षसों से बचने के लिए भागते हुए, हम लोगों के आप ही परम आश्रय हैं।

मया चैतद्वचः श्रुत्वा कार्त्स्न्येन परिपालनम्।।
ऋषीणां दण्डकारण्ये संश्रुतं जनकात्मजे।[४]

हे जनकात्मजे! दण्डकारण्य में, ऋषियों का यह वाक्य सुनकर, भलीभाँति विचार कर, मैने पूर्ण रूप से उनकी रक्षा करने की प्रतिज्ञा की है।

---

१. वा.रा.अरण्य.१०/१०.५ २. वा.रा.अरण्य.१०/११
३. वा.रा.अरण्य.१०/१२ ४. वा.रा.अरण्य.१०/१३

संश्रुत्य च न शक्ष्यामि जीवमानः प्रतिश्रवम्।।
मुनीनामन्यथा कर्तुं सत्यमिष्टं हि मे सदा। [१]

और अच्छी तरह समझ कर की गयी इस प्रतिज्ञा को मैं अपने जीते जी उलट नहीं सकता हूँ। क्योंकि मुझे सदा सत्य इष्ट है, धर्म इष्ट है।

मीमांसा– जहाँ सत्य है, जहाँ धर्म है, वहीं राम हैं।

इन दुर्धर्ष राक्षसों से युद्ध की घोषणात्मक यह प्रतिज्ञा, बहुत सरलता से पूरी होने वाली नहीं है। अत: राम अपनी इस प्रतिज्ञा की कठिनता को समझाते हुए, यह स्पष्ट करते हैं कि, इस प्रतिज्ञापालन के लिए, मैं कितना प्रतिबद्ध हूँ।

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम् ।।
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः। [२]

हे सीते! इन भयंकर राक्षसों से युद्ध में हो सकता है, कि मैं ही मारा जाऊँ, अथवा लक्ष्मण सहित तुम्हें भी मृत्यु के मुख में जाना पड़े। किन्तु सोच-समझ कर की गयी मेरी यह प्रतिज्ञा, बिना पूर्ण हुए, अब समाप्त नहीं हो सकती, क्योंकि वह मेरी चेतना में है। चेतना कभी मरती नहीं। विशेष रूप से ऊपर बताये गये विप्रों के लिए, ब्राह्मणों के लिए, ऋषियों के लिए, की गयी प्रतिज्ञा। इसलिए अब इन ऋषियों को दुख देने वाले राक्षसों का विनाश निश्चित है।

तदवश्यं मया कार्यमृषीणां परिपालनम्।।
अनुक्तेनापि वैदेहि प्रतिज्ञाय कथं पुनः। [३]

हे वैदेहि! यह तो ऋषियों के बिना कहे ही मुझे करना था। अब तो प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। इसलिए मुझे इन ऋषियों की रक्षा अवश्य ही करनी है।

मीमांसा–राम अपने इन वचनों की गम्भीरता को देखते हुए, इस विषय मे भी सावधान हैं, कि मेरे इन अत्यन्त सशक्त वचनों से, सीता मेरे प्रति अपनी उचित सम्मति देने में, किसी भी प्रकार का अपने में भय का अनुभव न करें, ऐसा चिन्तन कर यह कहा—

मम स्नेहाच्च सौहार्दादिदमुक्तं त्वया वचः।।
परितुष्टोऽस्म्यहं सीते न ह्यनिष्टोऽनुशास्यते। [१]

---

१. वा.रा.अरण्य.१०/१४। २. वा.रा.अरण्य.१०/१५। ३. वा.रा.अरण्य.१०/१६।

"हे सीते! तुमने स्नेह और सौहार्द से जो मुझसे ये वचन कहे हैं, मैं उससे बहुत संतुष्ट हूँ, क्योंकि जो अपना अत्यन्त प्रिय न हो, उसे कोई हितकर उपदेश नहीं करता।

सदृशं चानुरूपं च कुलस्य तव शोभने।
सद्धर्मचारिणी मे त्वं प्राणेभ्योऽपि गरीयसी।।[२]

शोभने! तुम्हारा यह उपदेश तुम्हारे अनुरूप होने के साथ-साथ सर्वथा तुम्हारे कुल के अनुरूप भी है। तुम मेरी सद्धर्मचारिणी हो, और इसलिए मुझे प्राणों से भी प्रिय हो।

इत्येवमुक्त्वा वचनं महात्मा, सीतां प्रियां मैथिलराजपुत्रीम्।
रामो धनुष्मान् सह लक्ष्मणेन, जगाम रम्याणि तपोवनानि।।[३]

वे महात्मा राम, अपनी प्रिया मिथिला राजकुमारी सीता से, इस प्रकार कहकर, धनुष धारण किये हुए अपने भाई लक्ष्मण के साथ, सुन्दर तपो वनों में विचरण करने लगे।

३-"राम का सदाचरणयुक्त तपस्वी और शाकाहारी जीवन"

वन में विचरण करते हुए भगवान राम, जब पंचवटी में निवास करने लगे, तो उनके रूप-यौवन पर मोहित हुई, रावण की बहन सूर्पणखा, कामान्ध होकर छद्म वेश में, उनसे विवाह का प्रस्ताव करती है। और राम के अपने विवाहित होने और अपनी पत्नी सीता को दिखाने के बाद भी जब वह उनसे विवाह का आग्रह करती है, तो उसे लक्ष्मण के पास भेज देते हैं। सूर्पणखा हर प्रकार से प्रयास करने पर भी, जब राम और लक्ष्मण को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाती, तो झुंझलाकर, सीता पर ही भयंकर आक्रमण करती है। जिसे राम अपने हुंकार से रोकते हैं, और लक्ष्मण उनका संकेत पाकर सूर्पणखा के नाक-कान काट देते हैं। तब सूर्पणखा इन राजकुमारों से बदला लेने के लिए, खरदूषण के पास जाती है, और उन्हें सीता को पाने के लिए उकसाते हुए, राम और लक्ष्मण का परिचय इस प्रकार देती है—

---

१. वा.रा.अरण्य.१०/१७। २. वा.रा.अरण्य.१०/१८।
३. वा.रा.अरण्य.१०/१९।

तरुणौ रूपसम्पन्नौ सुकुमारौ महाबलौ।
पुण्डरीकविशालाक्षौ चीरकृष्णाजिनाम्बरौ।।[१]

वन में अत्यन्त रूपवान, बड़े ही सुकुमार, महाबली दो युवा पुरुष आये हैं। उनके नेत्र कमल के समान बड़े-बड़े हैं। उन्होंने साधुओं के पहनने वाले चीर-वल्कल वस्त्र और मृगछाला धारण कर रखा है।

''फल मूलाशिनौ दान्तौ तापसौ ब्रह्मचारिणौ।
पुत्रौ दशरथस्यास्तां भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।।[२]

फल-मूल ही उनका भोजन है, वे जितेन्द्रिय, तपस्वी और ज्ञान का आचरण करने वाले हैं। वे दोनो राजा दशरथ के पुत्र आपस मे भाई-भाई हैं, राम-लक्ष्मण उनका नाम है।

तरुणी रूपसंपन्ना सर्वाभरणभूषिता।
दृष्टा तत्र मया नारी तयोर्मध्ये सुमध्यमा।।[३]''

उनके बीच में सभी आभूषणों से सजी हुई, अत्यन्त रूपवती, सुन्दर मध्य भाग वाली एक युवती स्त्री भी मैंने देखी।

ताभ्यामुभाभ्यां सम्भूय प्रमदामधिकृत्यताम् ।
इमामवस्थां नीताहं यथानाथासती तथा।।[४]

उस स्त्री के कारण ही उन दोनों ने मिलकर मेरी एक अनाथ और कुलटा स्त्री की भाँति ऐसी अवस्था कर दी है।

मीमांसा– इस प्रकार सीता सहित राम और लक्ष्मण को सूर्पणखा शाकाहारी, तेजस्वी, तपस्वी और ज्ञानाचरण करने वाला बताती है। किसी के मन में ऐसा संदेह हो सकता है कि सूर्पणखा मांसाहारी राक्षसों की अपेक्षा शाकाहारी होने से, राम को राक्षसों से कमजोर बताने के लिए, उन्हें शाकाहारी, फल-मूल खाने वाला बताती है। क्योंकि वर्तमान में अधिकांश मांसाहारियों को यह भ्रम होता है कि, शाकाहार करने वालों की अपेक्षा, मांसाहारी अधिक बलवान होते हैं। लेकिन यह सोच गलत और भ्रान्तिपूर्ण है, और सूर्पणखा राम-लक्ष्मण को शक्तिहीन बताने के लिए ऐसा नहीं कहती है। अपितु बल्कल वस्त्रधारी, मृगछाला धारण करने वाले, तपस्वी

---

१. वा.रा.अरण्य.१९/१४। २. वा.रा.अरण्य.१९/१५।
३. वा.रा.अरण्य.१९/१७। ४. वा.रा.अरण्य.१९/१८।

लोग, शाकाहारी होते ही थे, और राम-लक्ष्मण तो शाकाहारी अपनी पैतृक परम्परा से ही हैं। राम स्वयं ही सूर्पणखा के साथ खरदूषण द्वारा राम-लक्ष्मण को दण्ड देने के लिए भेजे गये, १४ राक्षसों से अपना परिचय इस प्रकार देते हैं—

पुत्रौ दशरथस्यावां भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
प्रविष्टौ सीतया सार्धं दुश्चरं दण्डकावनम्।
फलमूलशिनौ दान्तौ तापसौ ब्रह्मचारिणौ।
वसन्तौ दण्डकारण्ये किमर्थमुपहिंस्यथ।।[१]

हम दोनों भाई महाराज दशरथ के पुत्र राम और लक्ष्मण हैं। इस अत्यन्त दुर्गम दण्डक वन में, सीता सहित प्रविष्ट होकर, इन्द्रिय संयम पूर्वक, फलमूल का आहार करते हुए, ज्ञानाचरण पूर्वक, तपस्या में सन्लग्न हैं। इस प्रकार दण्डक वन में रह रहे हम दोनो भाइयों को, तुम लोग क्यों मारना करना चाहते हो?

यहाँ राम ने स्वयं अपने को फल-मूल खाना वाला शाकाहारी बताया है। किसी के मन में ऐसी शङ्का नहीं होनी चाहिए कि, राम ने केवल वनवास काल के लिए मांसाहार का परित्याग किया था। अपितु वह तो जिस रघुकुल में जन्में थे, उस कुल में परम्परा से कोई मांसाहारी था ही नहीं। अपितु उनके राज्य के सारे निवासी भी शाकाहारी थे, राष्ट्रभक्त थे, और साथ ही सभी लोग चारों वेदों का अध्ययन करते थे। जन्म के आधार पर कोई उँच नीच नही था, वेद आदि विद्या पढ़ने के लिए, किसी पर भी कोई प्रतिबंध नहीं था। जैसा कि अयोध्या का वर्णन करते हुए महर्षि वाल्मीकि लिखते हैं।

४-''अयोध्यावासी सभी वर्णों के लोग सत्कर्म करने वाले शाकाहारी और षडङ्ग वेदों के विद्वान थे।''

''तस्मिन् पुरवरे दृष्टा धर्मात्मानो बहुश्रुताः।
नराष्तुष्टाधनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः।।[२]

उस श्रेष्ठ पुरी में रहने वाले सभी लोग प्रसन्न, धर्मात्मा, बहुत विद्वान्, लोभ रहित, सत्यवादी, और अपने ही धन से संतुष्ट रहने वाले हैं।

---

१. वा.रा.अरण्य.२०/७,८। २. वा.रा.बाल. ६/६।

नाल्पसंनिचयः कश्चिदासीत् तस्मिन् पुरोत्तमे।
कुटुम्बी यो ह्यासिद्धार्थोऽगवाश्वधनधान्यवान् ।।[१]

उस उत्तम पुरी में कोई भी ऐसा कुटुम्बी नहीं, जिसके पास उत्कृष्ट वस्तुओं का संग्रह कम हो, जो अपना कार्य सफल न कर पाये, व जिसके पास गाय, बैल, घोड़े, धन-धान्य आदि की कमी हो।

कामी वा न कदर्यो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित् ।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वान् न च नास्तिकः।।[२]

अयोध्या में कहीं भी कोई कामी, कृपण कंजूस, क्रूर, मूर्ख और नास्तिक मनुष्य देखने को भी नहीं मिलता।

सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः।
मुदिताः शीलवृत्ताभ्यां महर्षय इवामलाः।।[३]

सभी नर-नारी धर्मशील, संयमी, प्रसन्नतायुक्त, शील और सदाचरण की दृष्टि से महर्षियों के समान निर्मल है।

नाकुण्डली नामुकुटी नास्त्रग्वी नाल्पभोगवान्।
नामृष्टो नानुलिप्ताङ्गो नासुगन्धश्च विद्यते।।[४]

वहाँ कोई भी कुंडल, मुकुट और माला से हीन नहीं, किसी के पास भोग सामग्री की कमी नहीं, कोई भी ऐसा नहीं, जो स्नान कर स्वच्छ न हो, जिसके अंगों में चंदन का लेप न हुआ हो तथा जो सुगंध से रहित हो।

नामृष्टभोजी नादाता नाप्यनङ्गदनिष्कधृक् ।
नाहस्ताभरणो वापि दृश्यते नाप्यनात्मवान् ।।[५]

मांस आदि अभक्ष्य भक्षण करने वाला, दान न देने वाला, तथा मन को वश में न रखने वाला, कोई भी मनुष्य, वहाँ दिखाई नहीं देता। कोई भी ऐसा पुरुष देखने में नहीं आता, जो बाजूबन्द, निष्क-सोने का सिक्का, तथा हाथ का आभूषण धारण न किये हो।

नानाहिताग्निर्नायज्वा न क्षुद्रो वा न तस्करः ।
कश्चिदासीदयोध्यायां न चावृत्तो न संकरः ।।[६]

अयोध्या में कोई भी ऐसा नहीं, जो आहिताग्नि न हो, अर्थात् जिसके

---

१. वा.रा.बाल.६/७। २. वा.रा.बाल.६/८। ३. वा.रा.बाल.६/९।
४ वा.रा.बाल.६/१०। ५. वा.रा.बाल.६/१२। ६. वा.रा.बाल.६/१३।

घर में आने वाले सभी अतिथियों के हित में अग्नि न जले, भोजन न बने। अथवा जो क्षुद्र, चोर, सदाचार शून्य या दूषित विचारों से युक्त संक्रमित मन वाला हो।

नाषडङ्गविदत्रास्ति नाव्रतो नासहस्रदः।
न दीनः क्षिप्तचित्तो वा व्यथितो वापि कश्चन।।
कश्चिन्नरो वा नारी वा नाश्रीमान् नाप्यरूपवान् ।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नापि राजन्यभक्तिमान् ।।[1]

यहाँ कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो वेद के सभी छः अंगों का विद्वान् न हो। व्रतहीन, सहस्रों से कम दान देने वाला, दीन, विक्षिप्तचित्त, अथवा दुखी भी कोई नहीं है।

अयोध्या में कोई भी स्त्री या पुरुष, ऐसा नहीं दिखता, जो श्रीहीन, रूपरहित तथा राजभक्ति से शून्य हो।

मीमांसा- इस वर्णन से स्पष्ट है कि, अयोध्या में सभी वर्णों के लोग, अपने-अपने वर्ण-कर्मों को करते हुए, धार्मिक कार्यों में और अध्ययन में समान थे। चारो वर्णों के लोग विधिवत, षड्ङ्ग वेदों का अध्ययन करने के बाद ही गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करते थे। सभी अतिथियों का सत्कार करते थे। खान-पान में छूत और अछूत की कल्पना भी नहीं थी। सभी लोग सम्पन्न, रूपवान् और राष्ट्रभक्ति से सम्पन्न थे। किसी के मन में यह कल्पना भी नहीं होनी चाहिए कि अयोध्या में शूद्र वर्ण का कोई व्यक्ति रहता ही नहीं था, इसलिए सभी वेदों के विद्वान थे। इस भ्रान्ति का निवारण अगले श्लोक से पूर्ण रूपेण हो जाता है।

वर्णेष्वग्र्यचतुर्थेषु देवतातिथिपूजकाः।
कृतज्ञाश्च वदान्याश्च शूरा विक्रमसंयुताः।।[2]

चारों वर्णों में प्रथम वर्ण से लेकर चौथे वर्ण तक, अर्थात् ब्राह्मण वर्ण से लेकर शूद्र वर्ण तक, सभी लोग देवता और अतिथि के पूजक हैं। सभी कृतज्ञ, उदार, शूरवीर और पराक्रमी हैं।

मीमांसा- इस वर्णन से स्पष्ट है कि, उस समय जन्मना ऊँच-नीच की भावना ही नहीं थी। सभी अपनी अपनी रुचि के विषयों का अध्ययन करते

१. वा.रा.बाल. ६/१४/१५। २. वा.रा.बाल. ६/१५।

थे। और गृहस्थ जीवन में अपनी-अपनी योग्यता के विषयों को ही आजीविका का साधन बनाते थे। आजीविका के साधनों के आधार पर किसी को ऊँच-नीच नहीं समझा जाता था, क्योंकि सभी अपने-अपने कर्मों को सात्विकता और नैतिकतापूर्वक करते थे। परस्पर प्रेमपूर्वक रहते थे। आवश्यकतानुसार एक दूसरे का सहयोग करते थे।

५-राजधानी अयोध्यापुरी की स्थापना और राज्य की सीमा

सर्वा पूर्वमियं येषामासीत् कृत्स्ना वसुंधरा।
प्रजापतिमुपादाय नृपाणां जयशालिनाम् ।।[१]

यह सम्पूर्ण वसुन्धरा ज़िन प्रजापति मनु से लेकर रामायणकालीन विजयशाली राजाओं के अधिकार में रही।

कोशलो नाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान् ।
निविष्टः सरयूतीरे प्रभूतधनधान्यवान् ।।[२]

कोशल नाम से प्रसिद्ध एक बहुत बड़ा जनपद है। वह पर्याप्त धनधान्य-सम्पन्न है जो सरयू नदी के किनारे बसा हुआ है। वहाँ के लोग सुखी और समृद्धिशाली हैं।

अयोध्यानाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता।
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम् ।।[३]

उसी कोशल राज्य में अयोध्या नाम की समस्त लोकों में विख्यात एक नगरी वसी है। जिस पुरी को मनुष्यों के प्रथम पालक पिता, सम्पूर्ण धरती के प्रथम सम्राट, महाराज मनु ने स्वयं बनवाया और बसाया था।

आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी।
श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्तमहापथा।।[४]

वह श्रीसम्पन्न राजधानी महापुरी बारह योजन लम्बी और तीन योजन विस्तृत है, यहाँ बाहर के जनपदों में जाने के जो विशाल राजमार्ग हैं, वे अन्य मार्गों से अच्छी तरह से सुन्दर वृक्षावलियों से विभूषित होने के कारण अलग जान पड़ते हैं।

---

१. वा.रा.बाल.५/१। २. वा.रा.बाल.५/४।
३. वा.रा.बाल.५/६। ४. वा.रा.बाल.५/७।

राजमार्गेण महता सुविभक्तेन शोभिता।
मुक्तपुष्पावकीर्णेन जलसिक्तेन नित्यशः।।[1]

सुन्दर विभागपूर्वक बने हुए उन राजमार्गों से वह पुरी सुशोभित है। उन मार्गों के किनारे लगे हुए पुष्प वृक्षों से पुष्प बिखरते रहते हैं, और उन्हें नित्य जल से सिक्त किया जाता हैं।

कपाटतोरणवतीं सुविभक्तान्तरापणाम्।
सर्वयन्त्रायुधवतीमुषितां सर्वशिल्पिभिः।।[2]

वह पुरी बड़े-बड़े फाटकों और तोरणों से सुशोभित है। उसके भीतर अलग-अलग वस्तुओं के लिए अलग-अलग बाजार हैं। वहाँ सब प्रकार के यन्त्र और अस्त्र-शस्त्र संचित हैं। उस पुरी में सभी कलाओं के शिल्पी निवास करते हैं।

मीमांसा– इस वर्णन से स्पष्ट है कि, महाराज मनु सम्पूर्ण पृथ्वी के प्रथम सम्राट थे। उन्होंने कोशल जनपद में सरयू के तट पर अयोध्या नाम की पुरी को बनाकर अपनी राजधानी बनाया था। वे सम्पूर्ण प्रजा का अपनी सन्तान की भाँति प्रेमपूर्वक पालन करते थे। इसलिए मनुष्यों के प्रथम पिता कहलाये। उन्होंने ही कृषि विज्ञान व्यवस्था के द्वारा, कृषि आधारित आजीविका की स्थापना की। समाज में विविध कार्यों की दृष्टि से मुख्य चार विभाग में कार्यों को बाँटा, जिसे वर्ण कहा गया। इस तथ्य की पुष्टि इसी वाल्मीकि रामायण में बाली को, उसके प्रश्नों के उत्तर में जो राम द्वारा दिये गये हैं, से भी होती है।

६-राम का बाली को उत्तर कि राम दुष्ट चरित्रहीन की सहायता नहीं लेते अपितु उसे दण्डित करते हैं

बालि द्वारा अपने को निरपराध कहते हुए, अपनी हत्या का आरोप लगाने वाले बालि को, भगवान राम ने इस प्रकार उत्तर दिया—

इक्ष्वाकूणामियं भूमिः सशैलवनकानना।
मृगपक्षिमनुष्याणां निग्रहानुग्रहेष्वपि।।[3]

यह सारी पृथ्वी; पर्वत, वन और काननों सहित इक्ष्वाकुवंशियों की है। अतः वे यहाँ के पशु-पक्षियों और मनुष्यों पर निग्रह करने, अर्थात् उनको

---

१. वा.रा.बाल.५/८। २. वा.रा.बाल.५/१०। ३. वा.रा.किष्किन्धा.१८/६।

गलत कार्यों से रोकने और गलत कार्यों के लिए दंड देने के साथ ही, निरपराध निर्दोष लोगों पर दया करने, उनकी रक्षा करने के अधिकारी हैं।

तां पालयति धर्मात्मा भरतः सत्यवानृजुः।
धर्मकामार्थतत्त्वज्ञो निग्रहानुग्रहे रतः।।[१]

उन राजाओं की परम्परा में, इस समय इस सम्पूर्ण पृथ्वी का पालन, धर्मात्मा भरत, जो अत्यन्त सरल और सत्यनिष्ठ हैं, धर्मपूर्वक कर रहे हैं। धर्म अर्थ और काम के तत्व को जानने वाले, वे धर्मात्मा भरत, दुष्टों के निग्रह और साधुजनों पर अनुग्रह करने में लगे हुए हैं।

नयश्च विनयश्चोभौ यस्मिन् सत्यञ्च सुस्थितम् ।
विक्रमश्च यथा दृष्टः स राजादेशकालवित् ।।[२]

जिसमें नीति, विनय, सत्य और पराक्रम आदि सभी गुण यथावत रूप से देखे जायँ, वही देश, काल और तत्व को जानने वाला राजा होता है, अर्थात् भरत में ये सभी सद्‌गुण विद्यमान हैं।

तस्य धर्मकृतादेशा वयमन्ये च पार्थिवाः।
चरामो वसुधां कृत्स्नां धर्मसन्तानमिच्छवः।।[३]

उन धर्मात्मा भरत की ओर से, हमें और दूसरे राजाओं को, यह आदेश प्राप्त है, कि सम्पूर्ण धरती पर धर्म की वृद्धि और प्रसार के लिए प्रयत्न किया जाय। इसलिए हमलोग धर्म को बढ़ाने के लिए, उसकी स्थापना करने के लिए, सारी पृथ्वी पर विचरण कर रहे हैं।

तस्मिन् नृपतिशार्दूले भरते धर्मवत्सले।
पालयत्यखिलां पृथ्वीं कश्चरेद् धर्मविप्रियम् ।।[४]

ऐसे धर्मवत्सल, राजाओं में श्रेष्ठ महात्मा भरत के सम्पूर्ण पृथ्वी का पालन करते हुए, इस पृथ्वी पर ऐसा कौन है, जो धर्म के विरुद्ध आचरण करे?

ते वयं मार्गविभ्रष्टं स्वधर्मे परमे स्थिताः।
भरताज्ञां पुरस्कृत्य निगृह्णीमो यथाविधि।।[५]

---

१. वा.रा.किष्किन्धा.१८/७।
२. वा.रा.किष्किन्धा.१८/८
३. वा.रा.किष्किन्धा.१८/९
४. वा.रा.किष्किन्धा.१८/१०
५. वा.रा.किष्किन्धा.१८/११

वे हम सब लोग, अपने श्रेष्ठ धर्म में दृढ़तापूर्वक स्थित रहकर, भरत की आज्ञा को आगे रखकर, धर्म मार्ग से भ्रष्ट हुए लोगों को, विधिपूर्वक दंड देते हैं।

त्वं तु संक्लिष्टधर्मश्च कर्मणा च विगर्हितः।
कामतंत्रप्रधानश्च न स्थितो राजवर्त्मनि।।[१]

तुमने सदा ही धर्म को कष्ट पहुँचाया है, और अपने बुरे कर्मों के कारण महात्माओं द्वारा सदैव निन्दित हुए। तूने अपने जीवन में काम को ही प्रधानता दी। राजोचित मार्ग पर तुम कभी स्थिर नहीं रहे।

तदेतत् कारणं पश्य यदर्थं त्वं मया हतः।
भ्रातुर्वर्तसि भार्यायां त्यक्त्वा धर्मं सनातनम् ।।[२]

जिस कारण मैने तुमको मारा है, वह देखो और समझो! तुम सनातन धर्म का त्याग कर, भाई की पत्नी के साथ सहवास करते हो।

अस्य त्वं धरमाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः ।
रुमायां वर्तसे कामात् स्नुषायां पापकर्मकृत् ।।[३]

हे पाप कर्म करने वाले! अपने छोटे भाई महात्मा सुग्रीव के जीते जी, उसकी पत्नी रुमा के साथ काम सम्बंध बनाते रहे, जो तुम्हारी पुत्रवधू के समान है।

न च ते मर्षते पापं क्षत्रियोऽहं कुलोद्गतः।
औरसीं भगिनीं वापि भार्यो वाप्यनुजस्य यः।।
प्रचरेतनरः कामात् तस्य दण्डो वधः स्मृतः।[४]

मैं तेरे पाप को क्षमा नहीं कर सकता हूँ। क्योंकि मैं उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ क्षत्रिय हूँ। जो पुरुष अपनी कन्या, भगिनी, अथवा छोटे भाई की पत्नी से, कामाचरण करता है उसका वध करना ही, उसके लिए उपयुक्त दण्ड माना जाता है।

भरतस्तु महीपालो वयं त्वादेशवर्तिनः ।।
त्वं च धर्मादतिक्रान्तः कथं शक्यमुपेक्षितुम् ।[५]

---

१. वा.रा.किष्किन्धा.१८/११ । २. वा.रा.किष्किन्धा.१८/१८।
३. वा.रा.किष्किन्धा.१८/१९ । ४. वा.रा.किष्किन्धा.१८/२२.५।
५. वा.रा.किष्किन्धा.१८/२३.५।

महात्मा भरत धरती के पालक हैं। हम सब उनके आदेश का अनुपालन करने वाले हैं। तुमने धर्म का अतिक्रमण किया है। फिर हम तुम्हारी उपेक्षा कैसे कर सकते हैं?

गुरुधर्मव्यक्तिक्रान्तं प्राज्ञो धर्मेण पालयन्।।

भरतः कामयुक्तानां निग्रहे पर्यवस्थितः।।[१]

वे बुद्धिमान नरेश धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करते हुए, धर्म का अतिक्रमण करने वाले, स्वेच्छाचारी लोगों को दण्ड देने में लगे हुए हैं।

वयं तु भरतादेशावधिं कृत्वा हरीश्वर।

त्वद्विधान् भिन्नमर्यादान् निग्रहीतुं व्यवस्थिताः।।[२]

हे कपिराज! हमलोग भरत की आज्ञा को ही प्रमाण मानकर, तुम्हारे समान धर्म की मर्यादा का उलङ्घन करने वाले लोगों को, दण्ड देने के लिए सन्नद्ध रहते हैं।

मीमांसा- उक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि, महाराज मनु के उत्तराधिकारी के रूप में, जो कोई भी अयोध्या का राजा होता था, वह सम्पूर्ण पृथ्वी के राजाओं को धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करने का निर्देश जारी करता था। राम के धर्म की रक्षा के लिए वन जाने के बाद, उन्हें वापस लौटा पाने में जब भरत सफल नहीं हुए, तो उन्होंने भी अयोध्या की परम्परा के अनुसार पृथ्वी के सम्पूर्ण राजाओं को धर्मपूर्वक शासन करने का निर्देश भेजा था। जिसकी जानकारी राम को थी। राम ने उसी बात को बाली को कहा। बहुत से लोगों के मन में ऐसा संदेह हो सकता है, कि फिर तो रावण को भी भरत का निर्देश प्राप्त हुआ होगा। विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि, उस समय अयोध्या से निर्देश जाता तो अवश्य था, किन्तु राक्षस उस निर्देश का पालन नहीं करते थे, और मनमानी अपराध कर रहे थे। इस बात की पुष्टि इस बात से भी होती है कि, रावण के अत्याचारों से क्षुब्ध होकर, विभीषण राम की शरण में आया, तो अयोध्या नरेश के उसी अधिकार के आधार पर, राम ने विभीषण का लंकाधिपति के रूप में राजतिलक कर दिया था। जिसे अहंकारी रावण ने अपने अहंकार में गंभीरता से नहीं लिया। राम ने लंका के राजा रावण को मारकर, विभीषण को राजगद्दी पर बैठाकर,

---

१. वा.रा.किष्किन्धा.१८/२४.५। २. वा.रा.किष्किन्धा.१८/२५।

अयोध्या अधिपति की उस मर्यादा को पुनर्स्थापित किया। यही नहीं, राम महाराज मनु की अयोध्या अधिपति की परम्परा में, सर्वश्रेष्ठ राजा थे। अयोध्या के लोग उन्हे अपने प्राणों की भाँति प्यार करते थे, जैसा कि महर्षि वाल्मीकि ने लिखा है—

बहिश्चर इव प्राणाः प्रजानां च हिते रतः ।

प्रजा के हित में लगे हुए राम उस प्रजा के बाहर घूमने वाले प्राणों के समान हैं।

ऐसे धर्मनिष्ठावान् राम, जब अयोध्या के राज सिंहासन पर सीता सहित बैठकर, धर्मपूर्वक प्रजा के पालन में लगे, तो सम्पूर्ण धरती मर्यादापूर्ण सुख-सुविधाओं की सम्पन्नता से आनन्दित हो उठी। महर्षि वाल्मीकि उस रामराज्य का वर्णन इस प्रकार करते हैं।

७-रामराज्य

आजानुलम्बिबाहुः स महावक्षाः प्रतापवान् ।
लक्ष्मणानुचरो रामः शशास पृथिवीमिमाम् ।।[१]

उन राम की भुजायें घुटनों तक लम्बी, वक्षःस्थल विशाल प्रतापवान है। जिनके अनुचर लक्ष्मण हैं, ऐसे राम ने इस पृथ्वी का धर्मपूर्वक शासन किया।

राधवश्चापि धर्मात्मा प्राप्य राज्यमनुत्तमम् ।
ईजे बहुविधैर्यज्ञैः ससुहृज्ज्ञातिबान्धवः।।[२]

उस सर्वश्रेष्ठ राज्य को प्राप्त कर धर्मात्मा राम ने अपने सुहृदों, अपनी संतानों तथा भाई बंधुओं के साथ, अनेक प्रकार के श्रेष्ठ धार्मिक यज्ञों के द्वारा, राष्ट्र की उपासना किया।

न पर्यदेवन् विधवा न च व्यालकृतं भयम् ।
न व्याधिजं भयं चासीद् रामे राज्यं प्रशासति।।[३]

राम के राज्य करते हुए कभी कहीं विधवाओं का विलाप नहीं सुनाई पड़ता। सर्प आदि दुष्ट जन्तुओं का भय नहीं है।

---

१. वा.रा.युद्ध.का.१२८/९६। २. वा.रा.युद्ध.का.१२८/९७।
३. वा.रा.युद्ध.का.१२८/९८

निर्दस्युरभवल्लोको नानर्थं कस्यचिद् स्पृशत् ।
न च स्म वृद्धा बालानां प्रेतकार्याणि कुर्वते।।[१]

सारा संसार लुटेरों और चोरों के भय से मुक्त हो गया। कहीं कोई किसी प्रकार के अनर्थ का स्पर्श नहीं करता। कहीं भी वृद्धों को बालकों के अन्त्येष्टि संस्कार नहीं करने पड़ते, अर्थात् कहीं भी बालमृत्यु नहीं होती।

सर्वं मुदित मेवासीत् सर्वो धर्मपरोऽभवत् ।
राममेवानुपश्यन्तो नाभ्यहिंसन् परस्परम् ।।[२]

सभी लोग प्रसन्न हैं, सभी धर्मपरायण हो गये, वे राम के आदर्शों को ही निरन्तर देखते हुए एक दूसरे पर कभी संदेह नही करते, और इसलिए कभी कोई किसी को दुख नहीं देता।

आसन् वर्ष सहस्राणि तथा पुत्र सहस्त्रिणः।
निरामया विशोकाश्च रामे राज्यं प्रशासति।।[३]

लोग लम्बी आयु तक जीवित रहते हैं, और अनेक संतानो से युक्त होते हैं। राम के राज्य में, राम के राज्य करते हुए, सभी लोग रोग रहित और शोक रहित हो गये।

रामो रामो राम इति प्रजानामभवन् कथाः।
रामभूतं जगद्भूद् रामे राज्यं प्रशासति ।।[४]

राम के राज्य करते हुए, प्रजा में केवल राम की, राम की और राम की ही कथा हो रही है। राम के राज्य करते हुए, सारा जगत राममय हो गया है।

नित्यमूला नित्यफलास्तरवस्तत्र पुष्पिताः।
कामवर्षी च पर्जन्यः सुखस्पर्शश्च मारुतः।।[५]

राम के राज्य में वृक्षों की जड़ें गहराई तक स्थिर हैं। वे वृक्ष नित्य फल और फूल से सम्पन्न हैं। बादल अपेक्षा अनुसार वर्षा करते हैं। हवायें सुखद स्पर्श का अनुभव कराती हुई बहती हैं।

ब्राह्मणः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा लोभ विवर्जिताः।
स्वकर्मसु प्रवर्तन्ते तुष्टाः स्वैरेव कर्मभिः।।[६]

---

१. वा.रा.युद्ध.का.१२८/९९ । २. वा.रा.युद्ध.का.१२८/१०० ।
३. वा.रा.युद्ध.का.१२८/१०१ । ४. वा.रा.युद्ध.का.१२८/१०२ ।
५. वा.रा.युद्ध.का.१२८/१०३ । ६. वा.रा.युद्ध.का.१२८/१०४ ।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी लोग लोभरहित हैं। सभी अपने अपने कार्यों में लगे हुए हैं, और अपने कार्य से संतुष्ट हैं।

आसन् प्रजा धर्मपरा रामे शासति नानृताः।
सर्वे लक्षण सम्पन्नाः सर्वे धर्म परायणाः।।[1]

राम के शासन करते हुए, सारी प्रजा धर्म परायण हो गयी। कहीं भी मिथ्याचरण नहीं रह गया। सब लोग अच्छे लक्षणों से सम्पन्न और धर्म के आश्रित हो गये।

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमान् रामो राज्यमकारयत।।[2]

सहस्र कहे जाने वाले दश वर्ष, और शत कहे जाने वाले दश वर्ष तक भाइयों के साथ श्रीमान राम ने राज्य किया।

मीमांसा—इसके दो अर्थ निकलते हैं। पहला यह कि वर्ष देश का नाम है। तो सहस्र का अर्थ राम के राष्ट्र के अन्तर्गत आने वाले बड़े देशों से है। ऐसा जान पड़ता है, कि सम्पूर्ण पृथ्वी पर फैले हुए राज्य को राम ने दश बड़े देशों के रूप में शासन की दृष्टि से बाँट रखा था। और इन बड़े-बड़े १० देशों में से प्रत्येक को पुनः शत कहे जाने वाले दश-दश राज्यों में बाँट रखा था। सबका केन्द्रीय शासन अयोध्या था।

इसका दूसरा अर्थ जो प्रायः लोगों में प्रचलित है, वह यह कि राम ने दश सहस्र वर्ष और हजार वर्ष कुल मिलाकर ग्यारह हजार वर्षों तक शासन किया। किन्तु यह अर्थ वेदों में मनुष्य की आयु सौ वर्ष माने जाने के कारण सटीक नहीं बैठता। इसलिए यहाँ सहस्र का बड़ा और वर्ष का अर्थ देश करना उपयुक्त जान पड़ता है।

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं राज्ञां च विजयावहम्।
आदिकाव्यमिदं चार्षं पुरा वाल्मीकिना कृतम्।।[3]

यह ऋषि के द्वारा कहा गया आदि काव्य रामायण है जिसे पहले पहल वाल्मीकि ने बनाया। यह ऋषिप्रोक्त रामायण धर्म, यश और आयु को बढ़ाने वाला, तथा राजाओं को विजय देने वाला है।

---

१. वा.रा.युद्ध.का.१२८/१०५। २. वा.रा.युद्ध.का.१२८/१०६
३. वा.रा.युद्ध.का.१२८/१०७

यः श्रृणोति सदालोके नरः पापात् प्रमुच्यते।
पुत्रकामश्च पुत्रान् वै धनकामो धनानि च।।[१]

जो कोई मनुष्य इस लोक में सदा इस रामायण का श्रवण करता है, वह पापों से मुक्त हो जाता है। पुत्र की कामना वाला पुत्र प्राप्त करता है, और धन की कामना वाला धन प्राप्त करता है।

राघवेण यथा माता सुमित्रा लक्ष्मणेन च।
भरतेन च कैकेयी जीवपुत्रास्तथा स्त्रियः।।[२]

इस रामायण काव्य को सुनने वाली स्त्रियाँ, वैसे ही जीवित पुत्रों की मातायें होंगी, जैसे राम से कौशल्या माता हुईं। लक्ष्मण से सुमित्रा माँ हुईं, और भरत से कैकेयी माँ हुईं। इसी प्रकार, इस रामायण को सुनने वाली स्त्रियाँ, जीवित पुत्रों की मातायें होंगी।

मीमांसा– इस श्लोक से स्पष्ट लगता है कि, जिन स्त्रियों की संतानें राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न जैसे उन्नत आदर्शों में श्रद्धा नहीं करतीं, वे मानो जीवित संतानें नहीं हैं, बल्कि उनकी माताओं ने मुर्दा पैदा किया है।

भविष्यन्ति सदानन्दाः पुत्रपौत्रसमन्विताः।
श्रुत्वा रामायणमिदं दीर्घमायुश्च विन्दति।।[३]

ऐसी स्त्रियाँ इस रामायण को सुनकर, सदा आनन्दित रहती हुई, पुत्र और पौत्रों से युक्त होंगी, और लम्बी आयु प्राप्त करेंगी।

रामायणमिदं कृत्स्नं श्रृण्वतः पठतः सदा।
प्रीयते सततं रामः स हि विष्णुः सनातनः।।

इस सम्पूर्ण रामायण को सदा पढ़ने, और सुनने वाले लोगों पर सनातन विष्णु स्वरूप भगवान राम का स्नेह प्रेम निरन्तर बना रहता है।

८- राम को चरित्रहीन, मांसाहारी, मद्यपी, व्यभिचारी दिखाने के लिए राम, रामायण, वाल्मीकि और भारत द्रोहियों ने रामायण में जोड़ी ''सीता निष्कासन की मिथ्या कथा।''

इस प्रकार भगवान राम के द्वारा स्थापित राम राज्य के जीवन-मूल्यों

---

१. वा.रा.युद्ध.का.१२८/१०८। २. वा.रा.युद्ध.का.१२८/११०।
३. वा.रा.युद्ध.का.१२८/१११। ४. वा.रा.युद्ध.का.१२८/११९।

को जिन्हें महर्षि वाल्मीकि ने गाया। उन श्रेष्ठतम जीवन मूल्यों को आवृत्त करने के लिए, छिपाने के लिए, राम के प्रति, महर्षि वाल्मीकि के प्रति, भारत देश के प्रति एवं भारतीय संस्कृति के प्रति शत्रु भाव से युक्त राक्षसी मानसिकता के लोग, कुछ जन्मना जातिवादी, शरीराहंवादी मानसिकता के लोगों ने, उत्तरकाण्ड नाम से झूठी मिथ्या कथा लिखकर रामायण में, उसी के अंग रूप से छलपूर्वक जोड़ दी जिसमें उन्होंने वाल्मीकि ऋषि द्वारा स्थापित राम के, और रामराज्य के जीवन मूल्यों को, एक-एक कर उनके विपरीत कथायें लिखकर, नष्ट करने का अत्यन्त घृणित प्रयास किया है। इस क्रम में सर्वप्रथम महर्षि वाल्मीकि द्वारा जिन राक्षसों को दुष्ट अधार्मिक और सम्पूर्ण मानवता का शत्रु लिखा गया है, इस उत्तर काण्ड का प्रारम्भ उन राक्षसों की महिमा बतानें से शुरू होता है। महर्षि वाल्मीकि ने अपनी रचना में यह कहा कि, राम के राज्य में, राम के आदर्श को देखते हुए, लोग एक दूसरे पर संदेह नहीं करते, और न ही एक दूसरे को किसी प्रकार से कष्ट पहुचाते हैं। इस तथ्य के विपरीत इस उत्तर काण्ड में सारे अयोध्या वासी ही, सीता के चरित्र के प्रति शंकाकुल दिखाये गये हैं। राम के प्रति भी सीता को अपने साथ पत्नी रूप में स्वीकार करने को अनुचित मानते हैं। ऐसा क्षेपककार द्वारा लिखा गया है। क्षेपककार अपनी इस फर्जी कथा की रचना करते हुए लिखता है कि, जब राम ने दूत भद्र से यह पूछा कि, अयोध्या में लोग आपस में किस प्रकार की बातें करते हैं? तो उसने बताया कि लोग समुद्र पर पुल बाँधने, लंका विजय करने की तो बड़ाई करते हैं, किन्तु सीता को पत्नी रूप में रखने को बहुत खराब मानते हैं। उत्तर काण्ड में लिखे शब्दों को देखें –

हत्वा च रावणं संख्ये सीतामादाय राघवः।
अमर्षं पृष्ठतः कृत्वा स्ववेश्म पुनरानयत् ॥[१]

युद्ध में रावण को मारकर, राघव राम सीता को अपने घर में ले आये। उनके भीतर सीता के चरित्र को लेकर जो अमर्ष, जो रोष होना चाहिए था, उसे पीठ पीछे कर दिया। अर्थात् सीता के प्रति उनमें रोष और घृणा पैदा नहीं हुई, यह आश्चर्यजनक है।

---

१. उत्तरका.४३/१६।

कीदृशं हृदये तस्य सीतासम्भोगजं सुखम् ।
लङ्कामारोप्य तु पुरा रावणेन बलाद्धृताम् ।।[१]

उनके हृदय में सीता से संभोग जनित सुख कैसा लगता होगा? जो सीता बलपूर्वक रावण द्वारा अपने अंक में लेकर हर ली गयी थी।

लङ्कामपि पुरा नीतामशोकवनिकां गताम् ।
रक्षसां वशमापन्नां कथं रामो न कुत्स्यति।।[२]

फिर वह उन्हें लंका में भी ले गया और वहाँ उसने उनको अपने अन्तःपुर के क्रीड़ाकानन अशोक वनिका में रखा, इस प्रकार राक्षसों के वश में रहकर बहुत दिनों तक वही रही, तो भी राम उनसे घृणा क्यों नही करते?

अस्माकमपि दारेषु सहनीयं भविष्यति।
यथा हि कुरुते राजा प्रजास्तमनुवर्तते ।।[३]

अब हम लोगों को भी अपनी पत्नियों की ऐसी बातें सहनी पड़ेंगी। क्योंकि राजा जैसा करता है, प्रजा भी उसका अनुसरण करने लगती है।

एवं बहुविधा वाचो वदन्ति पुरवासिनः।
नगरेषु च सर्वेषु राजन् जनपदेषु च।।[४]

हे राजन् ! इस प्रकार से सारे नगर में और सारे जनपद में, पुरवासी लोग इस प्रकार की बहुत-सी बातों को बोलते हैं।

तस्यैवं भाषितं श्रुत्वा राघवः परमार्तवत् ।
उवाच सुहृदः सर्वान् कथमेतद् वदन्तु माम् ।।[५]

उस भद्र के इस प्रकार के कथन को सुनकर, राघव ने अत्यन्त पीड़ित होकर, सभी सुहृदों से पूछा—आप लोग भी मुझे बतायें कि, यह कहाँ तक ठीक है?

सर्वे तु शिरसा भूमावभिवाद्य प्रणम्य च।
प्रत्यूचू राघवं दीनमेवमेतन्न संशयः।।[६]

तब उन सब ने अपना सिर भूमि पर रखकर, अभिवादन और प्रणाम करके, राघव को दीन वाणी में कहा, यह ऐसा ही है, ''इसमें कोई संशय नही है।''

---

१. उत्तरका.४३/१७। २. उत्तरका.४३/१८। ३. उत्तरका.४३/१९।
४. उत्तरका.४३/२०। ५. उत्तरका.४३/२१। ६. उत्तरका.४३/२२।

श्रुत्वा तु वाक्यं काकुत्स्थः सर्वेषां समुदीरितम् ।
विसर्जयामास तदा वयस्याञ्छत्रुसूदनः॥[१]

उन सब के द्वारा इस प्रकार कहे गये वाक्य को सुनकर, ककुत्स्थ कुलनंदन शत्रुसूदन राम ने सुहृदों की उस सभा को विसर्जित कर दिया।

मीमांसा- महर्षि वाल्मीकि ने युद्ध काण्ड की समाप्ति में, सीता सहित राम के गद्दी पर बैठकर राज्य करते हुए, जिस राम राज्य में कहीं भी किसी को परस्पर संदेह न करने, और किसी को दुख न पहुँचाने की बात, राम को अपना आदर्श मानने के कारण लिखा था। यहाँ इस प्रक्षिप्त छलपूर्वक वाल्मीकि रामायण में जोड़े उत्तर काण्ड में क्षेपककार, राम और सीता पर ही सब लोगों में संदेह पैदा होने की बात लिख रहा है। और सभी पुरवासी राम से पहले ही, इस तथ्य को जानते हुए भी भय वश राम से छिपाते हैं। ऐसा मिथ्या आरोप भर रहा है।

केवल इतना ही नहीं है, जहाँ वाल्मीकि के राम, फल मूल खाने वाले, तपस्वी, मन से भी पराई स्त्री के प्रति काम भाव से न देखने वाले, सत्यनिष्ठ और धर्मनिष्ठ हैं। वहीं इस प्रक्षिप्त उत्तर काण्ड में क्षेपककार राम को ठीक इसके विपरीत, सत्य में निष्ठा न रखने वाला, अत्यन्त कीर्तिलोलुप, यहाँ तक कि कीर्ति प्राप्ति के लिए, कुछ भी असत्यनिष्ठ और अधार्मिक कर्म कर सकते हैं। ऐसा दिखाया है। जैसा कि उत्तर काण्ड में सबकुछ सत्य जानते हुए भी, सीता के कारण, अपनी उक्त प्रकार की बदनामी सुनकर, इस क्षेपककार की झूठी कथा के राम कहते हैं-

अन्तरात्मा च मे वेत्ति सीतां शुद्धां यशस्विनीम् ।
ततो गृहीत्वा वैदेहीमयोध्यायामहमागतः॥[२]

मैं अन्तरात्मा से जानता हूँ कि, ''सीता शुद्ध चरित्र वाली यशस्विनी हैं। इसलिए मैं वैदेही सीता को अयोध्या लाया।''

अयं तु मे महान् वादः शोकश्च हृदि वर्तते।
पौरापवादः सुमहान्स्तथा जनपदस्य च॥[३]

परन्तु यह बड़ा अपवाद, पुरवासियों और जनपद वासियों में मेरी निन्दा के रूप में फैला है। इसके लिए मेरे हृदय में बड़ा शोक है।

---

१. उत्तरका.४३/२३। २. उत्तरका.४५/१०। ३. उत्तरका.४५/११।

अकीर्तियस्य गीयेत लोके भूतस्य कस्यचित् ।
पतत्येवाधमाँल्लोकान् यावच्छब्दः प्रकीर्त्यते।।[१]

जिस किसी भी प्राणी की अपकीर्ति संसार में फैलती है, चर्चा का विषय बन जाती हैं, वह अधम लोकों में गिर जाता है, और तब तक वो वहीं अधम लोक में ही पड़ा रहता है, जब तक उसके इस अपयश की चर्चा लोगों में रहती है।

अकीर्तिर्निन्द्यते देवैः कीर्तिर्लोकेषु पूज्यते।
कीर्त्यर्थं तु समारम्भः सर्वेषां सुमहात्मनाम् ।।[२]

देवगण अकीर्ति की निन्दा करते हैं, और लोक में कीर्ति की ही पूजा होती है। सभी श्रेष्ठ महात्माओं का सारा शुभ कार्य, उत्तम कीर्ति की स्थापना के लिए ही होता है।

मीमांसा– इस प्रकार जो राम सम्पूर्ण रामायण में सत्यसंध और सत्यनिष्ठ शब्दों से संबोधित हैं। स्वयं राम ने, ऋषियों के प्रसंग में अपने को सत्यप्रतिज्ञ कहा है। यहाँ तक कि अपने जीते जी, वह सत्य का परित्याग नहीं कर सकते। देखें राम की वहाँ स्वयं की गयी प्रतिज्ञा—

संश्रुत्य न शक्ष्यामि जीवमानः प्रतिश्रवम् ।
मुनीनामन्यथा कर्तुं सत्यमिष्टं हि मे सदा।।[३]

सोच-समझ कर की गयी अपनी प्रतिज्ञा को, मैं जीते जी उलट नहीं सकता हूँ। वह भी मुनियों के विषय में, मैं अन्यथा सोच भी नहीं सकता हूँ। क्योंकि मुझे सदा सत्य इष्ट है। अर्थात् राम किसी भी प्रकार का सम्मान पाने के लिए, कभी, किसी भी परिस्थिति में, सत्य का परित्याग नहीं कर सकते।

उनकी इसी सत्यनिष्ठा को, उक्त श्लोकों के द्वारा क्षेपककार नष्ट करना चाहता है, केवल इतना ही नहीं, राम अपनी सत्य निष्ठा की दृढ़ता के लिए जिस चरम अवस्था तक जाने को कहते हैं, यह दुष्ट क्षेपककार, उसी श्लोक को बदलकर अपने कल्पित राम के मुँह से इस प्रकार दर्शाता है—

अप्यहं जीवितं जह्यां युष्मान् वा पुरुषर्षभाः।
अपवादभयाद् भीतः किं पुनर्जनकात्मजाम् ।।[४]

---

१. उत्तरका.४५/१२। २. उत्तरका.४५/१३।
३. बा.रा.अ.१०/१७। ४. उत्तर.का.४५/१४।

हे श्रेष्ठ पुरुषो! मैं अपवाद के भय से अपना जीवन त्याग सकता हूँ, आत्महत्या कर सकता हूँ, तुम लोगों का भी परित्याग कर सकता हूँ, फिर सीता को त्याग देना तो सामान्य बात है।

मीमांसा– इस प्रकार यह क्षेपककार राम को कीर्तिलोलुप तो दिखा ही रहा है, साथ ही यह भी दर्शाना चाहता है कि, राम शुद्धचरित्रा सीता का सम्मान, अपने सभासदों से भी कम करते हैं। उनकी दृष्टि में स्त्रियों की कोई इज्जत नहीं है।

किंतु इसके विपरीत राम की सत्यनिष्ठा का वह शिखर श्लोक जो महर्षि वाल्मीकि ने लिखा है, वह इस दुष्ट क्षेपककार की मिथ्या रचना को ध्वस्त करने में पूर्ण सक्षम है। देखें वह मूल श्लोक—

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां च सीते सलक्ष्मणाम् ।।
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः।[१]

राम अपनी इस प्रतिज्ञा की कठिनता को समझाते हुए कहते हैं कि, इन दुर्धर्ष राक्षसों से युद्ध की यह घोषणात्मक प्रतिज्ञा बहुत सरलता से पूरी हाने वाली नहीं है। हे सीते! इन भयंकर राक्षसों से युद्ध में हो सकता है, मैं ही मारा जाऊँ, अथवा लक्ष्मण सहित तुम्हें भी मृत्यु के मुख में जाना पड़े। किन्तु सोच-समझ कर की गयी मेरी यह प्रतिज्ञा अब समाप्त नहीं हो सकती। क्योंकि वह मेरी चेतना में है। चेतना कभी मरती नहीं। इसलिए इन ऋषियों को सताने वाले राक्षसों का विनाश निश्चित है।

तद्वश्यं मया कार्यमृषीणां परिपालनम् ।।
अनुक्तेनापि वैदेहि प्रतिज्ञाय कथं पुनः।[२]

हे वैदेहि! यह तो ऋषियों के बिना कहे ही मुझे करना था। अब तो प्रतिज्ञा कर ली है, इसलिए मुझे इन ऋषियों की रक्षा अवश्य ही करनी है।

मीमांसा- इस प्रकार राक्षसी मानसिकता का दुष्ट क्षेपककार अपनी कूट रचना के द्वारा राम के चरित्र में नृशंसता, कीर्तिलोलुपता, मिथ्याचरण की स्थापना करने के लिए, भगवान राम के द्वारा ही सत्यनिष्ठा में कहे गये श्लोकों को बदलने का घृणित प्रयास करता है। केवल इतना ही नहीं, अपितु फल-मूल खाने वाले जितेन्द्रिय राम को उत्तरकाण्ड में क्षेपककार

---

१. वा.रा.अरण्य.१०/१५। २. वा.रा.अरण्य.१०/१६।

मद्यपी, मांसाहारी और व्यभिचारी लिखता है। सीता-परित्याग की इस मिथ्या कथा में सीता-त्याग के एक दिन पूर्व अपनी कूटरचित रचना में इस प्रकार दर्शाता है कि, दोपहर बाद—

बह्वासनगृहोपेतां लतागृहसमावृताम् ।
अशोकवनिकां स्फीतां प्रविश्य रघुनन्दनः।।[1]

बहुत से आसनों, सुन्दर घरों, लता गृहों से अच्छी तरह आवृत्त, विशाल अशोक वाटिका में रघुनन्दन राम प्रवेश करके

आसने च शुभाकरे पुण्यप्रकरभूषिते ।
कुथास्तरसंस्तीर्णे रामः संनिषषाद ह।।[2]

सुन्दर आकार वाले अनेक प्रकार के पुष्पों से सजाये गये, कालीन बिछे हुए, एक आसन पर सीता सहित राम बैठे।

सीतामादाय हस्तेन मधु मैरेयकं शुचि।
पाययामस काकुत्स्थ सचीमिव पुरन्दरः।।[3]

उन ककुत्स्थ कुलभूषण राम ने, अपने हाथ में शुद्ध मधु मैरेयक-शराब लेकर उसी प्रकार से सीता को पिलायी, जैसे इन्द्र शची को पिलाते हैं।

मीमांसा- इस श्लोक के अनुसार राम आदि शराब तो पीते ही थे, और केवल पीते ही नहीं थे, अपितु शराब पवित्र और मधुर होता है, और उसे देवता लोग भी पीते हैं। ऐसा यह मद्यपायी, मांसाहारी, व्यभिचारी, क्षेपककार अपनी इस कूट रचना में लिखता है। अपनी इस दुश्चरित्रता को राम के अनुसार दिखाने की इच्छा से वह आगे लिखता है कि—

मांसानि सुमृष्टानि फलानि विविधानि च।
रामस्याभ्यवहारार्थं किंकरास्तूर्णमाहरन् ।।[4]

उस समय राम को खाने के लिए, उनके किंकर तुरंत ही नानाप्रकार के मांस और फल ले आये।

उपानृत्यञ्श्च राजानं नृत्यगीतविशारदाः।
अप्सरोरगसंघाश्च किन्नरीपरिवारिताः।।[5]

---

१. उत्तरका.४२/१६ । २. उत्तरका.४२/१७ । ३. उत्तरका.४२/१८।
४. उत्तरका.४२/१८ । ५. उत्तरका.४२/१९ ।

उस समय राजा राम के समीप, नाच और गाने की कला में निपुण, अप्सराएं, नागकन्याएं किन्नरियों के साथ मिलकर नाचने लगीं।

दक्षिणा रूपवत्यश्च स्त्रियः पानवशङ्गताः।।
उपानृत्यञ्च काकुत्स्थ नृत्यगीतविशारदाः।।[१]

नाचने-गाने मे दक्ष, मद्यपान से होने वाले मद से मदान्ध हुई, बहुत सी रूपवती स्त्रियाँ, ककुत्स्थ नन्दन राम के अत्यन्त निकट नाचने लगीं।

मनोऽभिरामा रामास्ता रामो रमयता वरः।
रमयामास धर्मात्मा रामं परमभूषिताः।।[२]

तब मन को अच्छी लगने वाली, आभूषणों से सजी हुई, उन रमणियों के साथ, रमण करने वालों में श्रेष्ठ राम ने रमण किया।

इस प्रकार से यह दुष्ट क्षेपककार, महर्षि वाल्मीकि-लिखित, पराई स्त्रियों की इच्छा करने, उनके साथ रमण करने को, जिसे महा अनर्थ के रूप में दिखाया था उसे ही यह दुष्ट क्षेपककार, उस अधर्म को धर्म रूप में स्थापित करने के लिए पापियों, व्यभिचारियों को धर्मात्मा दिखाने के लिए, धर्मात्मा राम ने ही ऐसा किया, इस प्रकार लिखा, जो वाल्मीकि की स्थापित मान्यता के ठीक विपरीत है। पुनः देखें सीता के मुख से कही गयी राम के आदर्श की मूल स्थापना—

कुतोऽभिलषणं स्त्रीणां परेषां धर्मनाशनम् ।
तव नास्ति मनुष्येन्द्र न चाभूत्ते कदाचन ।।[३]

हे मनुष्यों में श्रेष्ठ राम! दूसरों के धर्म को नष्ट करने वाली, पर स्त्रियों की चाह, आप में कहाँ हो सकती है? वह आप में ना तो है, और न पहले कभी थी।

मनस्यापि तथा राम न चैतद् विद्यते क्वचित् ।
स्वादारनिरतश्चैव नित्यमेव नृपात्मज।।[४]

हे राम! आप के मन में इस प्रकार की परस्त्री की चाह रूप दूषित अभिलाषा किंचित् मात्र भी नहीं है। हे राजपुत्र! आप अपनी पत्नी में ही नित्य अनुराग रखने वाले हैं।

---

१. उत्तरका.४२/२०। २. उत्तरका.४२/२१ ।
३. अर.का.९/४ । ४. अर.का.९/५ ।

धर्मिष्ठः सत्यसन्धश्च पितुर्निर्देशकारकः।
त्वयि धर्मश्च सत्यञ्च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।।[१]

आप पिता के निर्देश का पालन करने वाले, सत्य का कभी भी परित्याग न करने वाले, धर्मात्मा हैं। आप में धर्म और सत्य सभी सद्गुणों के साथ प्रतिष्ठित हैं।

मीमांसा- इस प्रकार यह स्पष्ट है कि महर्षि वाल्मीकि ने देखा और लिखा कि राम निरन्तर सारे प्राणियों के हित में ही लगे रहते हैं, किंतु यह दुष्ट क्षेपककार उनकी इस महान जनपोषक भावना के विपरीत लिखता है कि, प्रतिदिन ही दिन के दूसरे आधे भाग में, राम मद्य पीकर, मांस आदि अभक्ष्य भक्षण कर अन्तःपुर की अशोक वनिका में अनेक सुन्दर स्त्रियों के साथ रमण करते थे। देखें विद्वान् लोग धूर्त क्षेपककार की यह कलुषित रचना—

पूर्वाह्णे धर्मकार्याणि कृत्वा धर्मेण धर्मवित् ।
शेषं दिवसभागार्धमन्तः पुरगतोऽभवत्।।[२]

पूर्वाह्न में सभी धर्म कार्य पूर्ण करके, धर्म के ज्ञाता राम शेष दिवस के आधे भाग में, अन्तःपुर में चले जाते थे।

मीमांसा- यह अन्तःपुर ऊपर वर्णित की गयी वही अशोक वनिका है, जिसमें राम मद्य पीकर मांस आदि अभक्ष्य भक्षण कर, बहुत-सी सुन्दर स्त्रियाँ, जो मद्य पीकर मदान्ध हो जाती थीं, तब राम उनके साथ रमण करते थे। विद्वानों! चिन्तन करो कि, राम के विरुद्ध इससे भी घृणित झूठ और कुछ भी लिखा जा सकता है क्या? यह चिन्तनीय है कि, ऐसी घृणित बातों को हम वाल्मीकि की लिखी हुई मानकर स्वीकार किये बैठे हैं? इन घृणित क्षेपकों को पवित्र रामायण से निकालने का कोई उपक्रम नहीं करते।

यहाँ क्षेपककार मद्य पीकर मांस खाने की बात लिख रहा है। वहाँ वाल्मीकि कहते हैं कि, कोई भी अयोध्यावासी मांस आदि अभक्ष्य-भक्षण नहीं करता। देखें यह श्लोक—

तस्मिन् पुरवरे हृष्टाः धर्मात्मानो बहुश्रुताः।
नराष्तुष्टा धनैः स्वैः स्वैरलुब्धा सत्यवादिनः।[३]

---

१. अर.का.९/६। २. उ.का.४२/४७। ३. बा.रा.बाल.का.६/६।

उस श्रेष्ठ पुरी में रहने वाले लोग धर्मात्मा, बहुत विद्वान्, स्वस्थ, अपने-अपने ही धन से संतुष्ट रहने वाले, लोभ रहित, और सत्यवादी थे।

नामृष्टभोजी नादाता नाप्यनङ्गदनिष्कधृक् ।
नाहस्ताभरणो वापि दृश्यते नाप्यनात्मवान्।। [१]

उस अयोध्या पुरी में कोई भी मांसभक्षी नहीं था। कोई भी दान न देने वाला, सोने के आभूषणों से रहित अनात्मवान् नहीं था। अर्थात् सब लोग धर्मात्मा थे।

जैसा कि महर्षि वाल्मीकि ने स्पष्ट किया है कि, रावण की बहन सूर्पणखा भी राम को फल-मूल खाने वाला कहती है—

फलमूलाशिनौ दान्तौ तापसौ ब्रह्मचारिणौ।
पुत्रौ दशरथस्यास्तां भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।। [२]

वे दोनों फल-मूल खाने वाले, जितेन्द्रिय, तपस्वी, ज्ञानाचरण करने वाले, दशरथ के पुत्र, परस्पर भाई राम और लक्ष्मण हैं।

मीमांसा- किसी के मन में यह संदेह नहीं होना चाहिए कि, सूर्पणखा तो राक्षसी थी, अपने भाइयों खरदूषण को भड़काने के लिए और फल मूल खाने वाला कहकर राम को राक्षसों की अपेक्षा कमजोर दिखानें के लिए सूर्पणखा राम-लक्ष्मण को फल-मूल खाने वाला कहती है। क्यों कि, केवल सूर्पणखा ही राम को फल-मूल खाने वाला नहीं कहती, अपितु राम स्वयं भी कहते हैं-

पुत्रौ दशरथस्यावां भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
प्रविष्टौ सीतया सार्धं दुश्चरं दण्डकावनम् ।।
फलमूलाशिनौ दान्तौ तापसौ ब्रह्मचारिणौ।
वसन्तौ दण्डकारण्ये किमर्थमुपहिंस्यथ ।। [३]

हे राक्षसो! हम दोनों भाई दशरथ के पुत्र, राम और लक्ष्मण हैं। सीता के सहित अत्यन्त कठिन इस दण्डक वन में प्रवेश किये हैं। फल मूल खाने वाले, जितेन्द्रिय, तपस्वी, ज्ञानाचरण करने वाले, हम दोनों दण्डक वन में रहने वाले भाइयों को तुम लोग क्यों मारना चाहते हो?

---

१. बा.रा.बाल. का.६/११। २. बा.रा. अर.१९/१५

३. बा.रा. अर.२०/७/८

इतना ही नहीं, शत्रु राक्षस मारीच भी, रावण को राम के विषय में बताता हुआ कहता है—

तदाहं दण्डकारण्ये विचरन् धर्मदूषकः ।
आसादयं तदा रामं तापसं धर्ममाश्रितम् ।।
वैदेहीं च महाभागां लक्ष्मणं च महारथम् ।
तापसं नियताहारं सर्वभूतहितेरतम्।।[१]

हे रावण! उस समय मैं धर्म को दूषित करता हुआ, दण्डकारण्य में विचरण करता हुआ, तापस धर्म का आश्रय लेने वाले, लक्ष्मण, विदेह नन्दिनी महाभागा सीता, और नियत फल मूल का आहार करने वाले, सारे प्राणियों के हित में लगे हुए, राम के समीप गया।

मीमांसा- किसी के मन मे ऐसा संदेह हो सकता है कि, यदि राम मांसाहारी नहीं थे, सारे प्राणियों के हित में लगे हुए थे, तो फिर स्वर्ण मृग का शिकार करने क्यों गये जिसके कारण सीता का अपहरण हुआ? ऐसे लोगों के संदेह का निवारण करने के लिए, वाल्मीकि द्वारा लिखित, उस प्रकरण को तथ्यात्मक ढंग से, यहाँ प्रस्तुत करना ही उचित होगा—

९-राम ने सीता की उत्सुकता पर स्वर्ण मृग को पकड़ने व पालने हेतु पीछा किया न कि शिकार करने हेतु, साथ ही राक्षस के माया मृग होने की दशा में मारने का भी निर्णय किया।

रावण सीता का अपहरण करने हेतु जब मारीच को माया मृग बनकर साथ देने के लिए बुलाने गया तब मारीच ने रावण को राम से युद्ध न करने के लिए समझाया। किन्तु जब मारीच रावण को समझाने में सफल नहीं हुआ और उसको लगा कि यह क्रुद्ध होकर हमारी ही हत्या कर देगा तब उसने अपने राजा और सम्बन्धी रावण के हाथों मरना ठीक न समझकर, उसकी सहायता करने में राम के हाथों मरने को ही उचित माना। जैसा कि महर्षि वाल्मीकि लिखते हैं—

स रावणवचः श्रुत्वा मारीचो राक्षसस्तदा।।
मृगोभूत्वाऽऽश्रमद्वारि रामस्य विचचार ह।[२]

१. बा.रा.अर.३९/७,८। २. वा.रा.अर.४२/१४ ।

रावण की बात सुनकर, राक्षस मारीच उस समय मृग बनकर राम के आश्रम के द्वार पर विचरण करने लगा।

स तु रूपं समास्थाय महदद्भुतदर्शनम् ।।
मणिप्रवरश्रृङ्गाग्रः सितासितमुखाकृतिः।[१]

उस समय उसने अत्यन्त ही अद्भुत रूप धारण कर लिया। उसके सींगों के उपरी भाग श्रेष्ठ इन्द्रनीलमणि की आभा वाले थे। मुखमंडल पर सफेद और काले रंग की बूँदे थीं।

रक्तपद्मोत्पलमुख इन्द्रनीलोत्पलश्रवाः।।
किंचिदभ्युन्नतग्रीव इन्द्रनीलनिभोदरः।
मधूकनिभपार्श्वश्च कञ्जकिञ्जल्कसंनिभः।।[२]

मुख लाल कमल के समान था। कान नीलकमल के समान थे। ग्रीवा थोड़ी ऊँची थी। उदर का भाग इन्द्रनीलमणि की कान्ति वाला था। पार्श्व भाग महुए के फूल के समान श्वेत वर्ण के थे। शरीर का सुनहरा रंग, कमल की केशर की भाँति खिल रहा था।

वैदूर्यसंकाशखुरस्तनुजङ्घः सुसंहतः ।
इन्द्रायुधसवर्णेन पुच्छेनोर्ध्वं विराजितः।।[३]

उसके खुर वैदूर्यमणि के समान, पिण्डलियाँ पतली और पूँछ इन्द्र-धनुष के समान लगने से उसका सुन्दर संगठित शरीर विशेष शोभा पा रहा था।

प्रलोभनार्थं वैदेह्या नानाधातुविचित्रितम् ।
विचरन् गच्छते सम्यक् शाद्वलानि समन्ततः।।[४]

वैदेही सीता को लुभाने के लिए, विविध धातुओं से विचित्र मनोहर एवं दर्शनीय रूप बनाकर, वह राक्षस, उस सुन्दर वन तथा राम के आश्रम को प्रकाशित करता हुआ, सब ओर उत्तम घासों को चरने और विचरने लगा।

अदृष्टपूर्वं दृष्ट्वा तं नानारत्नमयं मृगम् ।
विस्मयं परमं सीता जगाम जनकात्मजा।।[५]

---

१. वा.रा.अर.४२/१५ । २. वा.रा.अर.४२/१६,१७ ।
३. वा.रा.अर.४२/१८ । ४. वा.रा.अर.४२/२१ ।
५. वा.रा.अर.४२/२२ ।

पहले कभी न देखे हुए ऐसे मृग को देखकर, जनकनन्दिनी सीता अत्यन्त आश्चर्यचकित हुईं। वह नाना प्रकार के रत्नों का ही बना जान पड़ता था।

सा तं सम्प्रेक्ष्य सुश्रोणी कुसुमानि विचिन्वती।
हेमराजवर्णाभ्यां पार्श्वाभ्यामुपशोभितम् ।।
प्रहृष्टा चानवद्याङ्गी मृष्टहाटकवर्णिनी।
भर्तारमपि चक्रन्द लक्ष्मणं चैव सायुधम्।।[१]

सोने और चाँदी के समान आभा वाले पार्श्व भागों से सुशोभित, उस मृग को देखकर, शुद्ध स्वर्ण के समान कान्ति और निर्दोष अंगों वाली सुश्रोणी सीता, फूलों को चुनते हुए मन ही मन बहुत प्रसन्न हुईं तथा अपने पति राम व देवर लक्ष्मण को आयुधों के साथ आने के लिए पुकारने लगीं।

आहूयाहूय च पुनस्तं मृगं साधु वीक्षते।
आगच्छागच्छ शीघ्रं वै आर्यपुत्र सहानुज।।[२]

वे बार-बार उनको पुकार-पुकार कर फिर उस मृग को अच्छी तरह देखने लगतीं। वे बोलीं, हे आर्य पुत्र! अपने भाई के साथ आइए-आइए, शीघ्र आइए।

तावाहूतौ नरव्याघ्रौ वैदेह्या रामलक्ष्मणौ ।
वीक्षमाणौ तु तं देशं तदा ददृशतुर्मृगम् ।।[३]

वैदेहि सीता के द्वारा बुलाये गये नरश्रेष्ठ, राम और लक्ष्मण वहाँ आये। सीता जहाँ बोल रही थीं, उस ओर गवेषणात्मक दृष्टि से देखते हुए उन्होंने उस मृग को देखा।

शङ्कमानस्तु तं दृष्ट्वा लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत्।
तमेवैनमहं मन्ये मारीचं राक्षसं मृगम्।।[४]

उसको देखकर शङ्का करते हुए लक्ष्मण बोले, ''मैं तो इसको मृग के रूप में वह मारीच राक्षस ही मानता हूँ।

चरन्तो मृगयां हृष्टाः पापेनोपाधिना वने।
अनेन निहता राम राजानः कामरूपिणा।।[५]

---

१. वा.रा.अर.४३/१,२। २. वा.रा.अर.४३/३।
३. वा.रा.अर.४३/४। ४. वा.रा.अर.४३/५ । ५. वा.रा.अर.४३/६।

हे राम! इस पापी इच्छा वेषधारी ने, अपनी इस कपटरूप धारण करने की क्षमता से, कपट वेष धारण कर, प्रसन्नता से मृगया के लिए, वन में विचरण करते हुए, अनेकों राजाओं को मार डाला।

अस्य माया विदो माया मृगरूपमिदं कृतम्।
भानुमत् पुरुषव्याघ्र गन्धर्वपुरसंनिभम्।।[१]

हे पुरुषसिंह! इस मायावी की माया ही, इस मृग के रूप में बदल गयी है। यह गन्धर्व नगर के समान केवल देखने भर के लिए है।

मृगो ह्येवंविधो रत्नविचित्रो नास्ति राघव।
जगत्यां जगतीनाथ मायैषा हि न संशयं ।।[२]

हे जगती नाथ राघव! इस धरती पर कहीं भी ऐसा विचित्र मृग नहीं है। यह माया ही है, इसमें संशय नहीं है।

एवं ब्रुवाणं काकुत्स्थं प्रतिवार्य शुचिस्मिता।
उवाच सीता संहृष्टा छद्मना हृतचेतना।।[३]

छद्म माया से जिनकी चिंतन शक्ति हर ली गयी थी, ऐसी पवित्र मुस्कान वाली सीता ने, उपर्युक्त बातें कह रहे, ककुत्स्थ कुलनन्दन लक्ष्मण को, बीच में ही रोककर स्वयं ही हर्ष के साथ कहा।

आर्यपुत्राभिरामोऽसौ मृगो हरति मे मनः।
आनयैनं महाबाहो क्रीडार्थे नो भविष्यति।।[४]

आर्यपुत्र! यह मृग बड़ा ही सुन्दर है, यह मेरे मन को हर लिया है। महाबाहो! इसे ले आइये, यह हम लोगों के साथ खेलने के लिए रहेगा।

इहाश्रमपदेऽस्माकं बहवः पुण्यदर्शनाः।
मृगाश्चरन्ति सहिताश्चमराः सृमरास्तथा।।
ऋक्षाः पृषतसङ्घाश्च वानराः किन्नरास्तथा।
विहरन्ति महाबाहो रूपश्रेष्ठा महाबलाः।।
न चान्यः सदृशो राजन् दृष्टः पूर्वं मृगो मया।
तेजसा क्षमया दीप्त्या यथायं मृगसत्तमः।।[५]

---

१. वा.रा.अर.४३/७ । २. वा.रा.अर.४३/८ ।
३. वा.रा.अर.४३/९ । ४. वा.रा.अर.४३/१० ।
५. वा.रा.अर.४३/११,१२,१३ ।

हे राजन् ! महाबाहो! यद्यपि हमारे इस आश्रम में, बहुत-से पावन और दर्शनीय मृग, साथ-साथ आकर चरते हैं। तथा सुमर-काली पूँछ वाली चँवरी गाय, चमर-सफेद पूँछ वाली चँवरी गाय, ऋक्ष-चितकवरे मृगों के झुंड, वानर तथा सुंदर रूप वाले बलवान् किन्नर भी विचरण करते हैं। तो भी आज के पहले मैंने दूसरा कोई ऐसा तेजस्वी, सौम्य और आभावान् मृग नहीं देखा, जैसा यह श्रेष्ठ मृग दिखाई दे रहा है।

यदि ग्रहणमभ्येति जीवन्नेव मृगस्तव।
आश्चर्यभूतं भवति विस्मयं जनयिष्यति।।[1]

यदि यह मृग जीता हुआ ही आप के द्वारा पकड़ा जा सके, तो यह आश्चर्यजनक होगा, और देखने वाले सबके हृदय में विस्मय पैदा कर देगा।

समाप्तवनवासानां राज्यस्थानां च नः पुनः।
अन्तःपुरे विभूषार्थो मृग एष भविष्यति।।[2]

जब हम लोग वनवास समाप्त कर, राज्य में स्थित होंगे, तब यह मृग हमारे अन्तःपुर की शोभा बढ़ायेगा।

भरतस्यार्यपुत्रस्य श्वश्रूणां मम च प्रभो।
मृगरूपमिदं दिव्यं विस्मयं जनयिस्यति।।[3]

हे प्रभु! इस मृग का यह अद्भुत रूप भरत के, स्वयं आप आर्य पुत्र के, मेरी सासुओं के और मेरे लिए भी दिव्य विस्मय पैदा करने वाला होगा।

जीवन्न यदि तेऽभ्येति ग्रहणं मृगसत्तमः।
अजिनं नरशार्दूल रुचिरं तु भविष्यति।।[4]

हे पुरुषसिंह! यदि कदाचित यह सुन्दर मृग जीते जी न पकड़ा जा सके, तो इसकी मृगछाला भी बहुत ही सुन्दर होगी।

कामवृत्तमिदं रौद्रं स्त्रीणामसदृशं मतम्।
वपुषा त्वस्य सत्त्वस्य विस्मयो जनितो मम।।[5]

यद्यपि स्वेच्छा से प्रेरित होकर, अपने पति को ऐसे काम में लगाना, अत्यन्त भयंकर कर्म, स्त्रियों के लिए उचित नहीं है। किंतु इसके शरीर के इस रूप ने मुझमें विस्मय उत्पन्न कर दिया है।

---

१. वा.रा.अर.४३/१६। २. वा.रा.अर.४३/१७।
३. वा.रा.अर.४३/१८। ४. वा.रा.अर.४३/१९। ५. वा.रा.अर.४३/२०।

मीमांसा– यहाँ सीताजी ने स्वयं यह स्पष्ट कहा है कि, किसी प्राणी की हिंसा रूप अत्यन्त भयंकर कर्म के लिए, स्त्रियों का अपने पति को प्रेरित करना अनुचित है। किन्तु मैं इस मृग के विलक्षण रूप से विस्मित होकर, इतनी आकर्षित हो गयी हूँ कि, मैंने यह अपने स्त्रियोचित स्वभाव के विपरीत, अनुचित प्रेरणा आपको कर दी। जिसपर भगवान राम भी, सीता की इस अनुचित प्रेरणा से इस मृग के प्रकृति विरुद्ध श्रेष्ठ रूप को, इसके जीवन के लिए संकट होना बताते हैं।

पश्य लक्ष्मण वैदेह्या स्पृहामुल्लसितामिमाम्।
रूपश्रेष्ठतया ह्येष मृगोऽद्य न भविष्यति।।[१]

हे लक्ष्मण! वेदेही सीता के मन में इस मृग को पाने के लिए, उल्लसित हुई अभिलाषा को देखो! यह मृग, श्रेष्ठ सुन्दर रूप के कारण ही, आज जीवित नहीं रहेगा।

न वने नन्दनोद्देशे न चैत्ररथसंश्रये।
कुतः पृथिव्यां सौमित्रे योऽस्य कश्चित् समो मृगः।।[२]

हे सुमित्रानन्दन! इन्द्र के नन्दन वन में, और कुवेर के चैत्ररथ वन में भी, इसकी समता वाला कोई मृग नहीं होगा। तो फिर पृथ्वी में इसकी समता वाला कोई मृग, कहाँ से हो सकता है?

एष चैव मृगः श्रीमान् यश्च दिव्यो नभश्चरः।
उभावेतौ मृगौ दिव्यौ तारामृगमहीमृगौ।।[३]

यह श्रीसम्पन्न सुन्दर मृग और जो दिव्य आकाशचारी मृग-मृगशिरा नक्षत्र है, ये दोनों ही दिव्य मृग हैं। इनमें एक तारामृग है तो दूसरा महीमृग है।

यदि वायं तथा यन्मां भवेद् वदसि लक्ष्मण।
मायैषा राक्षसस्येति कर्तव्योऽस्य वधो मया।।[४]

हे लक्ष्मण! तुम मुझसे जैसा कह रहे हो, यदि यह ऐसा ही मृग हो, यदि यह राक्षस की माया है, अर्थात् तुम्हारे कथन के अनुसार यदि यह मारीच राक्षस ही है, और माया से यह अपना ऐसा रूप दिखा रहा है, तो मेरे द्वारा इसका वध अवश्य किया जाना चाहिए।

---

१. वा.रा.अर.४३/२५ । २. वा.रा.अर.४३/२६।
३. वा.रा.अर.४३/३७ । ४. वा.रा.अर.४३/३८।

एतेन हि नृशंसेन मारीचेनाकृतात्मना ।
वने विचरता पूर्वं हिंसिता मुनिपुंगवाः।।[१]

क्योंकि इस नृशंस दुष्ट चित्त वाले मारीच ने, वन में विचरण करते हुए, अनेक मुनियों की हिंसा की है।

उत्थाय बहवोऽनेन मृगयायां जनाधिपाः।
निहताः परमेश्वासास्तस्माद् वध्यस्त्वयं मृगः।।[२]

इसने मृगया के समय उठकर, बहुत-से महाधनुर्धर राजाओं का वध किया है। इसलिए यह मृग अवश्य वध करने योग्य है।

पुरस्तादिह वातापिः परिभूय तपस्विनः।
उदरस्थो द्विजान् हन्ति स्वगर्भोऽश्वतरीमिव।।[३]

पहले इसी वन में वातापि राक्षस, तपस्वियों के उदर में छलपूर्वक पहुँच करके, उन तपस्वियों को, उसी प्रकार नष्ट कर देता था, जिस प्रकार खच्चरी के पेट का बच्चा खच्चरी को।

मीमांसा- तथ्य यह है कि, वातापि नाम का राक्षस अपने भाई के साथ मिलकर तपस्वियों को भोजन के लिए अपने घर आमन्त्रित करता था, और स्वयं भोजन बनकर उनके भोजन के रूप में उनके उदर में चला जाता था। जब भोजन करके ऋषि जाने को होता था, तो भोजन कराने वाला उसका भाई वातापि का नाम लेकर पुकारता था। फिर वह तपस्वी का पेट फाड़ कर निकल आता था। इस प्रकार तपस्वियों को धोखा देकर मार डालता था।

स कदाचिच्चिराल्लोभादाससाद महामुनिम्।
अगस्त्यं तेजसा युक्तं भक्ष्यस्तस्य बभूव ह।।[४]

वह वातापि दीर्घकाल से महामुनि अगस्त्य को मारने की इच्छा से किसी समय उनके यहाँ जा पहुँचा और उन तेजस्वी ऋषि का आहार बन गया।

समुत्थाने च तद्रूपं कर्तुकामं समीक्ष्य तम् ।
उत्स्मयित्वा तु भगवान् वातापिमिदमब्रवीत्।।[५]

जब वह उनके पेट में अपने रूप में उठने की कोशिश करने लगा,

---

१. वा.रा.अर.४३/३९ । २. वा.रा.अर.४३/४० ।
३. वा.रा.अर.४३/४१ । ४. वा.रा.अर.४३/४२ । ५. वा.रा.अर.४३/४३।

तब उसको लक्ष्य कर भगवान अगस्त्य मुस्करा कर उस वातापि से इस प्रकार बोले।

त्वयाविगण्य वातापे परिभूताश्च तेजसा।
जीवलोके द्विजश्रेष्ठास्तस्मादसि जरां गतः।।[1]

हे वातापि! तुमने बिना गणना किये इस जीव लोक में बहुत-से तपस्वी द्विजों को, अपने तेज से तिरस्कृत किया है। उसी पाप से अब तुम बच गये।

तद् रक्षो न भवे देव वातापिरिव लक्ष्मण।
मद्विधं योऽतिमन्येत धर्मनित्यं जितेन्द्रियम्।।[2]

हे लक्ष्मण! उस राक्षस मारीच को भी वातापि के समान ही नष्ट हो जाना चाहिए, जो मेरे समान नित्य धर्म में तत्पर रहने वाले, जितेन्द्रिय पुरुष का भी अतिक्रमण करे।

भवेद्धतोऽयं वातापिरगस्त्येनेव मा गतः।
इह त्वं भव संनद्धो यन्त्रितो रक्ष मैथिलीम्।।[3]

जिस प्रकार वातापि अगस्त्य के द्वारा मारा गया उसी प्रकार मेरे पास आया हुआ यह मारा जायेगा। यहाँ तुम अस्त्र-शस्त्रों से सन्नद्ध होकर, मैथिली सीता की रक्षा करो।

अस्यामायत्तमस्माकं यत् कृत्यं रघुनन्दन।
अहमेनं वधिष्यामि ग्रहीस्याम्यथवा मृगम्।।[4]

हे रघुनन्दन लक्ष्मण! इस समय हम लागों के ऊपर मैथिली की रक्षा का आवश्यक कर्तव्य उपस्थित है। तुम सावधानीपूर्वक मैथिली की रक्षा करो। मैं इस राक्षस को मार डालूँगा, अथवा यदि यह मृग है, तो इसको जीवित ही पकड़ लाऊँगा।

मीमांसा- उक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि, विचित्र आकृति वाले, इस स्वर्ण आभा से युक्त मृग को देखकर, सीता को उसे पालने और अयोध्यापुरी में ले जाकर वन के अद्भुत प्राणियों के रूप में दिखाने की आकांक्षा थी। न कि उसका मांस खाने की। उसकी इस विचित्र आकृति के कारण राम और

---

१. वा.रा.अर.४३/४४। २. वा.रा.अर.४३/४५।
३. वा.रा.अर.४३/४६। ४. वा.रा.अर.४३/४७।

लक्ष्मण को उसका यह रूप राक्षसी मायाकृत है, ऐसा प्रबल संदेह हो गया था। तथापि इस प्रकार का विचार भी था कि, यदि वह राक्षस न होकर मृग हुआ तो पकड़ कर पाला जायेगा। इसी तथ्य को निश्चय कर राम ने लक्ष्मण को राक्षसी माया की प्रबल संभावना के दृष्टिगत सीता की सावधानीपूर्वक रक्षा करने की आज्ञा दी। साथ ही यह भी स्पष्ट कहा कि, यह राक्षस आज मेरे द्वारा मारा जायेगा। यदि सीता के कथनानुसार राक्षस न होकर यह स्वर्णाभ मृग, प्रकृति का चमत्कार है, तो मैं इसे पकड़ लाऊँगा। यह निश्चय कर ही राम शस्त्रों से सज्जित हो, उस माया मृग के पीछे गये, और उसे जीवित पकड़ने के प्रयास में ही, जंगल में बहुत दूर तक चले गये। जैसा कि इस श्लोक से स्पष्ट है—

ग्रहीतुकामं दृष्ट्वा तं पुनरेवाभ्यधावत।
तत्क्षणादेव संत्रासात् पुनरन्तर्हितोऽभवत्।।[१]

राम मुझे पकड़ना चाहते हैं। यह देखकर वह फिर भागा, और फिर इस त्रास से कि कहीं राम हमें पकड़ न लें, और हमारी सारी कपट माया जान न जाँय, वह अन्तर्धान हो गया।

पुनरेव ततो दूराद् वृक्षखण्डाद् विनिःसृतः।
दृष्ट्वा रामो महातेजास्तं हन्तुं कृतनिश्चयः।।[२]

तदनन्तर वह मायावी, पुनः दूर वृक्षों के बीच से निकला। इस प्रकार अनतर्धान होकर, फिर वृक्षों के बीच से उसे निकला हुआ देखकर, महा तेजस्वी राम ने उसे मायावी राक्षस समझ कर, मार डालने का निश्चय किया।

भूयस्तु शरमुद्धृत्य कुपितस्तत्र राघवः।
सूर्यरश्मिप्रतीकाशं ज्वलन्तमरिमर्दनम्।।
संधाय सुदृढ़े चापे विकृष्य बलवद्बली।
तमेव मृगमुद्दिश्य श्वसन्तमिव पन्नगम्।।
मुमोच ज्वलितं दीप्तमस्त्रं ब्रह्मविनिर्मितम्।[३]

तब कुपित हुए बलशाली राघव ने सूर्य की किरणों के समान तेजस्वी, ब्रह्मनिर्मित, शत्रु को नष्ट करने के लिए जलते हुए बाण को, अपने सुदृढ़

---

१. वा.रा.अर.४४/११ २. वा.रा.अर.४४/१२
३. वा.रा.अर.४४/१३,१४.५

धनुष पर चढ़ाकर, उसे बलपूर्वक खींचा और भयंकर सर्प के समान श्वाँस खींचते हुए, उस मृग को लक्ष्य कर छोड़ दिया।

शरीरं मृगरूपस्य विनिर्भिद्य शरोत्तमः।।
मारीचस्यैव हृदयं बिभेदाशनिसंनिभः।[१]

बज्र के समान, उस उत्तम तेजस्वी बाण ने, मृग रूपधारी मारीच के शरीर को फाड़कर, हृदय को भी विदीर्ण कर दिया।

तालमात्रमथोत्प्लुप्य न्यपतत् स भृशातुरः।।
व्यनदद् भैरवं नादं धरण्यामल्पजीवितः।
म्रियमाणस्तु मारीचो जहौ तां कृत्रिमां तनुम्।।[२]

उस चोट से अत्यन्त व्याकुल हो वह राक्षस, ताड़ के बराबर उछलकर धरती गिर पड़ा। पृथ्वी पर गिर कर, जिसका जीवन थोड़ा ही बचा था, वह भयंकर गर्जना करने लगा। मरते समय मारीच ने अपने कृत्रिम मायामृग के शरीर को त्याग दिया।

स्मृत्वा तद्वचनं रक्षो दध्यौ केन तु लक्ष्मणम् ।
इह प्रस्थापयेत् सीता तां शून्ये रावणो हरेत्।।[३]

इस राक्षस ने, उस रावण के वचन को स्मरण करके, सोचा कि, किस उपाय से सीता लक्ष्मण को यहाँ भेज दे, उस सीता को सूने आश्रम से रावण हर ले जाय।

स प्राप्तकालमाज्ञाय चकार च ततः स्वनम्।
सदृशं राघवस्येव हा सीते लक्ष्मणेति च।।[४]

उसने सोचा कि रावण के बताये हुए उपाय को काम में लाने का समय आ गया है। ऐसा सोचकर उसने राघव के समान स्वर में, हा सीते! हा लक्ष्मण! कहकर पुकारा।

चक्रे स सुमहाकायं मारीचो जीवितं त्यजन्।
तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ राक्षसं भीमदर्शनम्।।
रामो रुधिरसिक्ताङं चेष्टमानं महीतले।
जगाम मनसा सीतां लक्ष्मणस्य वचः स्मरन् ।।[५]

---

१. वा.रा.अर.४४/१५ । २. वा.रा.अर.४४/१७ । ३. वा.रा.अर.४४/१८ ।
४. वा.रा.अर.४४/१९ । ५. वा.रा.अर. ४४/२१,२२।

जीवन का त्याग करते हुए मारीच ने, अपना महाकाय शरीर धारण कर लिया। भूमि पर गिरे हुए, खून से सने हुए, धरती पर छटपटाते हुए, उस भीमकाय राक्षस को देखकर, राम लक्ष्मण की कही हुई बात का स्मरण करते हुए, सीता की चिन्ता करने लगे।

मारीचस्य तु मायैषा पूर्वोक्तं लक्ष्मणेन तु।
तत् तथा ह्यभवच्चाद्य मारीचोऽयं मया हतः।।[१]

वे सोचने लगे, जैसा लक्ष्मण ने पहले कहा था उसी प्रकार यह मारीच की माया ही थी। यह वैसा ही हुआ, यह मेरे द्वारा मारीच ही मारा गया।

हा सीते लक्ष्मणेत्येवमाक्रुश्य तु महास्वनम्।
ममार राक्षसः सोऽयं श्रुत्वा सीता कथं भवेत्।
लक्ष्मणश्च महाबाहुः कामवस्थां गमिष्यति।
इति संचिन्त्य धर्मात्मा रामो हृष्टतनूरुहः।।[२]

वे सोचने लगे, यह राक्षस "हा सीता! हा लक्ष्मण!" कहते हुए मरा है। इसके इन शब्दों को सुनकर, सीता की क्या अवस्था हुई होगी? महाबाहु लक्ष्मण की भी क्या दशा होगी? यह सोचकर धर्मात्मा राम के रोंगटे खड़े हो गये।

तत्र रामं भयं तीव्रमाविवेश विषादजम्।
राक्षसं मृगरूपं तं हत्वा श्रुत्वा च तत्स्वनम्।।[३]

उस समय वहाँ मृगरूपधारी उस राक्षस को मारकर और उसके द्वारा बोले गये उस शब्द को सुनकर, राम के मन में विषादजन्य शोक समा गया।

मीमांसा- इस प्रकार यहाँ यह स्पष्ट है कि, सीता मृग का अद्भुत रूप देखकर उसे पालना चाहती थीं। वनवास काल की अद्भुत स्मृति के रूप में भरत और अपनी सासुओं को दिखाना चाहती थीं। क्योंकि उस तरह का मृग, उस वन में भी, उसके पहले उन्होंने नहीं देखा था। प्रकृति विरुद्ध रूप होने के कारण और उसकी गतिविधियों के कारण, लक्ष्मण ने उसके

---

१. वा.रा.अर.४४/२३। २. वा.रा.अर.४४/२४,२५।
३. वा.रा.अर.४४/२६।

मायावी मारीच राक्षस होने का तार्किक संदेह व्यक्त किया। राम को भी उसके उस प्रकृति विरुद्ध रूप के कारण, उसके मारीच राक्षस होने की गंभीर आशंका थी। यह बात स्वयं राम ने लक्ष्मण को बतायी। यह भी स्पष्ट किया कि, यदि यह मारीच राक्षस है, तो आज इसे अवश्य ही मार देंगे। साथ ही यह भी संदेह व्यक्त किया कि, यदि यह सीता के विचारों के अनुसार अद्भुत मृग है, तो अवश्य पकड़ लेंगे। इसीलिए जीवित पकड़ने के प्रयास में, राम उस मायावी मृग के पीछे-पीछे बहुत दूर तक चले गये। इसके बाद जब उन्होंने सामने से, उसे अचानक गायब होते, और फिर दूसरी झाड़ियों से प्रकट होते देखा, तब उन्हें यह निश्चय हो गया कि, यह कोई मायावी राक्षस ही है, जिससे क्रुद्ध हो करके उन्होंने उस मायावी राक्षस को मार डालने के उद्देश्य से अपना तीर चलाया। जिससे वह राक्षस मारा गया। मरते समय वह अपने वास्तविक रूप में आ गया और अपने उस वास्तविक रूप में आते हुए चीखते हुए, हा सीता! हा लक्ष्मण! की छल पूर्ण करुण पुकार किया। उसके वास्तविक रूप में आने पर, राम को यह ज्ञात हुआ कि, यह राक्षस मारीच ही है। जैसा कि लक्ष्मण ने कहा था। इसने किसी भयंकर छल की योजना से ही, यह कपट वेष बनाया था। अपनी उस कपट योजना के अनुसार ही, इस कपटी राक्षस ने, "हा सीता! हा लक्ष्मण!" की करुण पुकार की। यह विचार आते ही, उन्हें यह गम्भीर आशङ्का हो गयी कि, इस करुण पुकार से व्यथित सीता ने, लक्ष्मण को अवश्य मेरे पास भेजा होगा। चूँकि लक्ष्मण को तो पहले से ही, इस मृग के मारीच होने, और इसके अद्भुत मृग रूप में राक्षसों की कपट योजना, और राक्षसी माया का संदेह था। अतः वह भी, मेरी आवाज के भ्रम में, अवश्य ही सीता को आश्रम में छोड़कर, मेरी सहायता के लिए निकल पड़ा होगा। यह सोचते ही राम का मन इस आशंका से भयभीत हो उठा कि, इस प्रकार सीता को आश्रम में अकेला पाकर राक्षस उसका अपहरण न कर लें। ऐसी परिस्थिति में, स्वाभाविक रूप से राम तेजी से अपने आश्रम को, सीता और लक्ष्मण की कुशल चाहते हुए लौटे।

किंतु इस तथ्य को इतना स्पष्ट रूप में लिखे होने पर भी, दुष्ट क्षेपककारों ने लिखा कि मारीच को मारने के बाद, राम यह सब कुछ

सोचने के बाद भी, तत्काल आश्रम को न लौट कर अन्य पशुओं को मारकर उनका मांस इकट्ठा करने लगते हैं। यह नितांत झूठ अव्यावहारिक क्षेपक है। फिर ऐसे दुष्ट क्षेपककार, पवित्रमना उदात्त जीवन जीने वाले राम को, मांसाहारी, व्यभिचारी, लिखें तो क्या आश्चर्य है? उनका तो उद्देश्य ही राम के आदर्श से सम्पन्न सशक्त प्रजा को, राम में दोष दिखा कर, लोगों में फूट डालकर, इस देश की उत्कृष्ट संस्कृति, उत्कृष्ट जीवन मूल्यों से सम्पन्न, उत्कृष्ट मानवीय सभ्यता को, नष्ट करना ही था। ऐसे दुष्ट क्षेपककारों ने राम की इस पवित्र धरती में, जन्म के आधार पर, समाज को बाँट कर, सामाजिक विद्वेष फैलाने के लिए आगे जो कुत्सित रचना किया वह देखें।

अध्याय ७

शबरी के आश्रम में शम्बूक-वध की प्रक्षिप्त मिथ्या कथा

१-अन्तःसाक्ष्यों से स्पष्ट ''महर्षि वाल्मीकि के प्रति, राम के प्रति, और भारत राष्ट्र के प्रति, शत्रु भाव से भरे हुए क्षेपककारों ने, शम्बूक वध नाम की कूट रचित मिथ्या कथा रचकर, छलपूर्वक वाल्मीकि रामायण में उत्तर काण्ड के रूप में जोड़ दी।''

भगवान राम के द्वारा, अपने जीवन में जी कर समाज में उतारी गयी, और महर्षि वाल्मीकि के द्वारा गाई गयी, वैदिकी वर्णात्मिका सर्वकर्म समरसतामयी सबके जीवन में सहभागात्मिका, पवित्र समाज व्यवस्था को, नष्ट करने के लिए, दुष्ट क्षेपककारों ने, महर्षि मतंग की पवित्र शिष्या शबरी से, मिलता-जुलता नाम शम्बूक रखकर, उसी पवित्रमना शबरी के आश्रम में, शम्बूक की राम द्वारा नृशंस हत्या करने की, झूठी कपट कथा लिखकर, जोड़ दी। अयोध्या का वर्णन करते हुए महर्षि वाल्मीकि ने लिखा कि, सभी अयोध्यावासी विधिवत वेदों का अध्ययन करते थे। सदाचरण का पालन करते थे। सभी नर-नारी राष्ट्रभक्त थे। श्री सम्पन्न थे। दानी थे। सत्यवादी थे। धर्मनिष्ठ थे। सामर्थ्य सम्पन्न विद्वान् थे। राम को ही अपना आदर्श मानते हुए, एक दूसरे पर संदेह नहीं करते थे। एक दूसरे की निंदा नहीं करते थे। अपितु सभी एक दूसरे का सहयोग करते हुए, एक दूसरे की प्रसन्नता में प्रसन्न होते थे। इस प्रकार राम राज्य में सारी धरती, धरती के सारे प्राणी, और प्रकृति, आनन्द से उल्लसित हो रही थी।

देखें महर्षि की वे पंक्तियाँ—

२-तथ्य स्मरण

नाषडङ्गविदत्रास्ति नाव्रतो नासहस्रदः ।

न दीनः क्षिप्तचितो वा व्यथितो वापि कश्चन।।

कश्चिन्नरो वा नारी वा नाश्रीमान् नाप्यरूपवान्।

द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नापि राजन्यभक्तिमान्।। [1]

यहाँ, इस अयोध्या में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो षडङ्ग वेदों का विद्वान न हो। सद्व्रत का पालन न करे। सहस्रों में दान न करे। दीन, विक्षिप्त चित्त या दुखी हो। ऐसा कोई भी व्यक्ति अयोध्या में नहीं है।

कोई भी नर या नारी, श्रीरहित, रूपरहित, और राष्ट्र के प्रति भक्ति रहित, अयोध्या में नहीं देखा जा सकता।

मीमांसा- मेरे इस श्लोक के सुनाते ही, मैंने कई जन्मना जातिवाद के अहंकार से ग्रस्त लोगों को, यह कहते हुए पाया कि, हो सकता है कि, उस समय अयोध्या में कोई शूद्र रहता ही न रहा हो। लेकिन मेरे अगले श्लोक को बोलते ही उनकी मानसिक भ्रान्ति समाप्त होती हुई स्पष्ट दिखाई पड़ी। तो देखें वह अगला श्लोक—

वर्णेष्वग्रय्चतुर्थेषु देवतातिथिपूजकाः।

कृतार्थाश्च वदान्याश्च शूरा विक्रमसंयुताः।। [2]

वर्णों में पहले से लेकर चौथे तक, अर्थात् ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक, सभी लोग देवता और अतिथियों की पूजा करने वाले थे। सभी कृतज्ञ, उदार, शूरवीर और पराक्रमी थे।

दीर्घायुषो नराः सर्वे धर्मं सत्यञ्च संश्रिताः।

सहिताः पुत्रपौत्रैश्च नित्यं स्त्रीभिः पुरोत्तमे।। [3]

उस उत्तमपुरी में निवास करने वाले सभी लोग, धर्म और सत्य का अच्छी तरह आश्रय लेने वाले, व दीर्घायु थे। वे सभी अपनी स्त्री, पुत्र और पौत्र आदि के साथ, सदा सुख से रहते थे।

मीमांसा- सम्पूर्ण वैदिक धर्म राम राज्य में पूर्ण रूप से स्थापित हुआ। राम की गुह निषाद के साथ मैत्री, जटायू के प्रति पिता के समान श्रद्धा,

१. वा.रा.बालका.६/१५,१६ ।२. वा.रा.बालका.६/१७ ।

३. वा.रा.बालका.६/१८ ।

सभी वनवासियों, ऋषियों, ऋक्षों और वानरों के प्रति आत्मीय भाव, यह सभी तथ्य महर्षि वाल्मीकि ने रामायण में राम की अयोध्या से दक्षिण दिशा में, वनवास काल में की गयी यात्रा में वर्णित किये हैं। उसी क्रम में शैवल के उत्तर प्रान्त में पंपा नदी, पंपा सरोवर के तट पर मतंग के आश्रम में भीलनी शबरी की तपस्या, श्रद्धा, भक्ति और उसका राम के प्रति हार्दिक स्नेह, यह सब वर्णन करते हुए ही महर्षि ने, राम के विषय में लिखा—

''बहिश्चर इव प्राणाः प्रजानां पार्थिवात्मजः।''

''राम प्रजा की मूर्तिमान आत्मा, बाहर घूमने वाले प्राणों के समान हैं''

इसलिए प्रजावत्सल, सर्वात्मा राम ने, सभी प्राणियों को कष्ट देने वाले, पाप कर्म करने वाले, ब्राह्मणों के लिए कंटक खर, दूषण, रावण, कुम्भकरण आदि राक्षसों को मिटा दिया। सभी देवता, ऋषि, गंधर्व, महात्मा आदि युद्ध के समय में, राम की विजय की इच्छा करते हुए, स्वस्तिवाचन किया। जिसे महर्षि ने इस प्रकार लिखा है—

स्वस्ति गोब्राह्मणेभ्यस्तु लोकानां ये च सम्मताः।
जयतां राघवो युद्धे पौलस्त्यान् रजनीचरान् ।।
चक्रहस्तो यथा विष्णुः सर्वानसुरसत्तमान् ।[१]

गउवों, ब्राह्मणों का कल्याण हो, और जो लोक में सम्मानित महापुरुष हैं, उन सबका कल्याण हो। रघुकुलनन्दन राम युद्ध में, पुलस्त्य के कुल में उत्पन्न हुए राक्षसों पर उसी प्रकार विजय प्राप्त करें, जिस प्रकार चक्रधारी भगवान विष्णु, सभी असुर शिरोमणियों को जीत लेते हैं।

मीमांसा— जहाँ-जहाँ भगवान राम का राक्षसों से युद्ध हुआ, वहाँ-वहाँ महात्माओं महापुरुषों द्वारा युद्ध में राम के विजयी होने की यह मंगल कामना की गयी है। जो दूसरी जगह किञ्चित् परिवर्तन से इस प्रकार है—

स्वस्ति गोब्राह्मणानाञ्च लोकानां चेति संस्थिताः।
जयतां राघवो युद्धे पौलस्त्यान् रजनीचरान्।।
चक्रहस्तो यथा विष्णुः सर्वानसुरपुङ्गवान् ।[२]

गउवों, ब्राह्मणों का कल्याण हो, और जो लोक में सम्मानित महापुरुष हैं उन सबका कल्याण हो । रघुकुल नन्दन राम युद्ध में पुलस्त्य के कुल में

१. वा.रा.अरण्य.२३/२८ । २. वा.रा.अरण्य.२४/२१

उत्पन्न हुए राक्षसों पर, उसी प्रकार विजय प्राप्त करें, जिस प्रकार चक्रधारी भगवाान विष्णु, सभी असुर शिरोमणियों को जीत लेते हैं।

राम स्वयं भी खरदूषण आदि राक्षसों का वध करते हुए कहते हैं—

नृशंसशील क्षुद्रात्मन् नित्यं ब्राह्मणकण्टक।
त्वत्कृते शङ्कितैरग्नौ मुनिभिः पात्यते हविः।।[1]

हे क्रूर स्वभाव वाले! क्षुद्रात्मा! नित्य ब्राह्मणों के लिए कंटक! तेरे ही कारण मुनि लोग, शङ्कित रहकर ही अग्नि में हविष्य की आहुतियाँ डालते हैं।

ये त्वया दण्डकारण्ये भक्षिता धर्मचारिणः।
तानद्य निहतः संख्ये ससैन्योऽनुगमिष्यसि।।[2]

तूने दण्डकारण्य में, धर्माचरणपूर्वक रहते हुए, जिन ऋषियों का भक्षण कर लिया, आज युद्ध में मारा जाकर सेना सहित तू भी उन्हीं का अनुसरण करेगा।

अद्य त्वां निहतं बाणैः पश्यन्तु परमर्षयः।
निरयस्थं विमानस्था ये त्वया निहता पुराः।।[3]

पहले तूने जिनका वध किया है, वे परमर्षि लोग विमान पर बैठकर आज तुझे मेरे बाणों से मारा गया, नरक में स्थित देखें।

मीमांसा- इस प्रकार महर्षि वाल्मीकि ने, पुलस्त्य ऋषि के कुल में उत्पन्न हुए राक्षसों को, कहीं भी ब्राह्मण नहीं कहा है। किन्तु दुष्ट क्षेपककार ने, अपनी कपोल कल्पना द्वारा रचित और छलपूर्वक रामायण में योजित, उत्तर काण्ड में "रावण आदि को मारकर राम ने ब्रह्महत्या की, ऐसा लिखा।" क्षेपककार के इस कृत्य से ऐसा जान पड़ता है कि यह क्षेपककार रावण आदि राक्षसी प्रकृति का अनुयायी, कोई पौलस्त्य कुल में उत्पन्न हुआ, छद्म ब्राह्मण ही था।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि जब राक्षस मुनियों, महात्माओं की हत्या कर रहे थे तब इस राजदोष के द्वारा किसी भी ब्राह्मण पुत्र की मृत्यु नहीं होती थी। किन्तु रामराज्य में इस क्षेपककार कल्पित, अहिंसक धार्मिक

---

१. वा.रा.अरण्य.३०/१२। २. वा.रा.अरण्य.२९/१२।
३. वा.रा.अरण्य.२९/१३।

शूद्र शम्बूक, जो किसी का भी अहित न चाहते हुए, भी मात्र परलोक प्राप्ति के लिए, तप कर रहा था। उसके इस किये जा रहे तप के प्रभाव से ही, ब्राह्मण पुत्र की मृत्यु हो गयी। यद्यपि इस कूट रचना के मिथ्या होने का प्रमाण, युद्ध काण्ड में महर्षि वाल्मीकि द्वारा वर्णित, रामराज्य का वर्णन ही है। वहाँ महात्मा वाल्मीकि इस प्रकार लिखते हैं—

निर्दस्युरभवन्लोको नानर्थं कस्यचिद् स्पृशत्।
न च स्म वृद्धाः बालानां प्रेतकार्याणि कुर्वते।।[१]

रामराज्य में सारा समाज, चोर डाकुओं से रहित हो गया, कोई भी अनर्थ किसी का भी स्पर्श नहीं करता था, और कहीं भी वृद्धों को, बालकों का मृत्यु-संस्कार नहीं करना पड़ता था।

आसन् प्रजा धर्मपरा, रामे शासति नानृताः।
सर्वे लक्षणसम्पन्नाः, सर्वे धर्मपरायणाः।।[२]

राम के राज्य करते हुए, सारी प्रजा धर्म परायण हो गयी। उस समय सभी लोग धर्मपरायण थे, और शुभ लक्षणों से सम्पन्न थे।

रामो रामो राम, इति प्रजानामभवन्कथाः।
रामभूतं जगद्भूत, रामे राज्यं प्रशासति ।।[३]

राम के राज्य करते हुए सब जगह राम की, राम की, और राम की ही चर्चा होती थी, सारा जगत् राममय हो गया।

मीमांसा- इस प्रकार महर्षि वाल्मीकि ने यह स्पष्ट कहा कि रामराज्य में सम्पूर्ण संसार राममय हो गया। राम विश्व के चक्रवर्ती सम्राट थे। किंतु दुष्ट क्षेपककार रामराज्य के इन अत्यन्त उत्कृष्ट आदर्शों को, जीवन मूल्यों को छिपाने के लिए, शम्बूक वध नाम की अपनी कूट रचना, इस प्रकार छलपूर्वक योजित करता है कि रामराज्य में स्थापित जीवन मूल्यों और आदर्शों का पूरी तरह खण्डन हो जाय। चूँकि वाल्मीकि ने स्थापित किया कि, राम के राज्य में कहीं भी वृद्धों को बालकों का मृत्यु संस्कार नहीं करना पड़ता था। राम के राज्य में कहीं भी अकाल मृत्यु नहीं होती थी। इसी तथ्य को छिपाने के लिए, यह दुष्ट क्षेपककार अपनी इस कूट रचित

---

१. वा.रा.युद्ध.१२८/९९। वा.रा.युद्ध.१२८/१००।
३. वा.रा.युद्ध.१२८/१०२।

कथा का आरम्भ, ब्राह्मण बालक की अकाल मृत्यु से प्रारम्भ करता है। जो इस प्रकार है—

३-छद्म कथा का आरम्भ ब्राह्मण द्वारा राम को अपशब्द कहे जाने के साथ –

तत कतिपयाह्नः सुबृधो जानपदो द्विजः।
मृतं बालमुपादाय राजद्वारमुपागमत् ।।[१]

तब कुछ दिन बीतने के बाद, अतिवृद्ध, जनपद का निवासी द्विज, मरे हुए बालक को लेकर राजद्वार पर आया।

रुदन् बहुविधा वाचः स्नेहदुःखसमन्वितः।
असकृत् पुत्रपुत्रेति वाक्यमेतदुवाच ह।।[२]

वह स्नेह और दुख से अच्छी तरह आक्रांत, रोता हुआ, बहुत प्रकार की बातें बोल रहा था। बार-बार 'पुत्र-पुत्र' कहता हुआ इस प्रकार बोला।

किं नु मे दुष्कृतं कर्म पुरा देहान्तरे कृतम् ।
यदहं पुत्रमेकं तु पश्यामि निधनं गतम्।।[३]

मैंने पूर्व जन्म में ऐसा कौन-सा दुष्कर्म किया था, कि मैं अपने एक मात्र पुत्र की मृत्यु देख रहा हूँ?

अप्राप्तयौवनं बालं पञ्चवर्षसहस्त्रकम् ।
अकाले कालमापन्नं मम दुःखाय पुत्रक।।[४]

हे पुत्र! अभी तो तू युवा अवस्था को भी प्राप्त नहीं हुआ था, बालक ही था, केवल पाँच वर्ष एवं एक हजार दिन की ही तेरी आयु थी। हजार दिन में २ वर्ष ९ माह होते हैं इस प्रकार इस बालक की कुल आयु ७ वर्ष ९ माह दिखाई जा रही है। तो भी तू मुझे दुःख देने के लिए अकाल में ही काल के गाल में चला गया।

अल्पैरहोभिर्निधनं गमिष्यामि न संशयः।
अहं च जननी चैव तव शोकेन पुत्रक।।[५]

हे पुत्र! तेरे शोक में, मैं और तेरी जननी, थोड़े ही दिनों में मर जायेंगे। इसमें संशय नहीं है।

---

१. उत्तर का.७३/२। २. उत्तर का.७३/३। ३. उत्तर का.७३/४।
४. उत्तर का.७३/५। ५. उत्तर का.७३/६।

न स्मराम्यनृतं ह्युक्तं, न च हिंसां स्मारामृयहम् ।
सर्वेषां प्राणिनां पापं, न स्मरामि कदाचन।।[१]

मेरी स्मृति में ऐसा कुछ नहीं है कि, मैने कभी झूठ बोला हो। अथवा मैंने कभी हिंसा की हो। और सभी प्राणियों के प्रति, अपने द्वारा किये गये किसी पाप का भी स्मरण नहीं है।

केनाद्य दुष्कृतेनायं बाल एव ममात्मज:।
अकृत्वा पितृकार्याणि गतो वैवस्वतक्षयम्।।[२]

फिर किस दुष्कृत से मेरा आत्मज यह बालक, बिना पितृ कार्य किये ही, वैवस्वत यमराज के पास चला गया?

मीमांसा- इस प्रकार यहाँ यह क्षेपककार ब्राह्मण को सत्यवादी, दयावान, अच्छे कर्म करने वाला दिखाकर राम का अपराध दिखाने की भूमिका बना रहा है। वह पहले ही राम को मांसाहारी, शराबी, व्यभिचारी, कीर्तिलोलुप, और सत्य में निष्ठा न रखने वाला दिखा चुका है। अब उनके पाप से सत्यनिष्ठ, सच्चरित्र, ब्राह्मण के बालक की अकाल मृत्यु दिखा रहा है।

नेदृशं दृष्टपूर्वं मे श्रुतं वा घोरदर्शनम् ।
मृत्युरप्राप्तकालां रामस्य विषये ह्ययम्।।[३]

राम के राज्य में इस प्रकार की भयंकर अकाल मृत्यु, पहले कभी देखी सुनी नहीं गयी थी।

रामस्य दुष्कृतं किञ्चिद् महदस्ति न संशय:।
यथाहि विषयस्थानां बालानां मृत्युरागत:।।[४]

निश्चय ही राम का ही कोई कुछ बड़ा दुष्कर्म है, जिससे इनके राज्य में रहने वाले, बालकों की मृत्यु आ रही है।

नह्यन्यविषयस्थानां बालानां मृत्युतो भयम् ।
स राजञ्जीवयस्वैनं बालं मृत्युवशं गतम्।।[५]

अन्य राज्यों में रहने वाले बालकों को मृत्यु का डर नहीं है। इसलिए हे राजन् ! इस मृत्यु के वश में गये बालक को जीवित करो।

---

१. उत्तर का.७३/७। २. उत्तर का.७३/८। ३. उत्तर का.७३/९।
४. उत्तर का.७३/१० ५. उत्तर का.७३/११

मीमांसा– यहाँ क्षेपककार अन्य राज्यों के राजाओं से राम को हेय दिखाने के लिए, यह लिख रहा है कि, अन्य राज्यों में बालकों की मृत्यु नहीं हो रही। केवल रामराज्य में बालकों की मृत्यु हो रही है। इसलिए राम पापी राजा हैं, जबकि इसके विपरीत महर्षि वाल्मीकि राम को चक्रवर्ती सम्राट दिखाते हैं, और सम्पूर्ण पृथ्वी पर लोग राम के आदर्शों और जीवन मूल्यों की ही चर्चा करते हैं। इन्हीं तथ्यों को छुपाने के लिए, क्षेपककार इस प्रकार की झूठी कूट रचना कर रहा है जिसमें राम को सारी पृथ्वी का राजा न मानकर एक छोटे से राज्य का राजा दिखाता है, और उसी समय उनसे श्रेष्ठ अन्य राजाओं के राज्यों को कहता है।

राजद्वारि मरिष्यामि पत्न्या सार्धमनाथवत्।
ब्रह्महत्यां ततो राम समुपेत्य सुखी भव।।[१]

अन्यथा मैं अपनी पत्नी के साथ राजद्वार पर अनाथ की भाँति मर जाऊँगा। फिर सम्यक् ब्रह्महत्या को प्राप्त करके सुखी होना।

इदं तु पतितं तस्मात तव राम वशे स्थितान् ।
कालस्य वशमापन्नाः स्वल्पं हि नहि नः सुखम्।।[२]

हे राम! आप के वश में रहने के कारण ही, यह महान दुख हम पर आ पड़ा है जिससे काल के वश में पड़े हुए हमें थोड़ा भी सुख तुम्हारे राज्य में नहीं मिला।

सम्प्रत्यनाथो विषय इक्ष्वाकूणां महात्मानाम्।
रामं नाथमिहासाद्य बालान्तकरणं ध्रुवम्।।[३]

महात्मा इक्ष्वाकुवंशी राजाओं का यह राज्य, राम जैसे पापी राजा के, राजा होने के कारण, इस समय अनाथ हो गया है, जो राजा राम के पापों के कारण ही, बालकों की निश्चित मृत्यु हो रही है।

मीमांसा– महर्षि वाल्मीकि ने, राम को रघुकुल के सर्वश्रेष्ठ राजा के रूप में स्थापित किया है। किंतु यह क्षेपककार, अपने कुत्सित विचारों को, स्थापित करने के लिए राम को रघुकुल के महान राजाओं की महानता को दूषित करने वाला दिखा रहा है। वास्तव में राम के राज्य में जन्म या मरण के आंधार पर किसी को श्रेष्ठ या हेय नहीं माना जाता था। सच्चाई और

---

१. उत्तर का.७३/१२। २. उत्तर का.७३/१४। ३. उत्तर का.७३/१५।

नैतिकता से किये जाने वाले सभी कर्म श्रेष्ठ थे। और उनको करने वाले सभी लोग सज्जन महापुरुष। इसके विरुद्ध यह क्षेपककार, जन्म के आधार पर, वर्ण की जाति के रूप में स्थापना करने, जन्म के आधार पर ही कर्मों का विभाजन करने, उन्हें उच्च और निम्न बनाने, और जन्म के आधार पर ही लोगों में श्रेष्ठता स्थापित करने के उद्देश्य से ही, यह कूट रचना कर रहा है। इसके अतिरिक्त लोगों में, आपस में कलह उत्पन्न करना भी, क्षेपककार का उद्देश्य दिखता है। इसीलिए आगे कहता है—

राजदोषैर्विपद्यन्ते प्रजा ह्यविधिपालिताः ।
असद्वृत्ते हि नृपतावकाले म्रियते जनः ।।[१]

राजा के दोष से जब प्रजा का विधिवत पालन नहीं होता, तभी प्रजा पर ऐसी विपत्ति आती है। दुराचारी राजा के राज्य में ही लोग अकाल मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

यद् वा पुरेष्वयुक्तानि जना जनपदेषु च।
कुर्वते न च रक्षास्ति तदा कालकृतं भयम।।[२]

अथवा जब पुरों में और जनपदों में लोग अनुचित कर्म करते हैं और उनको उस अनुचित करते हुए कर्म से रोकने का कोई रक्षात्मक कर्म नहीं होता, तभी राज्य में अकाल मृत्यु का भय होता है।

सुव्यक्तं राजदोषो हि भविष्यति न संशयः।
पुरे जनपदे चापि तथा बालबधो ह्ययम्।।[३]

इस प्रकार से यह भलीभाँति स्पष्ट है कि, पुर या जनपद में कहीं राजा का दोष हुआ, जिसके कारण इस बालक की मृत्यु हुई, इसमें कोई संदेह नहीं है।

एवं बहुविधैर्वाक्यैरुपरुध्य मुहुर्मुहः ।
राजानं दुःखसंतप्तः सुतं तमुपगूहति।।[४]

इस प्रकार बहुत प्रकार दुख से संतप्त हुआ, वह बहुत प्रकार के वाक्यों से बार-बार राजा को अपनी बात कहते हुए, अपने उस मरे हुए पुत्र को, उठा-उठा कर अपने हृदय से लगाता रहा।

---

१. उत्तर का.७३/१६।
२. उत्तर का.७३/१७।
३. उत्तर का.७३/१८।
४. उत्तर का.७३/१९।

मीमांसा- इस प्रकार क्षेपककार रामराज्य के प्रति लोगों में अनास्था पैदा करने की इच्छा से, अपने मनोकल्पित इस ब्राह्मण का आश्रय ले करके, तरह-तरह से राम में दोष दिखाकर और इस ब्राह्मण द्वारा लगाये गये दोषों से दुखी राम की, राम द्वारा बुलायी गयी मंत्री परिषद की, कूटरचित मिथ्या रचना करता है। वह इस प्रकार है—

तथा तु करुणं तस्य द्विजस्य परिदेवनम्।
शुश्राव राघवः सर्वे दुखःशोकसमन्वितम्।।[1]

इस प्रकार से राम ने दुःख और शोक से भरे हुए, उस द्विज का करुण विलाप सुना।

स दुखेन च संतप्तो मन्त्रिणस्तानुपाह्वयत्।
वसिष्ठं वामदेवं च भ्रातृंश्च सह नैगमान्।।[2]

उस दुःख से सन्तप्त हुए उन्होंने अपने मंत्रियों वसिष्ठ, वामदेव आदि और नगर निवासी महाजनों सहित, अपने भाइयों को बुलाया।

४-क्षेपककार ने अपनी क्षुद्र कथा में देवर्षि नारद और अहिल्या के स्वर्गवासी पति गौतम को भी राम के मंत्रिमण्डल में दर्शाया

ततो द्विजा वसिष्ठेन सार्धमष्टौ प्रवेशिताः।
राजानं देवसंकाशं वर्धस्वेति ततोऽब्रुवन्।।[3]
मारकण्डेयोऽथ मौद्रल्यो वामदेवश्च काश्यपः।
कात्यायनोऽथ जाबालिर्गौतमो नारदस्तथा।।[4]

तब द्विज वसिष्ठ के साथ मार्कण्डेय, मौद्रल्य, वामदेव, काश्यप, कात्यायन, जाबालि, गौतम और नारद इन आठों मंत्रियों ने, राज्य सभा में प्रवेश कर, देवतुल्य नरेश से कहा—**वर्धस्व**-बृद्धि को प्राप्त करो, विजयी हो।

एते द्विजर्षभाः सर्वे आसनेषूपवेषिताः।
महर्षीन् समनुप्राप्तानभिवाद्य कृताञ्जलिः।।[5]

इन सब श्रेष्ठ द्विजों को उत्तम आसनों पर बैठाया गया। आज्ञानुसार सम्यक् रूप से आये हुए इन ऋषियों का हाथ जोड़कर राम ने अभिवादन किया।

---

१. उत्तर का.७४/१। २. उत्तर का.७४/२। ३. उत्तर का.७४/३ ।
४. उत्तर का.७४/४। ५. उत्तर का.७४/५।

मन्त्रिणो नैगमाश्चैव यथार्हमनुकूलतः।
तेषां समुपविष्टानां सर्वेषां दीप्ततेजसाम्॥
राघवः सर्वमाचष्टे द्विजोऽयमुपरोधते।[१]

फिर उन मंत्रियों, और नगर निगमवासी श्रेष्ठियों के साथ, यथायोग्य शिष्टाचार का निवर्हन किया। उन सभी उत्कृष्ट तेज वाले समुचित स्थानों पर बैठे हुए लोगों को राम ने सब बातें बतायीं, जिस प्रकार यह द्विज द्वार पर धरना दिये उलाहना दे रहा है।

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राज्ञो दीनस्य नारदः॥
प्रत्युवाच शुभं वाक्यमृषीणां संनिधौ स्वयम्।[२]

अपने अपमान से दीन हुए, राजा राम के उन वचनो को सुनकर, उन ऋषियों की उपस्थिति में नारद जी ने यह बात कही।

मीमांसा- राजा दशरथ के, व तदुपरान्त भरत के, और उसके बाद राम के मंत्रिमंडल का जो वर्णन राम के राजगद्दी प्राप्त होने तक और युद्ध काण्ड के अन्त में रामराज के वर्णन के समय तक महर्षि वाल्मीकि ने किया है। उसमें कहीं भी, किसी भी, मंत्रिमण्डल में नारद को मंत्री के रूप में नहीं दिखाया गया है। किंतु यह क्षेपककार राम के मंत्रियों में नारद को, अपनी कूटरचना द्वारा, राम में और रामायण में अश्रद्धा पैदा करने के लिए, दर्शा रहा है, क्योंकि वाल्मीकि को, उनके श्रेष्ठतम जीवन मूल्यों से युक्त महान व्यक्ति के रूप में, नारद ने ही इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न राम की जानकारी दी थी। सभी श्रेष्ठतम धार्मिक मानवीय मूल्य राम में विद्यमान हैं। ऐसा नारद ने ही वाल्मीकि को बताया था। यद्यपि वहाँ यह स्पष्ट है कि, नारद त्रिलोकी में भ्रमण करने वाले देवर्षि हैं, न कि किसी राजा के मंत्री। इस प्रकार नारद निष्पक्ष, सत्यवादी वक्ता के रूप में, राम के आदर्शों के ज्ञाता एवं वक्ता हैं। चूँकि नारद ने राम के राज्य में, सभी वर्णों के लोगों को, सुखपूर्वक रहने की बात बतायी थी। वर्णों में जन्म के आधार पर, अथवा कर्म के आधार पर श्रेष्ठ, या हेय, की कोई चर्चा नहीं की गयी। किंतु यहाँ क्षेपककार, जन्म के आधार पर, लोगों में ऊँच-नीच की भावना

१. उत्तर का.७४/६ । २. उत्तर का.७४/७।

स्थापित करने के लिए, अपनी कूटरचित मिथ्या कथा में, नारद को राम के मंत्रिमण्डल का सदस्य बना देता है। इससे वो अपने दो कपट उद्देश्यों को साधना चाहता है। एक से वह यह दर्शाना चाहता है कि, नारद राम के मंत्री होने के नाते उनकी बड़ाई करते हैं। न कि राम में कुछ विशेष है। दूसरा यह कि, जन्मना ऊँच-नीच का ज्ञान, नारद के द्वारा ही कराया गया दिखाकर, यह क्षेपककार, अपनी इस कपट कथा में, अपनी कलुषित योजना को मूर्तरूप देने के लिए, नारद के मुंह से यह कहवाता है।

इसके अतिरिक्त राम के इस क्षेपककार द्वारा कल्पित मंत्रिमंडल में, गौतम ऋषि को भी दिखाया गया है। सभी रामायण पढ़ने वालों को, यह अच्छी तरह स्मरण होगा कि, गौतम ऋषि तो अहिल्या को शाप देने के बाद ही स्वर्गवासी हो गये थे। उसके बहुत दिन बाद विश्वामित्र के साथ मिथिला जाते हुए, विश्वामित्र के कहने से राम, गौतम ऋषि के आश्रम में गये, जहाँ उनके चरणों के स्पर्श से ऋषि शाप से, पत्थर बनी अहिल्या, शाप मुक्त होकर, राम की स्तुति कर, स्वर्ग लोक को चली गयी। इस प्रकार यह क्षेपककार नितांत झूठ लिखते हुए, स्वर्गवासी ऋषि को राम के मंत्रिमंडल में दिखा रहा है।

अपनी कलुषित योजना को स्थापित करने के लिए, यह क्षेपककार अपने कल्पित नारद द्वारा आगे इस प्रकार कहलाता है—

श्रृणु राजन् यथाकाले प्राप्तो बालस्य संक्षयः।।
श्रुत्वा कर्तव्यतां राजन् कुरुष्व रघुनन्दन ।[१]

हे राजन्! जिस कारण से बालक की मृत्यु हुई है, उसे सुनो! और सुन करके, अपने कर्तव्य का पालन करो।

पुरा कृतयुगे राजन् ब्राह्मणा वै तपश्विनः।।
अब्राह्मणस्तदा राजन् न तपस्वी कथंचन ।[२]

राजन्! पहले कृतयुग-सत्युग में केवल ब्राह्मण ही तपस्वी होते थे। उस समय कोई अब्राह्मण कभी भी तप नहीं कर सकता था।

तस्मिन् युगे प्रज्वलिते ब्रह्मभूते त्वनावृते ।।
अमृत्यवस्तदा सर्वे जज्ञिरे दीर्घदर्शिनः ।[३]

---

१. उत्तर का.७४/८। २. उत्तर का.७४/९ ३. उत्तर का.७४/१०।

उस जाज्वल्यमान् ब्रह्मभूत युग में अज्ञान का आवरण नहीं था। इसलिए सभी लोग दीर्घजीवी होते थे। और अकाल मृत्यु से रहित थे।

मीमांसा—चूँकि महाराज मनु द्वारा बसायी गयी विश्व की प्रथम राजधानी अयोध्यापुरी का वर्णन करते हुए, महाराज दशरथ के शासनकाल तक महर्षि वाल्मीकि ने, यह दर्शाया कि, अयोध्या में सभी लोग धर्मपरायण, तपस्वी षड्ङ्ग वेदों के विद्वान्, अतिथि सेवी, सभी राष्ट्रभक्त, और परस्पर आत्मीयता के साथ रहने वाले सहयोगी थे। यह सद्गुण प्रथम वर्ण ब्राह्मण से लेकर, चतुर्थ वर्ण शूद्र तक सबमें समान रूप से था। सद्भावना, सहकार और मानवीय मूल्यों का यह रूप, राम के राज्य में अपने उत्कृष्टतम रूप को प्राप्त हुआ। वे सब राम को अपना आदर्श मानकर, कभी एक दूसरे पर संदेह नही करते थे। और अपने-अपने कर्म को करते हुए, तपस्वी और धार्मिक थे। वे सभी अपने-अपने कार्यों में ही संतुष्ट थे। रामायण के इन आदर्श जीवन मूल्यों को छिपाकर, राम की, महर्षि वाल्मीकि की, रामायण की, और वेदों की, स्थापित सामाजिक समरसता को नष्ट करने के लिए, समाज में जन्मना ऊँच-नीच की भावना स्थापित करने के लिए, और इस जन्मना कलुषित वर्णव्यवस्था के आधार पर, वर्ण विद्वेष पैदा करने के लिए, यह क्षेपककार नारद द्वारा कहलवाता है कि, "पहले सतयुग में केवल ब्राह्मण तपस्या करते थे, ब्राह्मणों के अतिरिक्त कोई अन्य वर्ण तपस्या नहीं करता था।" इस प्रकार यह क्षेपककार यह लिखकर, सतयुग में महाराज मनु, महान तपस्वी ध्रुव, परम तपस्वी भक्त प्रह्लाद आदि महापुरुषों की तपस्या को झूठा दिखला रहा है। और यह बहुत बड़ा झूठ लिख रहा है कि, केवल ब्राह्मण तवस्वी थे। आगे क्षेपककार के छल और भी खुलेंगे।

ततस्त्रेतायुगं नाम मानवानां वपुष्मताम् ॥
क्षत्रिया यत्र जायन्ते पूर्वेण तपसान्विताः।[1]

उसके बाद सुदृढ़ शरीर वाले मानवों का, त्रेता युग आया जब क्षत्रिय भी ब्राह्मणों की भाँति तपस्या करने लगे।

वीर्येण तपसा चैव तेऽधिकाः पूर्वजन्मनि॥
मानवा ये महात्मानस्तत्र त्रेतायुगे युगे।[2]

२. उत्तर का.७४/११। १. उत्तर का. ७४/१२।

उस त्रेता युग में जो महात्मा मानव हुए, उनकी अपेक्षा उनसे पूर्व युग सतयुग में हुए लोग, तप और सामर्थ्य की दृष्टि से अधिक सम्पन्न थे।

ब्रह्म क्षत्रं च तत् सर्वं यत् पूर्वमवरं च यत् ॥
युगयोरुभयोरासीत् समवीर्यसमन्वितम्।[१]

जहाँ पूर्व युग सतयुग में, ब्राह्मण उत्कृष्ठ और क्षत्रिय उनसे निम्न थे वहीं इस त्रेता युग में दोनो समान शक्तिशाली हो गये।

अपश्यन्तस्तु ते सर्वे विशेषमधिकं ततः।।
स्थापनं चक्रिरे तत्र चातुर्वर्ण्यस्य सम्मतम्।[२]

तब उन सबने एक की अपेक्षा दूसरे में, कुछ विशेष अधिक न देखकर, लोक सम्मत चातुर्वर्ण्य की स्थापना की।

मीमांसा- यहाँ यह क्षेपकार स्वयं में परस्तर विपरित बातें लिख रहा है। पहले श्लोकों में लिखा कि सतयुग में क्षत्रिय से ब्राह्मण श्रेष्ठ था। त्रेता में क्षत्रिय और ब्राह्मण समान हो गये। फिर आगे लिख रहा है कि, सतयुग में वर्ण व्यवस्था ही नहीं थी। वह त्रेता में बनायी गयी। इस प्रकार स्पष्ट रूप से वह तथ्यहीन बातें लिख रहा है—

तस्मिन् युगे प्रज्वलिते धर्मभूते हानावृते।।
अधर्मः पादमेकं तु पातयत् पृथिवीतले।
अधर्मेण हि संयुक्तस्तेजो मन्दं भविष्यति।।[३]

उस जाज्वल्यमान, धर्मभूत आवरण रहित त्रेतायुग में, अधर्म ने अपना एक पाँव पृथ्वी पर रखा। अधर्म से संयुक्त होने के कारण उसका तेज घटता जायेगा।

आमिषं यच्च पूर्वेषां राजसं च मलं भृशम् ।
अनृतं नाम तद् भूतं पादेन पृथिवीतले।।[४]

जहाँ पूर्व सतयुग में, मांसाहारी भोजन, व मल के समान राजसकर्म, त्याज्य था। वहीं अनृत-झूठ अधर्म का एक पाद, त्रेतायुग में भूतल पर स्थापित हो गया।

---

१. उत्तर का. ७४/१३। २. उत्तर का. ७४/१४।
३. उत्तर का. ७४/१५,१६। ४. उत्तर का. ७४/१७।

अनृतं पातयित्वा तु पादमेकमधर्मत।
ततः पादुष्कृतं पूर्वमायुषः परिनिष्ठितम्॥[1]

इस प्रकार अनृत-मिथ्याचरण रूप, अधर्म के एक पाद से धरती पर स्थित होने के कारण, पूर्व के सतयुग की अपेक्षा, त्रेता युग में लोगों की आयु सीमित हो गयी।

पतिते त्वनृते तस्मिन्नधर्मेण महीतले।
शुभान्येवाचरँल्लोकः सत्यधर्मपरायणः॥[2]

उस अधर्म के एक पाद से धरती पर स्थापित हो जाने के कारण, सत्य धर्मपरायण लोग, उससे बचने के लिए, शुभ कर्मों का ही आचरण करने लगे।

मीमांसा- यहाँ यह क्षेपककार दिखा रहा है कि, त्रेता में क्षत्रियों के तप करने के कारण अधर्म का एक पाद पृथ्वी पर स्थापित हो गया। सतयुग में ब्राह्मण उत्कृष्ट और क्षत्रिय अपकृष्ट थे, और अन्य वर्ण तो बहुत नीचे थे। इस प्रकार यह क्षेपककार मनु, ध्रुव, प्रह्लाद आदि को अपकृष्ट दिखाकर, ब्राह्मणों-क्षत्रियों में विद्वेष पैदा करने का प्रयास कर रहा है। तथ्य यह है कि, सत्ययुग में सभी लोग तपस्वी, ज्ञानवान्, एक-दूसरे के सहायक थे। व्यतिगत स्वार्थ की भावना नहीं थी। जब लोगों में स्वार्थ की भावना बढ़ने लगी तब उसे धर्म के एक चरण का ह्रास माना गया। यह क्षेपककार भी अपनी बातों को उल्टा-सीधा मनवाने के लिए अपने ही मिथ्या कथन में स्पष्ट रूप से फँसता है और लिखता है कि, इस त्रेतायुग में इस अव्यवस्था को देखते हुए सर्व सम्मत चातुर्वर्ण्य की स्थापना की गयी। इसका मतलब हो गया की इसके पहले यह चार वर्ण विभाग की व्यवस्था ही नहीं थी। बाद में बनायी गयी। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि, सतयुग में ब्राह्मण तपस्वी थे। जब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नाम का वर्ण विभाग ही नहीं था, तब ब्राह्मण तपस्वी कहना हास्यस्पद है।

इसी क्रम में क्षेपककार आगे लिखता है—

त्रेतायुगे च वर्तन्ते ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्च ये।
तपोऽतप्यन्त ते सर्वे शुश्रूषामपरे जनाः॥[3]

---

१. उत्तर का.७४/१८। २. उत्तर का.७४/१९। ३. उत्तर का.७४/२०।

त्रेता युग में जो ब्रह्मण और क्षत्रिय हैं, वे ही तप करते है। शेष सभी उनकी सेवा करते हैं।

स्वधर्मः परमस्तेषां वैश्यशूद्रं तदागमत् ।
पूजां च सर्ववर्णानां शूद्राश्चकुर्विशेषतः।।[१]

तब उन चारों वर्णों में से वैश्य और शूद्र का परम स्वधर्म, शेष सभी वर्णों की सेवा करना हुआ, उसमें भी शूद्रों ने विशेष रूप से सेवा कार्य किया।

मीमांसा– इन श्लोकों में यह दर्शाया गया कि, त्रेता में झूठ की स्थापना हुई। उसका कारण था, क्षत्रियों का तपस्या करना। तो भी वैश्य और शूद्र तप नहीं करते थे। विशेषकर शूद्र सेवा का काम करते थे। यहाँ यह चिन्तनीय है कि, किसी भी कार्य को सम्पन्न करने के लिए किये जाने वाले श्रम को ही वेदों में तप कहा गया है। किंतु यह क्षेपककार श्रम को, अपनी आजीविका के लिए किये जाने वाले कृषि कर्म आदि सात्विक वैश्य कर्म को तप नहीं मान रहा है। इससे यह भी स्पष्ट है कि, यह क्षेपककार तप की अपनी मनमानी कपोलकल्पित व्याख्या कर रहा है जो उसके छलपूर्वक समाज में द्वेष पैदा करने का उपक्रम मात्र है।

एतस्मिन्नन्तरे तेष्मधर्मे चानृते च ह।
ततः पूर्वे पुनर्ह्रासमगमन्नृपसत्तम।।[२]

हे नृपश्रेष्ठ! इसके बाद के युग, अर्थात् द्वापर में, उस अधर्म और अनृत से युक्त होने के कारण, वे दोनो ब्राह्मण और क्षत्रिय, जो पहले श्रेष्ठ थे, पतन को प्राप्त होने लगे।

ततः पादमधर्मस्य द्वितीयमवतारयत्।
ततो द्वापरसंख्या सा युगस्य समजायत।।[३]

तब फिर अधर्म अपने दूसरे चरण को पृथ्वी पर उतारता है। अधर्म के इस दूसरे पैर के पृथ्वी पर उतरने के कारण ही, इस युग का नाम द्वापर है।

तस्मिन् द्वापरसंख्ये तु वर्तमाने युगक्षये।
अधर्मश्चानृतं चैव ववृधे पुरुषर्षभ।।[४]

---

१. उत्तर का.७४/२१। २. उत्तर का.७४/२२।
३. उत्तर का.७४/२३। ४. उत्तर का.७४/२४।

हे पुरुषश्रेष्ठ! उस द्वापर कहे जाने वाले वर्तमान युग में, धर्म के दो चरणों का क्षय होने के कारण, अधर्म और अनृत दोनो बढ़ते हैं।

५-क्षेपककार का रामराज्य को द्वापर में दिखाना

अस्मिन् द्वापरसंख्याने तपो वैश्यान् समाविशत् ।
त्रिभ्योयुगेभ्यस्त्रीन् वर्णान् क्रमाद् वै तप आविशत् ॥[1]

इस द्वापर युग में, तप वैश्यों में भी अच्छी तरह प्रविष्ट हो गया है। इस प्रकार तीन युगों में क्रमशः तीन वर्णों में तप का अधिकार हो गया है।

मीमांसा– इन श्लोकों में यह दिखाया गया कि त्रेता युग के बाद जब द्वापर युग का आगमन होता है तो धर्म के दो चरणों का ह्रास हो जाता है। और अधर्म अपने दो चरणों को पृथ्वी पर स्थापित कर लेता है जिसके फलस्वरूप अधर्म और मिथ्याचरण की वृद्धि होने लगती है। इसका कारण उस द्वापर युग में, वैश्यों का भी तप करना बताया गया है। यहाँ यह चिन्तनीय है कि वेद, ज्ञान और तप को उत्कर्ष का मूल कारण मानते हैं। फिर किसी के भी ज्ञान और तप में प्रवेश करने से किसी भी प्रकार से समाज की हानि क्यों होगी? क्योंकि तपस्वी, ज्ञानी सबके हितचिन्तक होते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद में चारों वर्णों को अपने अपने वर्ण कर्तव्य का पालन करते हुए सभी वर्णों का परम धर्म आत्मलोक की प्राप्ति करना बताया है। उसके विरुद्ध यहाँ क्षेपककार, जन्मना ऊँच-नीच की चर्चा कर, केवल समाज में विद्वेष फैलाने का प्रयास कर रहा है।

यही नहीं, यहाँ यह भी चिंतनीय है कि पच्चीसवें श्लोक में, यह क्षेपककार लिख रहा है कि, इस द्वापर युग में वैश्य भी तप करने लग गये हैं और उनको तप का अधिकार प्राप्त हो गया है। हम सभी जानते हैं कि, राम त्रेता युग में हुए, और उसी में उन्होंने राज्य किया, लेकिन यह क्षेपककार राम से ही, नारद द्वारा कहला रहा है, कि इस द्वापर युग में, वैश्यों को भी, तप करने का अधिकार प्राप्त हो गया है। इससे यह लगता है कि, यह क्षेपककार, जब यह क्षेपक रच रहा था, तो समर्थ वैश्य उससे रुष्ट न हो जायँ, इसलिए इस घटना को ही द्वापर युग में दिखाता है, और वैश्यों को तप के अधिकार की बात लिखता है।

---

१. उत्तर का.७४/२५।

त्रिभ्योयुगेभ्यस्त्रीन् वर्णान् धर्मश्च परिनिष्ठित:।
न शूद्रो लभते धर्म युगतस्तु नरर्षभ।।[१]

तीन युगों में तीन वर्णों को ही धर्म में परिनिष्ठित होने का अधिकार प्राप्त है। किन्तु हे नरश्रेष्ठ! शूद्र को युगानुसार धर्म का अधिकार प्राप्त नहीं है।

हीनवर्णो नृपश्रेष्ठ तप्यते सुमहत्तप: ।
भविष्यच्छूद्रयोन्यां हि तपश्चर्या कलौ युगे।।[२]

हे नृपश्रेष्ठ! हीन वर्ण वाला कोई व्यक्ति, महा तप कर रहा है। जब कि कलयुग में ही, शूद्र योनि में पैदा हुए लोग तपस्यचर्या कर सकेंगे।

मीमांसा–यहाँ पहले श्लोक में क्षेपककार अपनी कलुषित भावनानुसार, जन्मना लोगों में ऊँच-नीच की स्थिति बनाने के लिए, शूद्र को अत्यन्त हेय सिद्ध करने के लिए, यह स्पष्ट रूप से कह रहा है कि, तीन युगों में क्रमश: सत्युग, त्रेता और द्वापर में ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य को धर्म करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। किन्तु शूद्र को इन तीनों ही युगों में धर्म करने का अधिकार नहीं है। इस प्रकार यह सभी वेदों के विरुद्ध शूद्र वर्ण को धर्म करने के अधिकार से वंचित कर रहा है। जबकि वेद सभी मनुष्यों को धार्मिक बनाना चाहते हैं, जैसा कि इस मंत्र से स्पष्ट है—''**कृण्वन्तो विश्वमार्यम्**'' अर्थात् 'सारे विश्व को श्रेष्ठ धर्म सम्पन्न बनाओ।' महर्षि वाल्मीकि भी कहते हैं—

आसन् प्रजा धर्मपरा रामे शासति नानृता:।
सर्वे लक्षणसम्पन्ना: सर्वे धर्मपरायणा:।।[३]

राम के राज्य करते हुए सम्पूर्ण प्रजा धर्म परायण हुई। कहीं भी मिथ्या और अधर्म नहीं है। सभी लोग सुन्दर लक्षणों से युक्त धर्मपरायण हैं।

मीमांसा- महर्षि के इस स्थापित सत्य के विरुद्ध यहाँ उत्तरकाण्ड कर्ता यह क्षेपककार शूद्र वर्ण के धर्म करने का ही खण्डन कर रहा है। उसके धर्म कर्म करने को पाप कह रहा है। वाह रे क्षेपककार! और इसके बाद वाले श्लोक में तो यह बता रहा है कि, ''कोई शूद्र वर्ण का व्यक्ति, तप रूप धर्म करने का पाप कर रहा है, जिसके कारण ब्राह्मण बालक मर गया।'' अहो

---

१. उत्तर का.७४/२६। २. उत्तर का.७४/२७। ३. वा.रा.युद्ध.१२८/१००।

आश्चर्य! जब राक्षस निरपराध ऋषियों को, ब्राह्मणों को, मारकर खा जा रहे थे, तब किसी ब्राह्मण पुत्र की अकाल मृत्यु नहीं हो रही थी। और यह दुष्ट, शूद्र के तप करने से ब्राह्मण बालक की मृत्यु हो जाना दिखा रहा है। इस प्रकार यह पापी क्षेपककार, वेदों के, बाल्मीकि के, और राम के जीवन में जिये गये सत्यों को झुठलाने के लिए, इस हद तक मिथ्या रचना करता है। और आश्चर्य यह है कि, हम सब आँख बंद कर बुद्धिहीन हो उसी को माने चले आ रहे हैं।

इस क्षेपककार के इस धूर्ततापूर्ण कथन के विरुद्ध, देखिए वेदों का सत्य वचन—

''तपसे शूद्रम् आलभते। तपो वै शूद्रः। तप एव तत्तपसा समर्द्धयति।''

तप के लिए शूद्र को सब जगह से प्राप्त करता है। निश्चय ही तप ही शूद्र है। उस तपस्वी अर्थात शूद्र के द्वारा किये जाने वाले तप से, उस तप से सिद्ध होने वाला कार्य, उस तपस्वी का जीवन और उस राष्ट्र की समृद्धि में तप ही समृद्ध होता है।

मीमांसा- भगवान वेद शूद्र को तपस्वी और साक्षात तप ही कह रहे हैं। किंतु यह पापी क्षेपककार, शूद्र के तप करने से, ब्राह्मण बालक की मृत्यु होना दिखा रहा है। यदि ऐसा होता, तो ब्राह्मणों के शत्रु राक्षस, शूद्रों से तप करवाकर, सारे ब्राह्मणों को ही मार दिये होते। अलग से उन राक्षसों को ऋषियों और ब्राह्मणों की हत्या करने की जरूरत ही नहीं पड़ती। किन्तु हे रावण राक्षस वंशी क्षेपककार! तू तो रावण और राक्षसों को ही ब्राह्मण कहना चाहता है। जिन्हें महर्षि वाल्मीकि **''नित्यं ब्राह्मण कण्टक''** कहते हैं। अगले श्लोक में यह क्षेपककार, राम के द्वापर युग में शूद्र द्वारा तप करने को, परम अधर्म बता रहा है। देखें—

अधर्मः परमो राजन् द्वापरे शूद्रजन्मनः ।
स वै विषयपर्यन्ते तव राजन् महातपाः ॥
अद्य तप्यति दुर्बुद्धिस्तेन बालवधो ह्ययम् ।[१]

हे राजन्! द्वापर में जन्मना शूद्र का तप करना परम अधर्म है। निश्चय

---

१. उत्तर का.७४/२८।

ही आपके राज्य की सीमा में कोई दुर्बुद्धि शूद्र महातप कर रहा है। इसीलिए ये बालक मर गया।

यो ह्यधर्ममकार्यं वा विषये पार्थिवस्य तु ।।
करोति चाश्रीमूलं तत्पुरे वा दुर्मतिर्नरः।
क्षिप्रं च नरकं याति स च राजा न संशयः।।[१]

जब भी कोई दुर्बुद्धि मनुष्य, इस प्रकार से अधर्म कार्य को जिस राजा के राज्य में करता है, उस राजा की राज्य लक्ष्मी को नष्ट कर देता है। और वह राजा शीघ्र ही नरक में चला जाता है।

अधीतस्य च तप्तस्य कर्मणः सुकृतस्य च ।
षष्ठं भजति भागं तु प्रजा धर्मेण पालयन् ।।[२]

इसी प्रकार जो राजा प्रजा का धर्मपूर्वक पालन करता है वह प्रजा के अध्ययन, सुकृत और कर्म का छठाँ भाग प्राप्त कर लेता है।

षड्भागस्य च भोक्तासौ, रक्षते न प्रजाः कथम्।
स त्वं पुरुषशार्दूल, मार्गस्व विषयं स्वकम्।।
दुष्कृतं यत्र पश्येथास्तत्र यत्नं समाचार।[३]

और हे पुरुषशार्दूल! इस प्रकार जो राजा प्रजा के शुभ कामों के छठें भाग का भोक्ता है, वह प्रजा की रक्षा क्यों नहीं करेगा? इसलिए आप अपने राज्य में खोज कीजिए। और जहाँ कोई दुष्कृत-शूद्र का तप करना रूप दुराचरण दिखाई दे, वहाँ उसे रोकने का प्रयत्न कीजिए।

एवं चेद् धर्मवृद्धिश्च, नृणां चायुर्विवर्धनम् ।
भविष्यति नरश्रेष्ठ, बालस्यास्य च जीवितम्।।[४]

हे नरश्रेष्ठ! यदि आप ऐसा करते हैं, तो धर्म की वृद्धि होगी, और मनुष्य दीर्घजीवी होंगे। साथ ही यह बालक जी उठेगा।

मीमांसा– यहाँ यह क्षेपककार तीन युगों में तीन वर्णों को तपस्या करने का अधिकार दर्शाते हुए, मूलतः शूद्र वर्ण को सत्कर्म रूप तप से वंचित करने के लिए राम को त्रेता के स्थान पर द्वापर में दिखा रहा है। यह सर्व विदित है कि, राम त्रेता में थे, न कि द्वापर में। तथ्य यह है कि, जब

१. उत्तर का.७४/२९।
२. उत्तर का.७४/३०।
३. उत्तर का.७४/३१/३२।
४. उत्तर का.७४/३३।

यह क्षेपक लिखा गया होगा, उस समय समाज का शोषित-दलित वर्ग ही शूद्र के रूप में रह गया था। वैश्य केवल किसान ही नहीं था, अपितु व्यापार से धन-सम्पन्न श्रेष्ठी बन गया था। इसलिए उसके विरोध में लिखना, एक शसक्त वर्ग से दुश्मनी लेना था। इसलिए वह मजदूर कर्मकार वर्ग, जो धन-सम्पत्ति से रहित था, गरीब था, जो शोषण के विरुद्ध संघर्ष करने की स्थिति में नहीं था, उसका और अधिक शोषण करने के उद्देश्य से, यह क्षेपक लिखा गया। उसका शोषण करने में तथाकथित जन्मना जातिवादी, राक्षसी मानसिकता के कुछ ब्राह्मणों के साथ, कुछ धनिक व्यापारी वर्ग भी पीछे नहीं था। तो ऐसे शोषक व्यापारियों को भी, अपने छल-छद्म से संतुष्ट रखने के लिए, द्वापर में वैश्यों को भी तप का अधिकार दिखाते हुए, केवल शोषित-दलित शूद्र का ही शोषण करते रहने की दूषित मानसिकता से, इस क्षेपक में, राम को द्वापर युग में दिखा दिया।

चूँकि रामायण कथा सर्वप्रथम नारद ने ही वाल्मीकि को सुनाई, और सभी लोगों को रामराज्य में तपस्वी और धार्मिक बताया था, इसलिए नारद के मुँह से ही, राम को, शूद्र को, तप व धर्म करने को, पाप बताते हुए, उस शूद्र की हत्या करने को, धर्म बताने का छल कर रहा है। वह अपने कल्पित नारद से कल्पित राम को, यह कहवा रहा है कि, धार्मिक तपस्वी शूद्र की हत्या करने से ब्राह्मण बालक जी उठेगा।

यह छल अपने आप में स्पष्ट है कि, इस क्षेपककार की दृष्टि में जन्मना ब्राह्मण रावण के और उसके अनुयायी पौलस्त्य राक्षसों के, ब्राह्मणों, ऋषियों, तपस्वियों की हत्या करने पर भी, इतना अधर्म नहीं होता था कि, कोई ब्राह्मण बालक मर जाये। इस दुष्ट क्षेपककार की दृष्टि में, शूद्र के धर्म और तप करने मात्र से, इतना पाप बढ़ गया कि, बिना मारे ही ब्रह्मण का लड़का मर गया।

क्षेपककार की कुकृत्यमयी कूट रचना आगे देखें—

नारदस्य तु तद् वाक्यं श्रुत्वामृतमयं यथा।
प्रहर्षमतुलं लेभे लक्ष्मणं चेदमब्रवीत्।।[१]

नारद का, धार्मिक तपस्वी शूद्र के वध करने का, यह क्षेपकी

---

१. उत्तर का. ७५/१।

अमृतमय वाक्य सुनकर, क्षेपककार के कल्पित राम बड़े प्रसन्न हुए, और लक्ष्मण से इस प्रकार बोले—

गच्छ सौम्य द्विजश्रेष्ठं समाश्वासय सुव्रत।
बालस्य च शरीरं तत् , तैलद्रोण्यां निधापय।।
गन्धैश्च परमोदारैस्तैलैश्च सुसुगन्धिभिः ।
यथा न क्षीयते बालस्तथा सौम्य विधीयताम्।।[१]

हे सौम्य! जाओ। सुन्दर व्रत का पालन करने वाले इन द्विजश्रेष्ठ को आश्वासन दो। और उस बालक के शरीर को, सुगन्ध से युक्त तेल से भरे हुए लकड़ी के द्रोणी में, डुबाकर रखवा दो। और ऐसी व्यवस्था बनाओ कि बालक का शरीर क्षीण न हो।

यथा शरीरो बालस्य गुप्तः सन् क्लिष्टकर्मणः।
विपत्तिः परिभेदो वा न भवेच्च तथा कुरु।।[२]

क्लिष्ट कर्म से जिस प्रकार बालक का शरीर गुप्त रहे, खंडित न किया जा सके, ऐसी व्यवस्था करो।

एवं संदिश्य काकुत्स्थो लक्ष्मणं शुभलक्षणम्।
मनसा पुष्पकं दध्यादागच्छेति महायशाः।।[३]

क्षेपककार के कल्पित काकुत्स्थ महायशस्वी राम ने शुभ लक्षणों वाले लक्ष्मण को ऐसा आदेश देकर मन ही मन पुष्पक विमान का स्मरण किया और कहा–"आ जाओ।"

मीमांसा– तथ्य यह है कि, वनवासियों, कोल, किरातों और वनवासी मानव जाति वानर, भालुओं में धार्मिक चेतना की स्थापना कर, उनकी सहायता से राम ने दुर्दांत दुष्ट राक्षस रावण को उसकी सेना सहित मार गिराया। जन-जन में सत्यनिष्ठा और धार्मिकता की स्थापना की। महर्षि वाल्मीकि, रावण और उसकी सहयोगी उसकी विचार धारा को मानने वालों को, कहीं भी ब्राह्मण नहीं कहते। यद्यपि उसे बार-बार पौलस्त्य कहते हैं। पुलस्त्य ऋषि हैं, और उनके पुत्र विश्वश्रवा भी ऋषि हैं। उस समय कोई भी व्यक्ति जन्म के आधार पर ऋषि, विप्र या ब्राह्मण नहीं होता था। कोई भी आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कर, आत्मज्ञानी हो विप्र, ब्राह्मण, ज्ञानी या ऋषि कहा जाता था। जैसा कि इस वेद मंत्र से स्पष्ट है।

१. उत्तर का.७५/२/३। २. उत्तर का.७५/४। ३. उत्तर का.७५/५।

''उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनां, धिया विप्रोऽजायत।[१]''

''पर्वतों के टेढ़े-मेढ़े मार्गों पर, नदियों के संगम पर, पर्वतों की गुफाओं में, ध्यान करने से विप्र पैदा हुआ।''

मीमांसा- वेद मंत्र के इस उद्घोष से स्पष्ट है कि, कोई जन्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र, नहीं होता था। यह वर्णव्यवस्था केवल कर्म-कुशलता की दृष्टि से लोगों द्वारा स्वयं चुनी जाती थी। साथ ही सभी अपने-अपने वर्णकर्म का सम्यक् पालनपूर्वक, धार्मिकता का पालन करते थे। अपने व्यावहारिक कर्म करने के साथ, सबका परम कर्तव्य आत्मलोक को पाना था।

किंतु इस क्षेपककार की दृष्टि वेद विरुद्ध, महर्षि वाल्मीकि के चिन्तन के विरुद्ध, रामायण एवं राम के विरुद्ध, जन्मना वर्ण व्यवस्था स्थापित करने के प्रयासरूप होने के कारण, यह रावण और उसके सहयोगियों, उसके वैचारिक अनुयायियों को पुलस्त्य कुल में उत्पन्न होने के कारण, उसे वाल्मीकि और राम के विरुद्ध ब्राह्मण सिद्ध करने की है। वह अपनी इस छल योजना को मूर्त रुप देने के लिए, यह भूल जाता है कि, खरदूषण का वध करते हुए राम ने जो कहा वाल्मीकि ने उसे इन शब्दों में लिखा है—

''नृशंसशील क्षुद्रात्मन् नित्यं ब्राह्मणकण्टक।
त्वत्कृते शङ्कितैरग्नौ मुनिभिः पात्यते हविः।''[२]

''हे नृशंसशील! क्षुद्रात्मा! नित्य ब्राह्मणों के लिए कण्टक! तेरे ही कारण, मुनिजन शङ्कित रहकर ही अग्नि में हविष्य की आहुतियाँ डालते हैं।''

मीमांसा– इस प्रकार राम ने खर को यह स्पष्ट कह दिया कि, आज सेना सहित तुझे मारकर ब्राह्मणों का काँटा निकाल दूंगा। किंतु यह क्षेपककार तो, पौलस्त्य खरदूषण, रावण आदि राक्षसों को, ब्राह्मण सिद्ध कर, राम को ब्रह्म-हत्यारा सिद्ध करना चाहता है। इसके लिए वह झूठ पर झूठ लिखता जाता है। अपनी नृशंस कल्पना को नारद के मुख से कहा हुआ दिखाते हुए, तपस्वी शूद्र के वध की बात को अमृत वचन लिखता है। इसी क्रम में युद्ध में रावण को मारकर, रावण द्वारा कुबेर से छीने गये पुष्पक

१. यजुर्वेद.।   २. वा.रा.अरण्य.३०/१२।

विमान से अयोध्या आने के बाद, उनके द्वारा कुबेर की सेवा मे भेज दिये गये पुष्पक विमान को, यहाँ उपस्थित कर देता है। देखें राम द्वारा अयोध्या आने पर पुष्पक विमान को कुबेर की सेवा में जाने का आदेश—

६-पुष्पक विमान जो भगवान राम ने अयोध्या आते ही कुबेर के यहाँ भेज दिया था उसे राम के ही पास दिखाने की क्षेपककार की कूट कथा

भरताश्रममासाद्य ससैन्यो राघवस्तदा।
अवतीर्य विमानाग्रादवतस्थे महीतले।।[1]

भरत के आश्रम में पहुँच कर, सेना सहित राम विमान से उतर कर, धरती पर खड़े हुए।

अब्रवीत् तु तदा रामस्तद् विमानमनुत्तमम् ।
वह वैश्रवणं देवमनुजानामि गम्यताम्।।[2]

तब राम ने उस उत्तम विमान से कहा, अब तुम विश्वश्रवा के पुत्र वैश्रवण देव कुबेर की सेवा में जाओ और उन्हीं की आज्ञा में रहो।

ततो रामाभ्यनुज्ञातं तद् विमानमनुत्तमम्।
उत्तरां दिशमुद्दिश्य जगाम धनदालयम् ।।[3]

तब राम की अनुज्ञा पाकर वह परम उत्तम विमान, उत्तर दिशा को लक्ष्य करके कुबेर के स्थान पर चला गया।

मीमांसा- यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि, उन्हीं पुलस्त्य ऋषि के कुल में, विश्वश्रवा के पुत्र के रुप में जन्में, कुबेर को देव कहा है। किंतु उन्हीं विश्वश्रवा के पुत्र रावण आदि को राक्षस कहा है। स्पष्ट है कि, जन्म से कोई देवता या राक्षस अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र नहीं होता, सब अपने-अपने कर्मों के आधार पर, उन-उन संज्ञाओं से कहे जाते हैं। जैसे विश्वश्रवा के ही पुत्र कुबेर देव हैं, और रावण आदि राक्षस हैं।

विमान पुष्पकं दिव्यं संगृहीतं तु रक्षसा।
अगमद् धनदं वेगाद् रामवाक्यप्रचोदितम्।।[4]

---

१. वा.रा.युद्ध.१२७/६०। २. वा.रा.युद्ध.१२७/६१।
३. वा.रा.युद्ध.१२७/६२। ४. वा.रा.युद्ध. १२७/६३।

राक्षस रावण ने जिस दिव्य पुष्पक विमान को बलपूर्वक कुबेर से अपने अधिकार में कर लिया था। आज वही विमान, राम की आज्ञा से प्रेरित हो, वेगपूर्वक धनद कुबेर की सेवा में चला गया।

मीमांसा– इस श्लोक में महर्षि वाल्मीकि ने राक्षसी मानसिकता का स्पष्टीकरण किया कि, "राक्षसी प्रवृत्ति दूसरे की चीज को जहाँ बलपूर्वक हरने की है, वहीं महात्मा राम की प्रवृत्ति लोगों को उनके द्वारा अर्जित सम्पत्ति को वापस कर देने की है।"

किंतु यह क्षेपककार तो रावण को ब्राह्मण, राम को ब्रह्महत्यारा, और तपस्वी शूद्र की हत्या से ब्राह्मण पुत्र का जी उठना, यह मिथ्या कथा दर्शाना चाहता है। तब कुबेर को वापस दिये विमान को वापस देना न दिखाकर, उसे राम द्वारा अपनी सेवा में ही रखना, ऐसा झूठ दिखाना उसकी धूर्तता, कलुषित मानसिकता, और नृशंसता का स्वाभाविक स्वरूप है। अपनी इस झूठी कहानी को, यह क्षेपककार इस रूप में आगे बढ़ाता है।

इङ्गितं स तु विज्ञाय पुष्पको हेमभूषितः।
आजगाम मुहूर्तेन समीपे राघवस्य वै ॥[१]

इङ्गित को समझकर क्षेपककार कल्पित, स्वर्ण भूषित पुष्पक, मुहूर्त भर में ही क्षेपककार कल्पित राघव के समीप आ गया।

सोऽब्रवीत् प्रणतो भूत्वा अयमस्मि नराधिप।
वश्यस्तव महाबाहो किंकरः समुपस्थितः॥[२]

उसने विनम्र होकर कहा, हे नरश्रेष्ठ! आप के अधीन रहने वाला मैं किङ्कर, सम्यक् रूप से उपस्थित हूँ।

भाषितं रुचिरं श्रुत्वा पुष्पकस्य नराधिपः ।
अभिवाद्य महर्षीन् स विमानं सोऽध्यरोहत॥[३]

पुष्पक का यह सुन्दर वचन सुनकर, वे नरश्रेष्ठ महर्षियों का अभिवादन करके उस विमान पर चढ़ गये।

मीमांसा– जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है कि, भरत के पास पहुँचते ही, राम ने पुष्पक को अपनी अधीनता से मुक्त कर कुबेर के पास भेज दिया था। इस स्पष्ट सत्य के विरुद्ध, यह धूर्त क्षेपककार, उस पुष्पक

---

१. उत्तर का. ७५/६। २. उत्तर का. ७५/७ । ३. उत्तर का. ७५/८।

विमान से ही कहलवाता है कि, मैं आप के अधीन रहने वाला किङ्कर पुष्पक, आपके समक्ष उपस्थित हूँ। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि, महर्षि वाल्मीकि ने पुष्पक विमान को चलने की या जाने की आज्ञा देना मात्र दिखाया है। और आज्ञा पाते ही, पुष्पक विमान द्वारा, आज्ञा का अनुपालन करते हुए दिखाया गया है। कहीं भी पुष्पक विमान को, राम से या किसी अन्य से वार्ता करते हुए नहीं दिखाया गया है। किंतु इस क्षेपककार द्वारा कल्पित पुष्पक विमान, वार्ता करता हुआ दिखाया गया है। उसके सुन्दर, वचन सुनकर क्षेपककार के कल्पित राम, शूद्र की हत्या कराने वाले क्षेपककार कल्पित ऋषियों के आदेश का अनुपालन करने के लिए, उन ऋषियों को प्रणाम कर पुष्पक में सवार होते हैं। तथ्य यह है कि, यह झूठी कल्पना वह वाल्मीकि की मूल कथाओं को झुठलाने के लिए ही लिख रहा है।

क्षेपककार अपनी झूठी कथा को आगे बढ़ाते हुए लिखता है—

धनुर्गृहीत्वा तूणीं च खड्गं च रुचिरप्रभम्।
निक्षिप्य नगरे चैतो सौमित्रिभरतावुभौ।।[1]

उन्होंने धनुष-बाणों से भरे हुए दो तूणीर, और चमकती हुई तलवार ले ली। लक्ष्मण और भरत दोनो भाईयों को नगर की रक्षा में नियुक्त करके प्रस्थान किया।

७-भगवान राम की कर्मभूमि जहाँ वनवासियों व तपस्वियों के सहयोग से राम ने दुष्ट राक्षसों का वध किया उसी दिशा को दूषित दिखाने की क्षेपककार की छद्म योजना–

प्रायात् प्रतीचीं हरितं विचिन्वंश्च ततस्ततः।
उत्तरामगमच्छ्रीमान् दिशं हिमवतावृताम्।।[2]

फिर वह इधर-उधर खोजते हुए, हरियाली से युक्त पश्चिम दिशा में गये, वहाँ से वे श्रीमान हिमालय से घिरी हुई उत्तर दिशा में गये।

अपश्यमानस्तत्रापि स्वल्पमप्यथ दुष्कृतम्।
पूर्वामपि दिशं सर्वामथापश्यन्नराधिपः।।[3]

---

१. उत्तर का.७५/९। २. उत्तर का.७५/१०। ३. उत्तर का.७५/११।

उन दोनों दिशाओं में थोड़ा भी दुष्कृत न देखते हुए, उन नरेश्वर ने पूर्व दिशा का भी निरीक्षण किया।

प्रविशुद्धसमाचारामादर्शतलनिर्मलाम् ।
पुष्पकस्थो महाबाहुस्तदापश्यन्नराधिपः।।[१]

पुष्पक में बैठे हुए, उन महाबाहु नरेश ने, उस दिशा को भी दर्पण के तल के समान पवित्र पाया।

मीमांसा—महर्षि वाल्मीकि के आदिरामायण के अनुसार, राम ने अयोध्या से दक्षिण दिशा में जाकर, वन में रहने वाले वनवासी कोल, किरात और वनवासियों की ही जाति वानर, भालू आदि में, मानवीय धार्मिक मूल्यों की स्थापना कर, उन्हें उत्कृष्ट मनुष्य बनाया। इन्हीं की सहायता से, सत्कर्म में लगे हुए तपस्वियों, ऋषियों, मुनियों को सताने वाले, कुलाभिमानी पौलस्त्य राक्षसों का वध किया। साथ ही इस तथ्य की स्थापना की कि, "जन्म के आधार पर अपने को श्रेष्ठ मानने वाला दुष्कर्मी श्रेष्ठ नहीं होता है। और कोई भी वनवासी, गिरिवासी, सत्कर्म करने के मार्ग पर चलकर श्रेष्ठ बन सकता है। जिस प्रकार पुलस्त्य ऋषि के वंश में पैदा हुए रावण, कुम्भकरण, खर, दूषण आदि दुष्ट, क्रूर कर्म करने वाले दुराचारी लोग राक्षस कहलाये और उन्हीं के वंश में उत्पन्न कुबेर देवता। इसी प्रकार वनवासी, वानर, भालू आदि मानव जातियाँ राम की मित्र हुईं। चूँकि राम का सारा उत्कृष्ट कर्म, अयोध्या से दक्षिण दिशा में घटित हुआ है। और यह क्षेपककार, जन्मना रावण आदि को ब्राह्मण मानकर, राम के उत्कृष्ट कर्म, रावणादि के वध को ब्रह्महत्या मानकर, उसका खण्डन करने का उपक्रम कर रहा है। इसलिए क्रमशः पश्चिम, उत्तर और पूरब दिशाओं में, राम का पुष्पक विमान से शूद्र के तप करने को पाप कर्म दर्शाते हुए, शूद्र तपस्वी की मिथ्या खोज करवाता है। और इन तीनों दिशाओं में ऐसा होना न दिखाते हुए, राम की कर्मभूमि, दक्षिण दिशा में इस प्रकार के कल्पित पाप कर्म की भूमिका बनाते हुए, दक्षिण दिशा में ले जाने का उपक्रम करता है।

---

१. उत्तर का.७५/१२।

८- शबरी के आश्रम में क्षेपककार द्वारा छलपूर्वक शम्बूक वध की छद्म कथा दिखाने के तथ्यात्मक प्रमाण

दक्षिणां दिशमाक्रामत् ततो राजर्षिनन्दनः।
शैवलस्योत्तरे पार्श्वे ददर्श सुमहत्सरः ।।[१]

तब उन राजर्षि नन्दन ने, दक्षिण दिशा की ओर तेजी से आक्रमण किया। वहाँ शैवल पर्वत के उत्तर भाग में उन्होंने एक विशाल सरोवर देखा।

मीमांसा- अहो! शैवल पर्वत के उत्तर प्रान्त में तो शबरी का तपोवन, और पंपा सरोवर है। तो यह दुष्ट क्षेपककार अपनी छद्म योजना के अनुसार, उसी सरोवर पर, शूद्र के तप करने को अधर्म दिखाने की कूट रचना कर रहा है। तथ्य यह है कि, परम तपस्वी शबरी शबर-भील जाति में उत्पन्न हुई थीं, और उन्होंने अपनी उत्कृष्ट तपस्या से, तपस्वियों में अत्यन्त सम्मानित स्थान को प्राप्त किया था, भगवान राम सबसे पहले मतंग मुनि के आश्रम में जाकर, उन्हीं से मिले थे। जन्मना ऊँच-नीच की क्षुद्र भावना वाले, इस दुष्ट क्षेपककार को, यह तथ्य सहन नहीं हुआ कि, राम द्वारा भीलनी शबरी का आदर किया गया। वहीं पुलस्त्य ऋषि के कुल में पैदा हुए लंकाधिपति, रावण आदि का वध कर दिया गया। अब इस तथ्य को उलटने के लिए, यह धूर्त क्षेपककार, शबरी के आश्रम में उनके पवित्र सरोवर पर, तपस्वी शूद्र की, राम द्वारा हत्या दिखाने का नृशंस घृणित उपक्रम कर रहा है। देखें क्षेपककार की धूर्तता—

तस्मिन् सरसि तप्यन्तं तापसं सुमहत्तपः।
ददर्श राघवः श्रीमाँल्लम्बमानमधोमुखम्।।[२]

उस सरोवर पर महातप करते हुए, एक तापस जिसका मुख नीचे की ओर लटका हुआ था, उसको राघव ने देखा।

राघवस्तमुपागम्य तप्यन्तं तप उत्तमम् ।
उवाच च नृपो वाक्यं धन्यस्त्वमसि सुव्रत।।[३]

राघव राम, उस उत्तम तप करते हुए तपस्वी के समीप जाकर यह वाक्य बोले, सुन्दर व्रत का पालन करने वाले हे तापस! तुम धन्य हो।

---

१. उत्तर का.७५/१३। २. उत्तर का.७५/१४। ३. उत्तर का.७५/१५।

कस्यां योन्यां तपोवृद्ध वर्तसे दृढ़विक्रम।
कौतूहलात् त्वां पृच्छामि रामो दाशरथिर्ह्यहम्।।[१]

हे श्रेष्ठ तपस्वी! दृढ़ विक्रमी! कौतूहलवश मैं दशरथ पुत्र राम तुमसे पूछता हूँ। तुम किस योनि में उत्पन्न हुए हो?

कोऽर्थो मनीषितस्तुभ्यं, स्वर्गलाभोऽपरोऽथवा।
वराश्रयो यदर्थं त्वं तपस्यन्यैः सुदुश्चरम् ।।[२]

दूसरों के लिए अत्यन्त कठिन यह तप करते हुए, अपने इष्ट से वर के रूप में पाने के लिए, कौन-सी मनोभिलाषा आप की है? स्वर्ग पाना चाहते हो, अथवा कुछ और?

यमाश्रित्य तपस्तप्तं श्रोतुमिच्छामि तापस।
ब्राह्मणो वासि भद्रं ते, क्षत्रियो वासि दुर्जयः।
वैश्यस्तृतीयो वर्णो वा, शूद्रो वा सत्यवाग् भव।।[३]

हे तापस! जिस आकांक्षा को लेकर तुम तप कर रहे हो, वह मैं सुनना चाहता हूँ। तुम यह सत्य बताओ! तुम्हारा कल्याण हो! तुम ब्राह्मण हो, अथवा दुर्जय क्षत्रिय अथवा तृतीय वर्ण वाले वैश्य हो या शूद्र?

मीमांसा- यह स्थान तपस्विनी शबरी, उनके गुरुजन मतंग और उनके तपस्वी शिष्यों की तपस्थली है। जिसे राम के कहने पर शबरी ने उन्हें स्वयं घूम-घूम कर दिखाया था। जहाँ शबरी ने राम को बताया था कि हमारे तपस्वी गुरुजनों के श्रम बिन्दुओं से सिंचित यह पुष्प कभी म्लान नहीं होते हैं। वहाँ राम ने कोप पर संयम, इन्द्रियों पर संयम, सत् नियमों की प्राप्ति, और गुरुजनों की सेवा को तप कहा। वृक्ष पर गुरुजनों के स्नान के बाद वस्त्र सूखने के लिए लटकाये जाते थे। किंतु यहाँ क्षेपककार पेड़ से उल्टा लटकने को तपस्या कह रहा है। और वह भी जन्म से श्रेष्ठ जाति वालों को ही करने का अधिकार बता रहा है। शबरी के गुरुजन कोई भी जन्म से ब्राह्मण थे, ऐसा कोई उल्लेख नहीं है। बल्कि तपस्वियों की जाति पूछने का प्रश्न ही नहीं उठता, लेकिन यह क्षेपककार, यहाँ पर अपना कल्पित तपस्वी रूप दिखाते हुए, राम से उस तपस्वी की जाति ही पुछवाता है। जब कि शबरी से मिलने पर राम ने उसके तप के सम्बन्ध में पूछा था, न कि

---

१. उत्तर का.७५/१६। २. उत्तर का.७५/१७। ३. उत्तर का.७५/१८।

जाति के सम्बन्ध में। जिससे तापसी श्रमणी शबरी के विषय में, उनका श्रेष्ठतम स्नेह ही दर्शित होता है। वहाँ राम शबरी से इस प्रकार पूछते हैं—

कच्चिते निर्जिता विघ्ना: कच्चिते वर्द्धते तप:।

कच्चिते नियत: कोप: आहारश्च तपोधने।।[१]

हे तपस्विनी शबरी! क्या तुमने तपस्या के विघ्नों को जीत लिया? क्या तुम्हारा तप बढ़ रहा है? क्या तुम्हारा कोप जो मनुष्य का स्वाभाविक दोष है और आहार नियन्त्रण में हो गया?

कच्चिते नियमा: प्राप्ता: कच्चिते मनस: सुखम् ।

कच्चिते गुरुसुश्रूषा सफला चारुभाषिणि ।।[२]

हे सुन्दर संयमित वाणी बोलने वाली तपस्विनी! क्या तुमने सदाचरण के नियम प्राप्त कर लिए? और क्या सदाचरण के नियमों के प्राप्त होने से तुम्हें मन का सुख प्राप्त हो गया? और इस प्रकार से क्या तुम्हारे द्वारा की गयी गुरुजनो की सेवा सफल हो गयी?

मीमांसा- किंतु यहाँ क्षेपककार इन तथ्यों को झुठलाने के लिए, इन तथ्यों के विरुद्ध, तपस्वी से राम द्वारा, उसकी जाति पुछवाता है। और अपनी जन्मना जाति को सही-सही बताने के लिए शपथ भी दिलाता है। जिसके उत्तर में तपस्वी अपनी सत्ववादिता का परिचय देते हुए, अपनी जाति इस क्षेपककार की कल्पना के अनुसार बताता है। देखें—

इत्येवमुक्त: स नराधिपेन अवाक्शिरा दाशरथाय तस्मै।

उचाव जातिं नृपपुङ्गवाय यत्कारणं चैव तप: प्रयत्न:।।[३]

उन नरेश के द्वारा ऐसा पूछे जाने पर, उस नीचे सिर किये हुए तप करने वाले तापस ने, दशरथ पुत्र राजाओं में श्रेष्ठ राम के लिए, अपनी जाति और जो पाने के लिए तप कर रहा था उसे भी बोला।

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा रामस्याक्लिष्टकर्मण:।

अवाक्शिरास्तथाभूतो वाक्यमेतदुवाच ह।।[४]

क्लेश रहित कर्म करने वाले राम के उक्त वचन सुनकर, नीचे सिर कर लटका हुआ, वह क्षेपककार का कल्पित तपस्वी यह वाक्य बोला।

---

१. वा.रा.अरण्य. ७४/८। २. वा.रा.अरण्य. ७४/८।

३. उत्तर का. ७५/१९। ४. उत्तर का. ७६/१।

शूद्रयोन्यां प्रजातोऽस्मि तप उग्रं समास्थितः।
देवत्वं प्रार्थये राम सशरीरो महायशः।।[१]

हे महायशस्वी राम! मैं इस शरीर से ही देवत्व पाने के लिए, इस उग्र तप में स्थित हुआ, शूद्र योनि में पैदा हुआ हूँ।

न मिथ्याहं वदे राम देवलोकजिगीषिया।
शूद्रं मां विद्धि काकुत्स्थ शम्बूकं नाम नामतः।।[२]

हे राम! देवलोक की इच्छा से मैं झूठ नहीं बोलता हूँ। काकुत्स्थ मुझे शम्बूक नाम वाला शूद्र जानो।

मीमांसा– यहाँ क्षेपककार स्वकल्पित शूद्र की सत्यवादिता दर्शाते हुए, तपस्वी शूद्र द्वारा अपनी जाति बताना दर्शाता है। क्योंकि झूठ बोलने का अधर्म यह तपस्वी शूद्र नहीं करना चाहता। उसे ज्ञात है कि, देवलोक प्राप्त करने के लिए, सत्य बोलना आवश्यक है। धूर्त क्षेपककार इस स्वकल्पित शूद्र का नाम भी, शबरी के नाम से सामञ्जस्य स्थापित करते हुए, उसी के द्वारा शम्बूक कहलाता है। तथ्य यह है कि, इस दुष्ट क्षेपककार को एक भीलनी का तपस्वी होना, सिद्धा होना, राम के द्वारा सम्मानित होना, अच्छा नहीं लगता है। वह तो जन्म के आधार पर, ऊँच-नीच की स्थापना करना चाहता है। उसकी इस योजना में रामायण, राम का चरित्र, शबरी का सम्मान, और जटायु के प्रति पिता के समान पूज्य भावना, यह सब इस जन्मना वर्ण व्यवस्था की स्थापना के इच्छुक दुष्ट क्षेपककार को सबसे बड़ी बाधा के रूप में दिखाई देता है। राम के इन्हीं महनीय आदर्शों को अपने इस कूट रचित मिथ्या, रामचरित्र द्वारा नष्ट करना चाहता है। इसलिए अपने इस कल्पित शूद्र का नाम, तपस्विनी शबरी के नाम से मिलता जुलता शम्बूक रखता है। और शबरी के आश्रम में तपस्वी शूद्र के राम द्वारा हत्या किये जाने की कूट रचित मिथ्या रचना करता है।

भाषतस्तस्य शूद्रस्य खड्गं सुरुचिरप्रभम् ।
निष्कृष्य कोशाद् विमलं शिरश्चिच्छेद राघवः।।[३]

इस प्रकार उस शूद्र के बोलते ही, राघव राम ने, अपनी तेजस्वी तलवार पवित्र म्यान से निकालकर उसका सिर काट दिया।

---

१. उत्तर का.७६/२। २. उत्तर का.७६/३। ३. उत्तर का.७६/४।

मीमांसा- इस क्षेपककार के कल्पित राम ने, उसी के कल्पित तपस्वी सत्यवादी शूद्र के, अपनी जाति और नाम बताते ही, अपनी चमचमाती तलवार से नृशंसतापूर्वक उसका वध कर दिया। यहाँ तक कि, उसको अपनी गलती जानने अथवा राम द्वारा उसका दोष बताने का भी, कोई उपक्रम नहीं किया जाता है। जब कि वाल्मीकि के वास्तविक राम, तो राक्षसों को भी मारने से पहले उनका दोष बताते हैं, और उन्हें दोष छोड़ देने की स्थिति में दण्ड न देने को भी कहते हैं। लेकिन यहाँ तो यह सारी रचना ही नृशंस क्षेपककार की कूटकृति है। उसे भला शबरी का सम्मान, और उसके द्वारा राम को दिया गया अपना पवित्र परिचय कैसे भाता? देखें शबरी द्वारा दिया गया राम को अपना परिचय, जो ऋषि ने लिखा है—

रामेण तापसी पृष्टा सा सिद्धा सिद्धसम्मता।
शशंस शबरी वृद्धा रामाय प्रत्यवस्थिता।।[१]

राम के ऐसा पूछने पर, सिद्धों के द्वारा सिद्ध सम्मानित सिद्धा, वृद्धा तपस्विनी शबरी ने राम के लिए उनके सामने खड़ी होकर बोली।

अद्य प्राप्ता तपःसिद्धिस्तव संदर्शनान्मया।
अद्य मे सफलं जन्म गुरुवश्च सुपूजिताः।।[२]

आज आपका दर्शन मिलने से मुझे मेरे तप की सिद्धि मिल गयी। मेरा जन्म सफल हो गया। मेरे द्वारा की गयी गुरुजनों की पूजा सार्थक हो गयी।

अद्य मे सफलं तप्तं स्वर्गश्चैव भविष्यति।
त्वयि देववरे राम पूजिते पुरुषर्षभ।।[३]

हे देवताओं मे श्रेष्ठ, नरश्रेष्ठ राम! आज आपका यहाँ पूजन कर लेने से, मेरा तप सफल हो गया। मुझे अब स्वर्ग भी मिल जायेगा।

तवाहं चक्षुषा सोम्य पूता सौम्येन मानद।
गमिष्याम्यक्षयांल्लोकांस्त्वत्प्रसादादरिंदम।।[४]

हे सौम्य! दूसरों को सम्मान देने वाले! आपकी सौम्य दृष्टि पड़ने से, मैं पवित्र हो गयी। हे शत्रुदमन! आप के कृपाप्रसाद से, मैं अब अक्षय लोकों को जाऊँगी।

---

२. वा.रा.अरण्य.७४/१०। २. वा.रा.अरण्य.७४/११।
३. वा.रा.अरण्य.७४/१२। ४. वा.रा.अरण्य.७४/१३।

चित्रकूटं त्वयि प्राप्ते विमानैरतुलप्रभैः।
इतस्ते दिवमारूढा यानहं पर्यचारिषम्।।[१]

जब आप चित्रकूट पँहुचे, तभी मेरे गुरुजन, जिनकी मैं सेवा किया करती थी। अतुल कान्तिमान विमान में बैठकर, यहाँ से दिव्य लोक को चले गये।

तैश्चाहमुक्ता धर्मज्ञैर्महाभागैर्महर्षिभिः।
आगमिष्यति ते रामः सुपुण्यमिममाश्रमम्।।[२]

उन धर्मज्ञ महाभाग महर्षियों ने, मुझसे कहा कि, तेरे इस आश्रम में, तेरे सुन्दर पुण्य के समान, राम आयेंगे।

स ते प्रतिग्रहीतव्यः सौमित्रिसहितोऽतिथिः।
तं च दृष्ट्वा वरांल्लोकानक्षयांस्त्वं गमिष्यसि।।[३]

सुमित्रा पुत्र लक्ष्मण के सहित, वे तेरे अतिथि होंगे। तुझे उनका अतिथि सत्कार करना है। उनका दर्शन करके, तू श्रेष्ठ अक्षय लोकों को जायेगी।

एवमुक्ता महाभागैस्तदाहं पुरुषर्षभ।
मया तु संचितं वन्यं विविधं पुरुषर्षभ।।
तवार्थे पुरुषव्याघ्र पम्पायास्तीरसम्भवम्।[४]

हे पुरुष श्रेष्ठ! उन महाभाग महात्माओं ने, तब मुझसे ऐसी बात कही थी। इसलिए हे पुरुष श्रेष्ठ! मैने आप के लिए पम्पा तट पर उत्पन्न होने वाले, नाना प्रकार के वन्य फल-मूलों का संचय किया है।

एवमुक्तः स धर्मात्मा शबर्या शबरीमिदम्।
राघवः प्राह विज्ञाने तां नित्यमबहिष्कृताम्।।[५]

इस प्रकार विज्ञान में जो कभी बहिष्कृत नहीं थी, अर्थात् परमात्मा का तत्व-ज्ञान उसे नित्य प्राप्त था, ऐसी इस शबरी के, प्रेम से सने हुए पवित्र वचनों को सुनकर, धर्मात्मा राम ने कहा—

दनोः सकाशात् तत्त्वेन प्रभावं ते महात्मनाम्।।
श्रुतं प्रत्यक्षमिच्छामि संद्रष्टुं यदि मन्यसे।[६]

---

१. वा.रा.अरण्य.७४/१४।
२. वा.रा.अरण्य.७४/१५।
३. वा.रा.अरण्य.७४/१६।
४. वा.रा.अरण्य.७४/१७.५।
५. वा.रा.अरण्य.७४/१८.५।
६. वा.रा.अरण्य.७४/१९.५।

हमने दनु के पास से तुम्हारे गुरुजन महात्माओं के प्रभाव को तथ्यात्मक रूप से सुना है, यदि तुम्हें मान्य हो तो, मैं उनके उस प्रभाव को प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ।

एतत्तु वचनं श्रुत्वा रामवक्त्रविनिः सृतम्।।
शबरी दर्शयामास तावुभौ तद्वनं महत्।[१]

राम के मुख से निकले इन वचनों को सुनकर, शबरी ने उन दोनों को उस महान वन का दर्शन कराया।

पश्य मेघघनप्रख्यं मृगपक्षिसमाकुलम्।।
मतङ्गवनमित्येव विश्रुतं रघुनन्दन।[२]

हे रघुनन्दन! मेघों की घटा के समान, भलीभाँति मृग और पक्षियों से भरे हुए, इस वन को देखो! यह मतंग वन के नाम से प्रसिद्ध है।

इह ते भावितात्मानो गुरवो मे महाद्युते।
जुहवांचक्रिरे नीडं मन्त्रवन्मन्त्रपूजितम्।।[३]

यहाँ उन मेरे भावितात्मा-शुद्ध अन्तःकरण वाले, परमात्म चिन्तन परायण गुरुजनों ने अपना आश्रम बनाया। यहीं उन्होंने मंत्र से मंत्र के समान, पूजित पवित्र काया वाला, अपने को बनाया।

इयं प्रत्यक्स्थली वेदी यत्र ते मे सुसत्कृताः।
पुष्पोपहारं कुर्वन्ति श्रमादुद्वेपिभिः करैः।।[४]

यह प्रत्यक्स्थली वेदी है, जहाँ वे मेरे द्वारा सुन्दर सत्कृत हुए श्रम से कम्पित होते हुए हाथों के द्वारा पुष्पोपहार स्वीकार किया करते थे।

तेषां तपः प्रभावेण पश्याद्यापि रघूत्तम ।
द्योतयन्ती दिशः सर्वाः श्रिया वेद्यतुलप्रभा।।[५]

हे रघुकुल श्रेष्ठ! देखो, उनके तप के प्रभाव से आज भी यह वेदी अपने श्रीसम्पन्न तेज की, अतुलनीय प्रभा से सभी दिशाओं को प्रकाशित कर रही है।

---

१. वा.रा.अरण्य.७४/२०.५। २. वा.रा.अरण्य.७४/२१.५।
३. वा.रा.अरण्य.७४/२२। ४. वा.रा.अरण्य.७४/२३।
५. वा.रा.अरण्य.७४/२४।

अशक्नुवद्भिस्तैर्गन्तुमुपवासश्रमालसैः ।
चिन्तितेनागतान् पश्य समेतान् सप्त सागरान्।।[१]

उपवास के श्रम से शिथिल हुए, जब वे चलने में असमर्थ हुए, तब उनके चिन्तन मात्र से यहाँ प्रकट हुए सातों सागरों का जल आप देखें! यह सप्त सागर तीर्थ है। इसमें सातों सागरों के जल मिले हुए हैं।

कृताभिषेकैस्तैर्न्यस्ता वल्कलाः पादपेष्विह।
अद्यापि न विशुष्यन्ति प्रदेशे रघुनन्दन ।।[२]

हे रघुनन्दन! उसमें स्नान कर, इन वृक्षों पर, जो उन्होंने वल्कल वस्त्र फैला दिये थे, वे आज भी इस प्रदेश में शुष्क नहीं होते हैं।

देवकार्याणि कुर्वद्भिर्यानीमानि कृतानि वै।
पुष्पैः कुवलयैः सार्धं म्लानत्वं न तु यान्ति वै।।[३]

देव कार्य करते हुए, मेरे उन गुरुजनों ने, कमल पुष्पों के साथ अन्य पुष्पों को, उन्हें समर्पित किया था। आज भी वे म्लान नहीं होते हैं।

कृत्स्नं वनमिदं दृष्टं श्रोतव्यं च श्रुतं त्वया।
तदिच्छाम्यभ्यनुज्ञाता त्यक्ष्याम्येतत् कलेवरम्।[४]

भगवन् ! आपने सम्पूर्ण वन देख लिया, और जो सुनने योग्य था, वह सब सुन लिया। अब आप की अनुज्ञा पाकर, मैं इस कलेवर का त्याग करना चाहती हूँ ।

तेषामिच्छाम्यहं गन्तुं समीपं भावितात्मनाम्।
मुनीनामाश्रमो येषामहं च परिचारिणी।।[५]

यह जिन मुनियों का आश्रम है, और जिनकी मैं सेवा करती रही हूँ, उन्हीं पवित्र आत्मा मुनियों के पास, मैं जाना चाहती हूँ।

धर्मिष्ठं तु वचः श्रुत्वा राघवः सहलक्ष्मणः।
प्रहर्षमतुलं लेभे आश्चर्यमिति चाब्रवीत्।।[६]

शबरी के धर्मनिष्ठ वचन सुनकर, लक्ष्मण सहित राम को अत्यन्त प्रसन्नता हुई, और वह 'आश्चर्य है', ऐसा बोले।

---

१. वा.रा.अरण्य.७४/२५। २. वा.रा.अरण्य.७४/२६।
३. वा.रा.अरण्य.७४/२७। ४. वा.रा.अरण्य.७४/२८।
५. वा.रा.अरण्य.७४/२९। ६. वा.रा.अरण्य.७४/३०।

तामुवाच ततो रामः शबरीं संशितव्रताम्।
अर्चितोऽहं त्वया भद्रे गच्छ कामं यथासुखम्।।[१]

तब राम ने कठोर व्रत का पालन करने वाली, शबरी से कहा- कल्याणी! मैं तुम्हारे द्वारा पूजित हुआ हूँ। इसलिए तुम्हारी जैसी कामना है, वैसा सुख प्राप्त करो।

यत्र ते सुकृतात्मानो विहरन्ति महर्षयः।
तत् पुण्यं शबरी स्थानं जगामात्मसमाधिना।।[२]

तब उस शबरी ने, अपने चित्त को एकाग्र करके, उस पुण्य धाम की यात्रा की जहाँ उसके पुण्यात्मा महर्षि गुरुजन विहार करते थे।

मीमांसा– यह महर्षि वाल्मीकि द्वारा लिखित भगवान राम द्वारा किया गया शबरी का सम्मान है, जहाँ वह उनकी कृपा अपने पुण्यात्मा गुरुजनों के स्वर्ग लोक को प्राप्त करती है। किंतु इस जन्मना जातिवादी दुष्ट क्षेपककार को, भीलनी-शबरी का राम द्वारा किया गया यह सम्मान, अच्छा नहीं लगा। समाज में उसकी दृष्टि में, यदि निम्न वर्ण के लोगों का इस प्रकार का सम्मान आदर्श के रूप में स्थापित रहेगा, तब उसकी जन्मना श्रेष्ठता स्थापित करने की योजना, सफल नहीं होगी। इसलिए यह क्षेपककार राम द्वारा शबरी से मिलता-जुलता '**शम्बूक**' नाम कल्पित कर, स्वकल्पित तपस्वी शूद्र की नृशंसतापूर्वक हत्या कराने की यह कूट रचना करता है। उसके कल्पित राम, वाल्मीकि के ऐतिहासिक राम के स्वभाव के विपरीत, तपस्वी से उसकी जाति पूछते हैं, और उसके जाति और नाम बताते ही, नृशंसतापूर्वक उसकी हत्या कर देते हैं। चूँकि शबरी भगवान राम की कृपा से, अपने गुरुजनो के पवित्र स्वर्ग लोक को गयी थी, इसलिए यह क्षेपककार उस घटना के विपरीत, शूद्र के स्वर्ग जाने का खण्डन करने के लिए, शम्बूक नामक तपस्वी शूद्र की झूठी हत्या की रचना करता है। इतना ही नहीं, इस दुष्ट क्षेपककार की कूट रचना आगे देखें—

तस्मिञ्शूद्रे हते देवाः सेन्द्राः साग्निपुरोगमाः।
साधुसाध्विति काकुत्स्थं ते शशंसुर्मुहुर्मुहः।।[३]

---

१. वा.रा.अरण्य.७४/३१। २. वा.रा.अरण्य.७४/३५।
३. उत्तर का.७६/५।

उस शूद्र के मारे जाते ही, इन्द्र और अग्रगामी अग्नि सहित देवगण, बहुत अच्छा! बहुत अच्छा! कहकर काकुत्स्थ राम की प्रशंसा करने लगे।

पुष्पवृष्टिर्महत्यासीद् दिव्यानां सुसुगन्धिनाम्।
पुष्पाणां वायुमुक्तानां सर्वतः प्रपपात ह।।[१]

उस समय दिव्य सुगन्धित पुष्पों की भारी वर्षा हाने लगी। वायु से उड़ाये हुए बहुत से फूल चारो ओर से उनके उपर गिरने लगे।

मीमांसा– तथ्य यह है कि राम ने कुलाभिमानी रावण आदि दुष्ट राक्षसों का जब-जब वध किया, तब-तब देवता, ऋषि, ब्राह्मण उनपर पुष्पवृष्टि करते थे। किंतु रावण आदि दुष्ट राक्षसों को, जिन्हें वाल्मीकि ने कभी ब्राह्मण नहीं माना, उन्हें यह क्षेपककार जन्मना ब्राह्मण मानकर, उनकी हत्या को ब्रह्महत्या मानते हुए, राम द्वारा तपस्वी शूद्र की कूट रचित मिथ्या कथा लिखता है। इस प्रकार अपने कल्पित शूद्र की ही, कल्पित राम द्वारा, हत्या कराकर कल्पित देवों से पुष्पवृष्टि कराता है।

सुप्रीताश्चाब्रुवन् रामं देवाः सत्यपराक्रमम् ।
सुरकार्यमिदं देव सुकृतं ते महामते।।[२]

वे देवता प्रशन्न होकर, सत्य पराक्रमी राम से इस प्रकार बोले—देव! महामते! आपने यह देवताओं का कार्य ही किया है।

गृहाण च वरं सौम्य यं त्वमिच्छस्यरिंदम।
स्वर्गभाङ् नहि शूद्रोऽयं त्वत्कृते रघुनन्दन।।[३]

हे शत्रुओं का दमन करने वाले सौम्य! आप वर ग्रहण करो। आप के इस कृत्य से यह शूद्र स्वर्ग नहीं पा सका। जिससे प्रसन्न होकर हम आपको वरदान देना चाहते हैं

देवानां भाषितं श्रुत्वा रामः सत्यपराक्रमः।
उचाव प्राञ्जलिर्वाक्यं सहस्त्राक्षं पुरंदरम् ।।[४]

देवताओं का कहा हुआ सुनकर, सत्य पराक्रमी राम ने, सहस्राक्ष पुरन्दर इद्र से हाथ जोड़कर यह कहा—

---

१. उत्तर का.७६/६ २. उत्तर का.७६/७।
३. उत्तर का.७६/८। ४. उत्तर का.७६/९।

यदि देवा: प्रसन्ना मे द्विजपुत्र: स जीवतु।
दिशन्तु वरमेतं मे ईप्सितं परमं मम।।[१]

यदि देवता लोग मेरे ऊपर प्रसन्न हैं, तो वह द्विज पुत्र जीवित हो जाये। आप लोग मुझे यही वर दीजिए, यही मेरा सर्वाधिक अभीष्ट वर है।

ममापचाराद् बालौऽसौ ब्राह्मणस्यैकपुत्रक:।
अप्राप्तकाल: कालेन नीतो वैवस्वतक्षयम् ।।[२]

मेरे ही अभिचार से, यह एकलौता ब्राह्मण पुत्र, असमय में ही मृत्यु को प्राप्त हो गया।

तं जीवयत भद्रं वो नानृतं कर्तुमर्हथ।
द्विजस्य संश्रुतोऽर्थो मे जीवयिष्यामि ते सुतम्।।[३]

मैंने द्विज के सामने यह प्रतिज्ञा की है, कि मैं तुम्हारे पुत्र को जीवित कर दूंगा। इसलिए आप लोगों का कल्याण हो! आपलोग उस बालक को जीवित कर दें, आप मेरी बात को झूठ न होने दें।

राघवस्य तु तद् वाक्यं श्रुत्वा विबुधसत्तमा:।
प्रत्यूचू राघवं प्रीता देवा: प्रीतिसमन्वितम्।।[४]

राघव की वह बात सुनकर, विशिष्ट ज्ञान की सत्ता वाले, वे देवता उनसे प्रसन्नतापूर्वक बोले।

निर्वृतो भव काकुत्स्थ साऽस्मिन्नहनि बालक: ।
जीवितं प्राप्तवान् भूय: समेतश्चापि बन्धुभि:।।[५]

हे काकुत्स्थ राम! आप चिंतामुक्त हों! वह बालक आज ही जीवित हो गया, और अपने बन्धुओं से जा मिला।

यस्मिन् मुहूर्ते काकुत्स्थ शूद्रोऽयं विनिपातित:।
तस्मिन् मुहूर्ते बालोऽसौ जीवेन समयुज्यत।।[६]

हे काकुत्स्थ! आप ने जिस मुहूर्त में उस शूद्र का सर काट कर गिरा दिया उसी मुहूर्त में वह बालक जी उठा।

मीमांसा–तथ्य यह है कि राम ने कभी किसी सच्चरित्र भले व्यक्ति

---

१. उत्तर का.७६/१०। २. उत्तर का.७६/११।
३. उत्तर का.७६/१२। ४. उत्तर का.७६/१३।
५. उत्तर का.७६/१४। ६. उत्तर का.७६/१५।

को किसी प्रकार का दुख नहीं दिया, बल्कि सज्जनों को सताने वाले दुष्ट राक्षसों का वध किया। लेकिन यह क्षेपककार इस मिथ्या कथा में देवताओं के मुख से इसके द्वारा कल्पित झूठा धर्म जो मूलतः अधर्म है, जिसे यह धूर्त धर्म दर्शाना चाहता है, उसे देवताओं के मुख से कहलाता है, कि हे राम जिस क्षण आप की तलवार ने इस शूद्र का वध किया, जिस क्षण उसका गला कटा उसी क्षण उसका गला काटने के पुण्य से मृत ब्राह्मण बालक जी उठा, और उठकर अपने घर चला गया। यहाँ यह निर्लज्ज पापी क्षेपककार, समाज को इतना मूर्ख मानता है, कि यह समाज इतना भी नहीं सोचेगा कि, जब रावण आदि राक्षस निरीह निरपराध ऋषियों की हत्या कर, उन्हें खा जाते थे, तब उन राक्षसों के पाप से किसी ब्राह्मण सन्तान की मृत्यु नहीं होती थी। और इसी प्रकार जब भगवान राम इन पापी राक्षसों का वध करते थे, तब इन पापी राक्षसों के मरने पर भी इतना पुण्य नहीं हो रहा था, कि राक्षसों द्वारा मार कर फेके गये ऋषियों के कंकाल में से कोई एकाध भी ऋषि जीवित हो जाते। मतलब यह है कि, यह दुष्ट क्षेपककार, सारे राक्षसों का राम द्वारा वध किये जाने के बाद भी इतना पुण्य होना नहीं मानता है, जितना मात्र एक शूद्र का वध कर देने से हो जाता है। इस प्रकार इस दुष्ट क्षेपककार की मंशा स्पष्ट है।

आगे देखें क्षेपककार की कपोल कल्पना–

स्वस्ति प्राप्नुहि भद्रं ते साधु याम नरर्षभ।
अगस्त्याश्रमपदं द्रष्टुमिच्छाम राघव।।
तस्य दीक्षा समाप्ता हि ब्रह्मर्षेः सुमहाद्युतेः।
द्वादशः हि गतं वर्षं जलशय्यां समासतः।।[१]

हे नर श्रेष्ठ! आपका कल्याण हो! अब हम अगस्त्य आश्रम को जा रहे हैं। रघुनन्दन! हम महर्षि अगस्त्य का दर्शन करना चाहते हैं। जल शैया की बारह वर्ष पूर्व ली गयी उनकी दीक्षा समाप्त हो गयी है।

काकुत्स्थ तद् गमिष्यामो मुनिं समभिनन्दितुम्।
त्वं चापि गच्छ भद्रं ते द्रष्टुं तमृषिसत्तमम्।।[२]

---

१. उत्तर का. ७६/१६/१७। २. उत्तर का. ७६/१८।

काकुत्स्थ राम! हम सब उन मुनि का अभिनन्दन करने के लिए जायेंगे! तुम्हारा कल्याण हो! तुम भी उन मुनिश्रेष्ठ का दर्शन करने के लिए जाओ।

स तथेति प्रतिज्ञाय देवानां रघुनन्दनः।
आरुरोह विमानं तं पुष्पकं हेमभूषितम्।।[१]

तब, ऐसा ही करता हूँ! देवताओं से ऐसी प्रतिज्ञा करके स्वर्ण-भूषित उस पुष्पक विमान पर रघुनन्दन चढ़ गये।

ततो देवाः प्रयातास्ते विमानैर्बहुविस्तरैः।
रामोऽप्यनुजगामाशु कुम्भयोनेस्तपोवनम्।।[२]

तत्पश्चात् वे देवता लोग बहुत से विविध प्रकार के बड़े-बड़े विमानों में आरूढ़ हो वहाँ से चले। राम भी उन्हीं के साथ शीघ्रतापूर्वक कुम्भ योनि के तपोवन में चल दिये।

दृष्ट्वा तु देवान् सम्प्राप्तानगस्त्यस्तपसां निधिः।
अर्चयामास धर्मात्मा सर्वांसतानविशेषतः ।।[३]

देवताओं को आया हुआ देखकर। तपोनिधि धर्मात्मा अगस्त्य ने, उन सबकी समान रूप से पूजा की।

प्रतिगृह्य ततः पूजां सम्पूज्य च महामुनिम् ।
जग्मुस्ते त्रिदशा हृष्टा नाकपृष्ठं सहानुगाः ।।[४]

उन महामुनि से पूजित होकर, और उनकी पूजा कर, वे देवगण अपने अनुचरों सहित प्रसन्नता के साथ स्वर्ग को चले गये।

गतेषु तेषु काकुत्स्थः पुष्पकादवरुह्य च।
ततो अभिवादयामास अगस्त्यमृषिसत्तमम् ।।[५]

उन देवताओं के चले जाने पर, राघव राम ने पुष्पक से उतर कर, मुनि श्रेष्ठ अगस्त्य का अभिवादन किया।

सोऽभिवाद्य महात्मानं ज्वलन्तमिव तेजसा।
आतिथ्यं परमं प्राप्य निषसाद नराधिपः ।।[६]

---

१. उत्तर का.७६/१९। २. उत्तर का.७६/२०।
३. उत्तर का.७६/२१। ४. उत्तर का.७६/२२।
५. उत्तर का.७६/२२। ६. उत्तर का.७६/२४।

अपने तेज से प्रज्वलित हो रहे, उन महात्मा का अभिवादन करके, उनका आतिथ्य प्राप्त कर राजा राम आसन पर बैठे।

तमुवाच महातेजाः कुम्भयोनिर्महातपाः।
स्वागतं ते नरश्रेष्ठ दिष्ट्या प्राप्तोऽसि राघव ।।[१]

तब उनसे महातेजस्वी, महातपस्वी कुम्भ योनि में उत्पन्न अगस्त्य ने कहा, नरश्रेष्ठ राघव! आपका स्वागत है। आप यहाँ पधारे, यह मेरे लिए सौभाग्य की बात है।

त्वं मे बहुमतो राम गुणैर्बहुभिरुत्तमैः ।
अतिथिः पूजनीयश्च मम राजन् हृदि स्थितः।।[२]

हे राजन् राम! तुम्हारा मेरे हृदय में बड़ा सम्मान है, आप मेरे पूजनीय अतिथि हैं, और सदा मेरे हृदय मे बसते हैं।

सुरा हि कथयन्ति त्वामागतं शूद्रघातिनम् ।
ब्राह्मणस्य तु धर्मेण त्वया जीवापितः सुतः।।[३]

देवता लोग कहते थे कि, आप शूद्र का वध करके आये हैं। इस धर्म के द्वारा आपने ब्राह्मण पुत्र को जीवित कर दिया।

उष्यतां चेह रजनीं सकाशे मम राघव ।
प्रभाते पुष्पकेण त्वं गन्तासि पुरमेव हि।।[४]

मेरे साथ आप यहाँ आज रात बिताइये। प्रभात में पुष्पक द्वारा अपने नगर को जाइयेगा।

त्वं हि नारायणः श्रीमांस्त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
त्वं प्रभुः सर्वदेवानां पुरुषस्त्वं सनातनः।।[५]

तुम साक्षात् नारायण हो! सबकुछ तुम्हारे में ही प्रतिष्ठित है। तुम सभी देवताओं के प्रभु एवं सनातन पुरुष हो।

मीमांसा- तथ्य यह है कि दक्षिण भारत में कुलाभिमानी दुष्ट राक्षसों का वध करने में, मुख्य भूमिका महर्षि अगस्त्य की है। उन्होंने ही राम को पंचवटी में राक्षसों का वध करने के उद्देश्य से रहने के लिए भेजा था। स्वयं भी कई राक्षसों का वध किया था। यहाँ तक कि रावण का वध करने वाला

---

१. उत्तर का.७६/२५। २. उत्तर का.७६/२६।
३. उत्तर का.७६/२७। ४. उत्तर का.७६/२८। ५. उत्तर का.७६/२९।

बाण भी, महर्षि अगस्त्य ने ही राम को दिया था, और उसी बाण से राम ने रावण को मारा। इसलिए यह क्षेपककार, अपनी कूट कथा में, निर्दोष शम्बूक की हत्या दिखाकर, राम को अगस्त्य का आशीर्वाद दिलाने के लिए उनके आश्रम मे लाने की कूट रचना करता है। और स्वकल्पित अगस्त्य द्वारा स्वकल्पित शूद्रघाती राम को आशीर्वाद दिलाता है।

९-छद्म कथा के कपट को दूर करने के लिए जटायु कथा के संस्कार व रामराज्य का प्रकाश

यह कूट रचना करते हुए दुष्ट क्षेपककार, महर्षि वाल्मीकि की ऐतिहासिक कथा में, राम द्वारा गृद्धराज जटायु की, पिता के समान की गयी महान सेवा को भूल जाता है। जिसके आलोक में इस धूर्त क्षेपककार की, इस कपट रचना का अंधकार क्षणभर में नष्ट हो जायेगा। देखें महर्षि की वह रचना—

पश्य लक्ष्मण गृध्रोऽयमुपकारी हतश्च मे।
सीतामभ्यवपन्नो हि रावणेन वलीयसा।।[१]

हे लक्ष्मण! देखो यह गृध्र जटायु बड़े उपकारी थे। मेरे लिए आज मारे गये। सीता की रक्षा के लिए अपनी सम्पूर्ण शक्ति से लगने पर बलवान् रावण के द्वारा मारे गये।

गृध्रराज्यं परित्यज्य पितृपैतामहं महत्।
मम हेतोरयं प्राणान् मुमोच पतगेश्वरः।।[२]

पिता-पितामहों से प्राप्त महान गृध्र राज्य को त्याग करके, मेरे लिए इन पतगेश्वर ने अपने प्राणों को छोड़ दिया।

सर्वत्र खलु दृष्यन्ते साधवो धर्मचारिणः।
शूराः शरण्याः सौमित्रे तिर्यग्योनिगतेष्वपि।।[३]

हे सुमित्रानन्दन लक्ष्मण! सब जगह शरणागत रक्षक धर्माचारी शूरवीर देखे जाते हैं। निम्न तिर्यग् योनि में भी ऐसे महापुरुषों का अभाव नहीं है।

सीताहरण जं दुःखं न मे सौम्य तथागतम् ।
यथा विनाशो गृध्रस्य मत्कृते च परंतप।।[४]

---

१. वा.रा.अरण्य.६८/२२। २. वा.रा.अरण्य.६८/२३।
३. वा.रा.अरण्य.६८/२४। ४. वा.रा.अरण्य.६८/२५।

हे सौम्य! शत्रु सन्तापकारी लक्ष्मण! सीताहरण का दुख आज मुझे उतना नहीं सता रहा है जितना कि मेरे लिए प्राण त्याग करने वाले, गृध्र जटायु की मृत्यु से हो रहा है।

मीमांसा- इस कथन में राम की परदुख कातरता, सभी प्राणियों का हित चिन्तन आदि उनकी महनीयता के स्पष्ट रूप विद्यमान हैं, जिनपर विचार करते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि, शम्बूक वध की कूट रचना, राम के आदर्श चरित्र को लांछित करने के उद्देश्य से की गयी है। साथ ही जन्मना जातिवाद की स्थापना, एवं उसमें ऊँच-नीच की भावना पैदा करने का लक्ष्य भी स्पष्ट है।

राजा दशरथः श्रीमान् यथा मम महायशाः।
पूजनीयश्च मान्यश्च तथायं पतगेश्वरः।।[1]

महायशस्वी राजा दशरथ जैसे मेरे मान्य और पूजनीय हैं, उसी प्रकार यह पक्षिराज भी मेरे मान्य और पूज्य हैं।

सौमित्रे हर काष्ठानि निर्मथिष्यामि पावकम् ।
गृध्रराजं दिधक्ष्यामि मत्कृते निधनं गतम्।।[2]

हे सुमित्रानन्दन! सूखे काष्ठ ले आओ। मैं अरणि मंथन कर आग निकालूँगा और मेरे लिए अपने प्राण देने वाले इन गृध्रराज का अग्नि संस्कार करूँगा।

नाथं पतगलोकस्य चितामारोपयाम्यहम् ।
इमं धक्ष्यामि सौमित्रे हतं रौद्रेण रक्षसा।।[3]

हे सुमित्रा कुमार! उस रौद्र राक्षस के द्वारा मारे गये, इन पक्षिराज को मैं चिता पर चढ़ाऊँगा और इनका दाह संस्कार करूँगा।

या गतिर्यज्ञशीलानामाहिताग्नेश्च या गतिः।
अपरावर्तिनां या च या च भूमिप्रदायिनाम्।।
मया त्वं समनुज्ञातो गच्छ लोकाननुत्तमान्।
गृध्रराज महासत्त्व संस्कृतश्च मया व्रज।।[4]

---

१. वा.रा.अरण्य.६८/२६। २. वा.रा.अरण्य.६८/२७।
३. वा.रा.अरण्य.६८/२८। ४. वा.रा.अरण्य.६८/२९,३०।

फिर वे जटायु को संबोधित कर बोले, हे महान सत्वशाली गृध्रराज! यज्ञशील, अग्निहोत्री, युद्ध से न भागने वाले, और भूमि का दान करने वाले, महापुरुषों की जो उत्तम गति होती है, मेरी आज्ञा से उन्हीं सर्वश्रेष्ठ उत्तम लोकों को तुम जाओ। मेरे द्वारा अंतिम संस्कार किये जाने से तुम्हारी वही सद्गति हो।

एवमुक्तवा चितां दीप्तामारोप्य पतगेश्वरम् ।
ददाह रामो धर्मात्मा स्वबन्धुमिव दुखितः।।[१]

इस प्रकार कहकर धर्मात्मा राम ने, दुःखित हो पक्षिराज के शरीर को चिता पर रखकर, उसमें आग लगाकर, अपने बन्धु के समान उनका दाह संस्कार किया।

मीमांसा- यहाँ भगवान राम ने सभी जातियों, सभी वर्गों में महापुरुषों का जन्म होने की बात कहते हुए किसी वर्ग अथवा जाति के श्रेष्ठ या हेय होने का निषेध तो किया ही है, साथ ही निम्न कुल में उत्पन्न हुए, जटायु को अपने पिता के समान सम्मान देते हुए, यह भी कहा कि, दूसरे की नारी की रक्षा के लिए, अपना प्राण न्योछावर कर देने वाले, इन गृध्रराज के मृत्यु का दुःख, मुझे सीताहरण के दुख से ज्यादा दुःखी कर रहा है, इस दुःख के सामने सीताहरण का दुःख कम हो गया है। वे निम्न जाति में उत्पन्न गृध्रराज को, यज्ञ, अग्निहोत्र, अतिथि सेवा आदि सभी उत्तम सत्कर्म करने वाले लोगों की, जो उत्तम गति होती है वह उत्तम गति प्रदान करते हैं। इस प्रकार राम का जीवन, जन्मना, जाति, वर्ग, सम्प्रदाय से बहुत उपर उठकर, सत्कर्मों को महानता प्रदान करने वाला आदर्श जीवन है। इन पवित्र आदर्शों के विरोधी दुष्टों ने, इन आदर्शों को ढकने के लिए, शम्बूक वध जैसी अत्यन्त घृणित कूट रचना, रामायण में उत्तरकाण्ड के नाम से जोड़ दी। मूलतः यह कूट रचना, पापात्मा क्षेपककार, भगवान राम के प्रति घृणा उत्पन्न करने के लिए, ब्राह्मण शूद्र के बीच में तथा क्षत्रिय और शूद्र के बीच में द्वेष उत्पन्न करने के लिए, कलुषित प्रयास करता है। वर्तमान समय में उसके प्रयास का लोक में स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। इस विषय में विद्वानों द्वारा सावधानीपूर्वक चिंतन करना चाहिए। ये क्षेपककार दुष्ट कलुषित मानसिकता

---

१. वा.रा.अरण्य. ६८/३१ ।

के थे, इसलिए उन्होंने ऐसा कुकृत्य किया, यह आश्चर्यजनक नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि, जन-जन के प्राणों मे बसने वाले रामायण में, आज तक इन क्षेपकों को हम बिना विचार किये माने हुए चले आ रहे हैं। जिनमें थोड़ी भी धार्मिकता है उन सभी सज्जन महापुरुषों को, एकजुट हो, अपने पवित्र ग्रन्थों से, ऐसे कूटरचित प्रक्षेपों को सन्नद्ध होकर निकाल देना चाहिए।

हम सब जानते हैं कि, विश्वामित्र के यज्ञ में राक्षस, रक्त, मांस, मज्जा आदि फेक कर यज्ञध्वंस कर देते थे। यज्ञ का ही नाम अध्वर है जिसका अर्थ होता है, जहाँ किसी प्रकार की हिंसा न की जाय। ऐसे पवित्र अध्वर में राक्षस मारीच आदि जब रक्त-मांस-मज्जा आदि फेंक देते थे, तो किसी भी प्रकार की हिंसा से रहित यज्ञ में, हिंसा के अंश फेंक देने से वह यज्ञ नष्ट हो जाता था। ऐसी परिस्थिति में ही विश्वामित्र, राम और लक्ष्मण को महाराज दशरथ से माँगकर लाये थे। जहाँ उन्होंने उन राक्षसों को मारकर यज्ञ की रक्षा की।

१० - रामायण में रीक्ष, वानर और गृध्र नाम से जानी जाने वाली वनवासी मनुष्यों की ही जातियाँ थीं।

हम देखते हैं कि, वनवास काल में भगवान राम ने रीक्ष, वानर और गृध्र जटायु आदि वनवासी मानव समुदाय का अपने चरित्र, प्रेम और आत्मीय भाव से संग्रह किया। रीक्ष, वानर आदि मनुष्य जाति के थे, यह तथ्य भी रामायण में स्पष्ट है। रामराज्य के अभिषेक के समय कही गयी वाल्मीकि रामायण की ये बातें यहाँ इस तथ्य को स्पष्ट करती हैं—

प्रतिकर्म च सीतायाः सर्वा दशरथस्त्रियः।
आत्मनैव तदा चक्रुर्मनस्विन्यो मनोहरम्।।[१]

उस समय महाराज दशरथ की सभी मनस्वी रानियों ने, स्वयं अपने हाथों से सीता का मनोहर शृंगार किया।

ततो वानरपत्नीनां सर्वासामेव शोभनम् ।
चकार यत्नात् कौशल्या प्रहृष्टा पुत्रवत्सला।।[२]

तदनन्तर पुत्र वत्सला कौशल्या ने, अत्यन्त हर्ष और उत्साह के साथ सभी वानर पत्नियों का शृंगार किया।

मीमांसा- वाल्मीकि के इस कथन से स्पष्ट है कि, ये वानर और वानर

---

१. वा.रा.युद्ध.१२८/१७। २. वा.रा.युद्ध.१२८/१८।

फिर वे जटायु को संबोधित कर बोले, हे महान सत्वशाली गृध्रराज! यज्ञशील, अग्निहोत्री, युद्ध से न भागने वाले, और भूमि का दान करने वाले, महापुरुषों की जो उत्तम गति होती है, मेरी आज्ञा से उन्हीं सर्वश्रेष्ठ उत्तम लोकों को तुम जाओ। मेरे द्वारा अंतिम संस्कार किये जाने से तुम्हारी वही सद्गति हो।

एवमुक्त्वा चितां दीप्तामारोप्य पतगेश्वरम् ।
ददाह रामो धर्मात्मा स्वबन्धुमिव दुखितः।।[१]

इस प्रकार कहकर धर्मात्मा राम ने, दुःखित हो पक्षिराज के शरीर को चिता पर रखकर, उसमें आग लगाकर, अपने बन्धु के समान उनका दाह संस्कार किया।

मीमांसा- यहाँ भगवान राम ने सभी जातियों, सभी वर्गों में महापुरुषों का जन्म होने की बात कहते हुए किसी वर्ग अथवा जाति के श्रेष्ठ या हेय होने का निषेध तो किया ही है, साथ ही निम्न कुल में उत्पन्न हुए, जटायु को अपने पिता के समान सम्मान देते हुए, यह भी कहा कि, दूसरे की नारी की रक्षा के लिए, अपना प्राण न्योछावर कर देने वाले, इन गृध्रराज के मृत्यु का दुःख, मुझे सीताहरण के दुख से ज्यादा दुःखी कर रहा है, इस दुःख के सामने सीताहरण का दुःख कम हो गया है। वे निम्न जाति में उत्पन्न गृध्रराज को, यज्ञ, अग्निहोत्र, अतिथि सेवा आदि सभी उत्तम सत्कर्म करने वाले लोगों की, जो उत्तम गति होती है वह उत्तम गति प्रदान करते हैं। इस प्रकार राम का जीवन, जन्मना, जाति, वर्ग, सम्प्रदाय से बहुत उपर उठकर, सत्कर्मों को महानता प्रदान करने वाला आदर्श जीवन है। इन पवित्र आदर्शों के विरोधी दुष्टों ने, इन आदर्शों को ढकने के लिए, शम्बूक वध जैसी अत्यन्त घृणित कूट रचना, रामायण में उत्तरकाण्ड के नाम से जोड़ दी। मूलतः यह कूट रचना, पापात्मा क्षेपककार, भगवान राम के प्रति घृणा उत्पन्न करने के लिए, ब्राह्मण शूद्र के बीच में तथा क्षत्रिय और शूद्र के बीच में द्वेष उत्पन्न करने के लिए, कलुषित प्रयास करता है। वर्तमान समय में उसके प्रयास का लोक में स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। इस विषय में विद्वानों द्वारा सावधानीपूर्वक चिंतन करना चाहिए। ये क्षेपककार दुष्ट कलुषित मानसिकता

---

१. वा.रा.अरण्य. ६८/३१ ।

के थे, इसलिए उन्होंने ऐसा कुकृत्य किया, यह आश्चर्यजनक नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि, जन-जन के प्राणों मे बसने वाले रामायण में, आज तक इन क्षेपकों को हम बिना विचार किये माने हुए चले आ रहे हैं। जिनमें थोड़ी भी धार्मिकता है उन सभी सज्जन महापुरुषों को, एकजुट हो, अपने पवित्र ग्रन्थों से, ऐसे कूटरचित प्रक्षेपों को सन्नद्ध होकर निकाल देना चाहिए।

हम सब जानते हैं कि, विश्वामित्र के यज्ञ में राक्षस, रक्त, मांस, मज्जा आदि फेक कर यज्ञध्वंस कर देते थे। यज्ञ का ही नाम अध्वर है जिसका अर्थ होता है, जहाँ किसी प्रकार की हिंसा न की जाय। ऐसे पवित्र अध्वर में राक्षस मारीच आदि जब रक्त-मांस-मज्जा आदि फेंक देते थे, तो किसी भी प्रकार की हिंसा से रहित यज्ञ में, हिंसा के अंश फेंक देने से वह यज्ञ नष्ट हो जाता था। ऐसी परिस्थिति में ही विश्वामित्र, राम और लक्ष्मण को महाराज दशरथ से माँगकर लाये थे। जहाँ उन्होंने उन राक्षसों को मारकर यज्ञ की रक्षा की।

१० - रामायण में रीक्ष, वानर और गृध्र नाम से जानी जाने वाली वनवासी मनुष्यों की ही जातियाँ थीं।

हम देखते हैं कि, वनवास काल में भगवान राम ने रीक्ष, वानर और गृध्र जटायु आदि वनवासी मानव समुदाय का अपने चरित्र, प्रेम और आत्मीय भाव से संग्रह किया। रीक्ष, वानर आदि मनुष्य जाति के थे, यह तथ्य भी रामायण में स्पष्ट है। रामराज्य के अभिषेक के समय कही गयी वाल्मीकि रामायण की ये बातें यहाँ इस तथ्य को स्पष्ट करती हैं—

प्रतिकर्म च सीतायाः सर्वा दशरथस्त्रियः।
आत्मनैव तदा चक्रुर्मनस्विन्यो मनोहरम्।। [१]

उस समय महाराज दशरथ की सभी मनस्वी रानियों ने, स्वयं अपने हाथों से सीता का मनोहर शृंगार किया।

ततो वानरपत्नीनां सर्वासामेव शोभनम् ।
चकार यत्नात् कौशल्या प्रहृष्टा पुत्रवत्सला।। [२]

तदनन्तर पुत्र वत्सला कौशल्या ने, अत्यन्त हर्ष और उत्साह के साथ सभी वानर पत्नियों का शृंगार किया।

मीमांसा- वाल्मीकि के इस कथन से स्पष्ट है कि, ये वानर और वानर

---

१. वा.रा.युद्ध.१२८/१७। २. वा.रा.युद्ध.१२८/१८।

पत्नियाँ मनुष्य जाति की ही थीं। वन में रहने के कारण और वन के वृक्ष सम्बंधी कार्यों में दक्षता के कारण, उन्हें वानर कहा जाता था। आज भी वनवासियों में वानर, भालू और गिद्ध नाम की मानव जातियाँ विद्यमान हैं, जिससे यह तथ्य स्पष्ट है कि, यह सभी मनुष्यों की जातियाँ ही थीं। न कि वानर, भालू आदि पशु जातियाँ अथवा गृध्र आदि पक्षी जातियाँ।

इससे यह भी स्पष्ट है कि, राम ने वनवासी मनुष्यों का संग्रह कर कुलाभिमानी दुश्चरित्र, सज्जनों को दुखदायी, दुष्ट रावण आदि राक्षसों को मारकर, लोक में रामराज्य की स्थापना की। जहाँ सभी वर्णों के सभी मनुष्य प्रेमपूर्वक रहते थे। वे धर्म, सच्चरित्रता में राम का ही अनुसरण करते हुए, आपस में संदेह नहीं करते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी लोभ रहित हो, अपने-अपने कार्यों को अच्छी तरह से करते थे। वे अपने-अपने कार्य से ही संतुष्ट थे। इसलिए रामराज्य सर्वसुख सम्पन्न था, जैसा कि महर्षि वाल्मीकि लिखते हैं—

रामो रामो राम इति प्रजानामभवन् कथाः।
राम भूतं जगत्भूद् रामे राज्यं प्रशासति।।[१]

राम के राज्य करते हुए प्रजा में राम की, राम की और केवल राम की ही कथा होती है। यह सारा जगत राममय हो गया है।

नित्यमूला नित्यफलास्तरवस्तत्र पुष्पिताः।
कामवर्षी च पर्यन्यः सुखस्पर्शश्च मारुतः।।[२]

वृक्ष नित्य मूल, फूल और फल से सम्पन्न हैं। बादल ऋतुओं की आवश्यकता अनुसार बरसते हैं। वायु का स्पर्श सुखद रहता है।

ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः शूद्रा लोभविवर्जिताः।
स्वकर्मसु प्रवर्तन्ते तुष्टाः स्वैरेव कर्मभिः।[३]

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी लोभ से रहित हैं। सभी अपना-अपना कर्म करते हैं, और अपने कर्म से संतुष्ट हैं।

आसन् प्रजा धर्मपराः रामे शासति नानृताः।
सर्वे लक्षणसम्पन्नाः सर्वे धर्मपरायणाः।।[४]

---

१. वा.रा.युद्ध.१२८/१०२।
२. वा.रा.युद्ध.१२८/१०३।
३. वा.रा.युद्ध.१२८/१०४।
४. वा.रा.युद्ध.१२८/१०५।

राम के शासन में सम्पूर्ण प्रजा धर्मपरायण हो गयी। किसी प्रकार का कोई झूठ नहीं है, सभी लोग शुभ लक्षणों से सम्पन्न और धर्मपरायण हैं।

मीमांसा– यहाँ महर्षि वाल्मीकि ने लट् लकार का प्रयोग किया। जिसका वर्तमान काल में ही प्रयोग किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि, महर्षि वाल्मीकि रामराज्य के प्रत्यक्ष द्रष्टा थे। उनके इन श्लोकों से यह भी स्पष्ट है कि, जिस प्रकार के उत्कृष्ट राज्य-स्थापना की वेदों में अपेक्षा की गयी है वे सभी अपेक्षाएँ भगवान राम के राम राज्य में स्थापित हो गयीं। वेदों की अकांक्षा किस प्रकार के उत्कर्ष की है। यह इस वेद मंत्र में ही देखें—

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्।।[१]

हे परमात्मन्! हमारे ब्राह्मणों-आचार्यों-शिक्षकों में तेजस्विता स्थापित करें। हमारे राजन्यों, प्रशासनिक-न्यायिक अधिकारियों में तेजस्विता स्थापित करें। हमारे वैश्यों-किसानों और वाणिज्य कर्म में लगे लोगों में तेजस्विता स्थापित करें, हमारे शूद्रों-शिल्पियों एवं श्रमिकों में तेजस्विता स्थापित करें। हे परमात्मन् ! मुझमें तेज से तेजस्विता स्थापित करें।

मीमांसा- यहाँ मंत्रद्रष्टा ऋषि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सबके साथ आत्मीय भाव रखता है। सबको अपने में देखता है, और सबमें अपने को देखता है। इसलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सबकी समान रुप से उन्नति की प्रार्थना का दर्शन कर पाता है। यदि वैदिक ऋषि इस समय हमारे बीच में आ जायें तो वे हमारे बीच में जन्म के आधार पर हम लोगों द्वारा ही पैदा की हुई, इस ऊँच-नीच की खाई को देखकर, हम सबसे घृणा करने लगेंगे। उनके अन्तर्मन को अत्यन्त कष्ट पहुँचेगा कि, यह हमारी संतानों का कितना पतन हो गया है।

जिस प्रकार से भगवान राम ने सम्पूर्ण लोक की, राक्षस रहित करके रक्षा की। उसी प्रकार पवित्र शास्त्रों में, हमारे सामरस्य और संस्कृति का विनाश करने के लिए, राक्षसी मानसिकता के दुष्टों द्वारा प्रक्षेपित कूट रचना को, हम लोगों द्वारा निकाला जाना चाहिए। इन क्षेपकों को निकालने के लिए, भगवान के भक्त और विद्वान् लोग संन्नद्ध हो जायँ। हम सब लोग

---

१. यजुर्वेद.मा.सं.१८/४८।

मिलकर लोकोपकार के लिए, पवित्र शास्त्रों से वैदिक जीवन मूल्यों की स्थापना करें जिससे रामायण सुनने का फल, कौशल्या आदि जीवित पुत्रों की माताओं के समान, हमारी मातायें भी मातृ गौरव को प्राप्त हों, जैसा कि महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—

राघवेण यथा माता सुमित्रा लक्ष्मणेन च।
भरतेन च कैकेयी जीवपुत्रास्तथा स्त्रियः।।
भविष्यन्ति सदानन्दाः पुत्रपौत्रसमन्विताः।
श्रुत्वा रामायणमिदं दीर्घमायुश्च विन्दति।।[१]

जैसे राम से कौशल्या, लक्ष्मण शत्रुघ्न से सुमित्रा और भरत से कैकेयी, जीवित पुत्रों की मातायें हुईं। उसी प्रकार से यह रामायण कथा सुनकर, स्त्रियाँ जीवित पुत्रों की मातायें होंगी। साथ ही सुखपूर्वक लम्बी आयु प्राप्त कर, पुत्रों और पौत्रों से युक्त हो, सदा आनन्दित रहेंगी।

मीमांसा–यहाँ ग्रन्थकार महर्षि वाल्मीकि ने, इस रामायण कथा को पढ़ने एवं सुनने का फल बताते हुए यह स्पष्ट किया कि राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न जैसे सच्चरित्र पुत्रों की मातायें ही, जीवित मातायें हैं। अर्थात् जिनकी संतानें राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न आदि को आदर्श मानकर, उस प्रकार का सदाचरण युक्त पवित्र जीवन नहीं जीती हैं, मानों उन्होंने मुर्दा पैदा किया है। तथ्य स्पष्ट है कि इन सामान्य मनुष्यों में से ही राम आदि के सामान सच्चरित्र जीवन जीने वाले महापुरुष पैदा होते हैं। आदि कवि का संदेश स्पष्ट है कि, उनके द्वारा लिखी हुई इस पवित्र रामायण का जो श्रवण करेंगे, वे लोग अपना जीवन रामादि को आदर्श मानकर, उसी प्रकार सदाचरण युक्त बनाने का प्रयास करेंगे। जो स्त्री-पुरुष इस रामायण को सुनेंगे, वे रामादि के समान अपनी संतानों को उच्च सदाचरण युक्त जीवन जीने की शिक्षा देंगे। साथ ही स्वयं भी इन उच्च आदर्शों को अपने जीवन में उतारेंगे। स्त्रियाँ सीता, अनसूया, कौशल्या, सुमित्रा आदि के समान सती-साध्वी होंगी।

---

१. वा.रा.युद्ध. १२८/११०,१११।

अष्टम अध्याय
वैदिक वर्णव्यवस्था सहयज्ञ

१- वेदों के अनुसार चातुर्वण्य द्वारा संपादित सत्कर्म ही, ज्योतिष्टोम अथवा चतुष्टोम यज्ञ है।

चारों वर्णों के द्वारा मिलकर, समाज की उन्नति के लिए किया जाने वाला सत्कर्म ही, मूलतः चतुष्टोम या ज्योतिष्टोम यज्ञ होता है, जैसा कि इस ऐतरेय श्रुति में वर्णित है—

''ज्योतिष्टोम एवाग्निष्टोमः स्याद् । ब्रह्म वै स्तामानां त्रिवृत् , क्षत्रं पञ्चदशः, ब्रह्म खलु वै क्षत्रात्पूर्वं, ब्रह्म पुरस्तान्म उग्रं राष्ट्रमव्यथ्यमसदिति, विशः सप्तदशः शौद्रोवर्ण एकविंशो, विशं चैवास्मै तच्छौद्रञ्च वर्णमनुवर्त्मानौ कुर्वन्ति।

अथ तेजो वै स्तामानां त्रिवृत् , वीर्यं पञ्चदशः, प्रजातिः सप्तदशः, प्रतिष्ठैकविंशः। तदेनं तेजसा वीर्येण प्रजात्या प्रतिष्ठयाऽन्ततः समर्द्धयति। तस्माज्ज्योतिष्टोमः स्यात्।[१]''

ज्योतिष्टोम एव अग्निष्टोमः स्यात्- ज्योतिष्टोम ही अग्निष्टोम होता है। **ब्रह्म वै स्तोमानां त्रिवृत्** - ब्रह्म अर्थात् ज्ञान ही इन स्तोमों का त्रिवृत् है।

मीमांसा- ज्ञान ही मानव समुदाय के विकास के लिए समर्पित कर्मों का त्रिवृत् स्तोम होता है। स्तोम का अर्थ स्तुति है, राष्ट्र की, समाज की प्रथम आवश्यकता सभी बालक-बालिकाओं को ज्ञान-सम्पन्न बनाने की होती है। इस ज्ञान-सम्पन्न बनाने के कर्म में लगा हुआ शिक्षक-ब्राह्मण अपने विद्यार्थियों-ब्रह्मचारियों को पढ़ाता है। प्रथम बार पढ़ाने के बाद कुछ छात्रों की समझ में न आने पर दुबारा पढ़ाता है। फिर भी कुछ की समझ में विषय स्पष्ट न होने पर, उनकी समझ को दृढ़ करने के लिए तिबारा भी पढ़ाता है। इस प्रकार वह छात्रों के एक समूह को तीन बार पढ़ाने के बाद, उनके ज्ञान

---
१. ऐतरेय ब्रा. ३६/४।

सम्पन्न होने पर अपने शिक्षा देने के कार्य से विराम नहीं लेता। बल्कि उसके बाद आने वाले ब्रह्मचारी समूह को, उसी प्रकार तीन-तीन बार में शिक्षा देता रहता है। यह शिक्षा-दान की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। इसी निरन्तरता का प्रतीक है वृत्त, इसलिए श्रुति ने इसे त्रिपाठ न कहकर त्रिवृत् स्तोम कहा। इस प्रकार त्रिवृत् स्तोम का अर्थ हुआ शिक्षण रूप में राष्ट्र व समाज रूपी परमात्मा की त्रिवृत् स्तुति।

क्षत्रं पञ्चदशः – प्रशासनिक व्यवस्था द्वारा समाज, राष्ट्र का संरक्षण ही **पंचदश स्तोम** है।

मीमांसा- समाज की दूसरी प्रमुख आवश्यकता, न्यायपूर्वक समाज के नैतिक लोगों की रक्षा करना एवं समाज में न्याय, नैतिकता और सदाचरण की स्थापना करना है। इसलिए राष्ट्राध्यक्ष राजा, प्रशासनिक एवं न्यायिक अधिकारियों को, और इस कार्य में लगे हुए समूह को, श्रुति क्षत्रिय कहती है। दुष्टों और अपराधियों से राष्ट्र की और राष्ट्र के निवासियों की रक्षा में लगा हुआ प्रशासनिक राजन्य-क्षत्रिय अपनी पञ्च ज्ञानेन्द्रियों, पञ्च कर्मेन्द्रियों और अपने पञ्च प्राणों से पूर्ण सचेत होकर सन्नद्ध रहता है। आवश्यकतानुसार राष्ट्र की, व रक्षणीय की, दुष्टों व अपराधियों से रक्षा के लिए, अपने प्राणों को भी समर्पित कर देता है। इसी प्रकार न्यायाधीश भी, पूर्ण सचेत होकर ही सही न्याय कर पाता है। श्रुति कह रही है कि अपनी पञ्च ज्ञानेन्द्रियों, पञ्च कर्मेन्द्रियों और पञ्च प्राणों के द्वारा इन प्रशासनिक अधिकारियों अर्थात् क्षत्रियों के द्वारा इस राष्ट्र व समाजरूप परमात्मा की सेवा करना ही, पञ्चदश स्तुति है। यही क्षत्रियों का पञ्चदश स्तोम है।

ब्रह्म खलु वै क्षत्रात्पूर्वम– निश्चय ही प्रशासनिक सामर्थ्य का उपयोग करने से पूर्व, ज्ञानात्मक विमर्श करना अत्यन्त आवश्यक है। ज्ञानपूर्वक ही सामर्थ्य का सदुपयोग होता है।

ब्रह्म पुरस्तान्म उग्रं राष्ट्रमव्यथ्यमसदिति– ज्ञानपूर्वक सामर्थ्य का सदुपयोग करता हुआ हमारा राष्ट्र, हमारा समाज, उग्र और व्यथित न हो।

मीमांसा– यहाँ स्पष्ट है कि, ज्ञान रहित शक्ति का केवल दुरुपयोग हो सकता है। उसका सदुपयोग तो ज्ञानपूर्वक ही होगा। ज्ञानरहित शक्ति का दुरुपयोग होने पर, राष्ट्र व्यथित होकर उग्र हो जायेगा। समाज में अव्यवस्था

फैल जायेगी। इसलिए ज्ञानपूर्वक ही, सामर्थ्य का उपयोग, करने का उपदेश श्रुति द्वारा किया गया है।

विशः सप्तदशः – कृषि वाणिज्यात्मक वैश्य कर्म ही सप्तदश स्तोम है।

मीमांसा– लोक और राष्ट्र के विकास के लिए, उन्नत कृषि और नैतिक वाणिज्य कर्म में लगे लोगों का "**सप्तदश स्तोम है।**" बारह महीने और पाँच ऋतुयें मिलकर, सप्तदश अर्थात् सत्रह होते हैं। ऋग्वेद में पाँच ऋतुओं की ही प्रमुखता मानी गयी है। वहीं यह स्पष्ट किया गया है कि, वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमंत और शिशिर इन छः ऋतुओं में से शिशिर के २० दिन जिनमें ठण्डी बनी रहती है, उन्हें हेमन्त में जोड़ देने से और शेष ४० दिन समशीतोष्ण होने से, वसंत में जोड़ देने से, मुख्यतः ५ ऋतुयें ही होती हैं। इस प्रकार १२ महीने और ५ ऋतुयें मिलकर सप्तदश होते हैं। सम्पूर्ण कृषि, ऋतु आश्रित होती है, और वाणिज्य कर्म कृषि के अनुसार चलता है। इस प्रकार ये दोनों ही मूलतः आर्तव महीनों और ऋतुओं पर आश्रित हैं। इस कर्म में लगे हुए लोगों को सावधानीपूर्वक, ऋतुओं का ध्यान रखते हुए, तद्नुसार अपने कर्म का क्रियान्वयन करते हुए ही, सफलता प्राप्त होती है। पूरी निष्ठा और नैतिकतापूर्वक, इस कर्म में लगे लोगों द्वारा, यह राष्ट्र की १२ महीने और ५ ऋतुओं में निरन्तर गतिमान सेवा ही, राष्ट्ररूप परमात्मा की सप्तदश स्तुति है। यही इस वैश्य वर्ण का सप्तदश स्तोम है।

शौद्रोवर्ण एकविंशः - लोक में,राष्ट्र में, विविध शिल्पों के विकास के लिए, और प्रत्येक कार्य की सम्यक् उन्नति के लिए, किया जाने वाला तप-श्रम रूप शौद्रवर्णात्मक सत्कर्म ही, एकविंश स्तोम है।

मीमांसा- बारह महीने, पाँच ऋतुयें, मन, बुद्धि, चित्त और आत्मा मिलकर एकविंश (२१) इक्कीस होते हैं। विविध शिल्पों में लगे हुए लोगों को, ऋतुओं के साथ-साथ, मन, बुद्धि, चित्त और आत्मा को भी, अपने इस कर्म में समर्पित करना होता है। जैसे कुम्हार को उचित मिट्टी की उपलब्धता, उसे अपने कार्य के योग्य बनाना, फिर उसे चाक चलाकर, पूर्ण सावधानी से बुद्धिपूर्वक चेतना में जागृत कल्पना को, मूर्त रूप देना होता

है इसी प्रकार बढ़ई, लोहार, स्वर्णकार, कलवार आदि विविध शिल्पों में लगे हुए लोग, अपने इस समर्पित कर्म के द्वारा राष्ट्ररूपी, समाजरूपी परमात्मा की एकविंश स्तुति में लगे हुए हैं। उनकी समर्पित बुद्धि कौशलपूर्ण सन्नद्धता से ही, नित्य नव-नव शिल्पों का विकास होता रहता है। आज की सम्पूर्ण तकनीकी शिक्षा, इस शूद्र वर्ण का ही उत्कृष्ट विकास है जिसे आधुनिक भाषा में इंजीनियरिंग कहते हैं। दुर्भाग्य से जन्मना इस वर्ग को हेय बनाने के कुप्रयास ने, हमारी इस क्षेत्र में प्रगति को बहुत पीछे कर दिया। इतना ही नहीं, वेदों में महनीय रूप में वर्णित इस वर्ग को, जिसमें शिक्षा का प्रमुख महत्व था, शिक्षा से दूर कर हमने न केवल इस वर्ग को क्षति पहुँचायी, बल्कि इस राष्ट्र को भी बहुत ही क्षति पहुँचायी है। हमारे पूर्वज पारद्रष्टा ऋषियों ने, यह कल्पना भी कभी नहीं की होगी, कि हमारी सन्तानें, इस निम्न स्तर की घटिया सोच से युक्त हो जायेंगी। इस वैदिक मंत्र के आलोक में, हमें अपने सम्पूर्ण कलुषित विचारों का परित्याग कर एकजुट हो, समाज रूपी परमात्मा की उपासना में संलग्न हो जाना चाहिए। आज भी लोक-व्यवहार में जहाँ जिस व्यक्ति में श्रम का उत्कर्ष दिखाई देता है, उसके विषय में वेद की इस श्रुति के अनुवाद रूप में, यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है—**''उन्नीस नहीं इक्कीस है।''**

विशं चैवास्मै तच्छौद्रञ्च वर्णमनुवर्त्मानौ कुर्वन्ति।

अस्मैः- इस राष्ट्र के और मानव समष्टि के विकास के लिए, **विशम्**- कृषकात्मा, **च**- और **शौद्रम्**- श्रमिकात्मा **तत्**-वह सम्पूर्ण प्रजा ही **वर्णमनुवर्त्मानौ कुर्वन्ति**- विविध वर्णों के रूप में अनुवर्तन करती हुई व्यवहृत होती है।

मीमांसा- तथ्य यह है कि, मूलतः सम्पूर्ण प्रजा कृषक और श्रमिक है। इस कृषक और श्रमिक रूप मूल प्रजा में से ही, ज्ञान देने की योग्यता और क्षमता के आधार पर ब्राह्मण तथा ठीक इसी प्रकार इस मूल प्रजा में से ही, ज्ञान की प्रशासनिक योग्यता और क्षमता के आधार पर क्षत्रिय वर्ण का निर्धारण होता है, अर्थात् इन्हीं में से चयन किया जाता है। इस प्रकार मूल रूप से कृषक एवं श्रमिक रूप ये जनसमुदाय ही, इन चारों वर्णों में योग्यता और क्षमता के आधार पर अनुवर्तन करता रहता है। किसान एवं श्रमिक से

शिक्षा देने की योग्यता के आधार पर, शिक्षण कार्य में लगकर ब्राह्मण होता हुआ, प्रशासनिक क्षमता के कार्यों में लगकर क्षत्रिय होता हुआ, अन्यथा अपने मूल कृषि कार्य में लगा हुआ वैश्य, या श्रम एवं शिल्प की योग्यता के आधार पर विविध श्रम शिल्पात्मक शूद्र वर्ण में अनुवर्तन करता रहता है। अर्थात् एक से दूसरे में आता जाता रहता है। इसलिए श्रुति आगे कह रही है—

अथ तेजो वै स्तामानां त्रिवृत् – अब इसीलिए इस प्रकार ज्ञान का तेज, ज्ञान प्राप्त कर उसको अन्यों में भी प्रकाशित कर देने का तेज, राष्ट्रात्मा परमात्मा की स्तुति का त्रिवृत्त स्तोम है, अर्थात् ब्राह्मण वर्ण है।

वीर्यं पञ्चदश :– इसी प्रकार ज्ञान-कौशल से शक्ति का उपयोग करते हुए, प्रजा की अन्याय और अपराध से रक्षा करना, एवं उनमें न्याय नैतिकता पर चलने की सुनिश्चित व्यवस्था करने की सामर्थ्य ही, राष्ट्रात्मा परमात्मा की स्तुति का पञ्चदश स्तोमात्मक क्षत्रिय वर्ण है।

प्रजातिः सप्तदश :– १२ महीनों एवं ५ ऋतुओं की प्रकृति को ठीक-ठीक समझते हुए, कृषि में अधिक से अधिक उत्पादन करना ही, राष्ट्रात्मा परमात्मा का सप्तदश स्तोम रूप वैश्य वर्ण है।

प्रतिष्ठैकविंशः- जीवन की विभिन्न आवश्यकतायें, भोजन बनाने के लिए बर्तन, कृषि के लिए हल, फाल, कुदाल आदि, रहने के लिए घर और उसमें अपेक्षित लकड़ी के दरवाजे आदि के निर्माण की कला के साथ, उन उन कार्यों में दक्षतापूर्ण श्रम करता हुआ अथवा अपेक्षित कार्यों की कलाओं को न जानते हुए, उन-उन कलाओं को जानने वालों के निर्देशन में श्रम करता हुआ, शिल्पी एवं श्रमिक वर्ग ही, राष्ट्र को अपने श्रम पर प्रतिष्ठा प्रदान करता हुआ, राष्ट्र के विकास का मूलभूत आधार बना हुआ, समाज की प्रतिष्ठा रूप एकविंश २१ स्तोमात्मक शूद्र वर्ण ही राष्ट्र विकास की प्रतिष्ठा है।

तद् – इस प्रकार वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र रूप चारों वर्ण ही
एनम् – इस समाज को, इस राष्ट्र को क्रमशः
तेजसा – ज्ञान के तेज के द्वारा
वीर्येण – ज्ञानयुक्त प्रशासनिक सामर्थ्य के द्वारा

प्रजात्या – उन्नत कृषि से प्रकृष्ट उत्पादन के द्वारा

प्रतिष्ठया – उक्त तीनों के विकास के आधारभूत अपेक्षित शिल्पों, तकनीकियों, तकनीकी संसाधनों का विकास करते हुए, उनमें श्रम करते हुए, विकास की प्रतिष्ठा के द्वारा

अन्ततः समर्द्धयति– अन्तिम रूप से उत्कर्ष के शिखर तक समृद्ध करते हैं।

तस्मात् – इसीलिए इस चातुर्वर्ण्य के द्वारा, राष्ट्र के, समाज के, विकास के लिए किया जा रहा यह कर्म

ज्योतिष्टोमः स्यात् – ज्योतिष्टोम याग है

चातुर्वर्ण्य के द्वारा मिलकर लोक की, समाज की सम्यक् उन्नति के लिए, किया जाने वाला ज्योतिष्टोम यागात्मक यह सत्कर्म ही चातुर्वर्ण्य का चतुष्टोम याग होता है, जैसा कि श्रुति स्वयं स्पष्ट करती है—

"चतुष्टोमो भवति। प्रतिष्ठा वै चतुष्टोमः प्रतिष्ठित्यै।"[१]

चतुष्टोमो भवति– इस प्रकार इस लोक की, समाज की, राष्ट्र की उन्नति के लिए चातुर्वर्ण्य के द्वारा सत्यनिष्ठापूर्वक किया जा रहा यह सत्कर्म ही चतुष्टोम याग हो रहा है। स्वयं की और स्वयं के साथ-साथ समाज की, राष्ट्र की, इन चारों वर्णों द्वारा की जा रही प्रतिष्ठा ही, चतुष्टोम है। क्योंकि इन सबकी प्रतिष्ठा के लिए ही चतुष्टोम किया जाता है, इसलिए यह सर्वश्रेष्ठ चतुष्टोम है। निश्चित रूप से स्वयं की, समाज की और राष्ट्र की प्रतिष्ठा के लिए ही यह, चातुर्वर्ण्य व्यवस्था मनीषियों, महर्षियों ने बनायी।

२-वर्णों में सहयोगात्मक और समानता विधायक रथाश्वरूपक

सामवेदीय ताण्ड्य महाब्राह्मण में उपर्युक्त चारों वर्णों के द्वारा मिलकर लोक की समुन्नति के लिए किये जाने वाले सत्कर्म रूप चतुष्टोम याग के विषय में एक बहुत सुन्दर रूपक है—

"यद्वै राजानोऽध्वानं धावयन्ति। ये अश्वानां वीर्यवत्तमास्तान्युञ्जन्ते। त्रिवृत्पञ्चदशः सप्तदश एकविंश एते वै स्तोमानां वीर्यवत्तमास्तानेव युङ्क्ते स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै।[२]**"**

---

१. ताण्ड्य.६/१/१६। २. ताण्ड्य महाब्रा.६/४/१५।

यद्वै राजानोऽध्वानं धावयन्ति–जब राजा लोग मार्ग में प्रतिस्पर्धात्मक दौड़ में निश्चयपूर्वक प्रतिस्पर्धा करते हैं, तब वे **ये अश्वानां वीर्यवत्तमास्तान्युञ्जन्ते**- अपने रथों में जो घोड़े सर्वश्रेष्ठ सामर्थ्य वाले होते हैं, उनको संयुक्त करते हैं। **त्रिवृत्पञ्चदशः सप्तदश एकविंश एते वै स्तोमानां वीर्यवत्तमास्तानेव युङ्क्ते स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै**– उसी प्रकार राष्ट्र के, लोक के, समाज के, आनन्द की समष्टि के लिए, इस राष्ट्र रूप रथ में चातुर्वर्ण्य रूप सर्वश्रेष्ठ अश्व संयुक्त किये गये हैं। तीन-तीन बार शिक्षार्थियों को शिक्षा देने में निरन्तर लगा हुआ त्रिवृत् स्तोम रूप, शिक्षक वर्ग रूप ब्राह्मण वर्ण। पञ्च ज्ञानेन्द्रियों, पञ्च कर्मनेन्द्रियों और पञ्च प्राणों से पूर्ण सावधानीपूर्वक यम, नियम, सत्य, न्याय, निष्ठा इत्यादि की राष्ट्र में स्थापना करता हुआ और अन्याय, अपराध, छल, कपट, धूर्तता आदि से रक्षा करता हुआ, पञ्चदश स्तोम रूप प्रशासनिक वर्गात्मक क्षत्रिय वर्ण, बारह महीनों और पाँच ऋतुओं का भलीभाँति ध्यान रखता हुआ, कृषि कार्यों में पूर्ण सावधानी से लगा हुआ, कृषक समुदायात्मक सप्तदश स्तोम रूप वैश्य वर्ण। बारह महीनों, पाँचों ऋतुओं में अपेक्षित आवश्यकता अनुरूप तकनीकी संसाधनों का निर्माण करता हुआ, और उन संसाधनों से उन-उन अपेक्षित कार्यों में सन्नद्धतापूर्वक, मन, वाणी, शरीर और आत्मा से लगा हुआ, एकविंश स्तोम रूप श्रम शिल्प वर्गात्मक शूद्र वर्ण कहे जाने वाले ये चारों वर्ण ही इस लोकरथ, राष्ट्ररथ के सर्वोत्तम चार घोड़े हैं। समाज को, लोक को, राष्ट्र को सर्वसुख सम्पन्न आनन्द की समग्रता रूप उन्नति के परम वैभव तक पहुचाने के लिए, ये सर्वोत्तम अश्व हैं। इसलिए राष्ट्र को परम वैभव तक पहुँचाने के लिए राष्ट्ररूपी रथ में ये चातुर्वर्ण्य रूप चार अश्व संयुक्त करना अति आवश्यक है।

मीमांसा- यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि, रथ को आगे ले जाने में सभी अश्वों का समान योगदान होता है। सब साथ मिलकर ही वेगपूर्वक रथ को आगे ले जाते हैं। उस समय उन सबकी दौड़ भी समान होती है। तभी समान वेग से रथ दौड़ता है। उनमें आपस में आगे बढ़ने के लिए समान प्रेम होता है। यदि इन घोड़ों में एक दूसरे से अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए झगड़ा शुरू हो जाये, तो रथ नहीं चलेगा, अपितु टूट जायेगा। इसी प्रकार

लोक को, अपने समाज को, स्वर्ग की समष्टि अर्थात् परम वैभव तक ले जाने के लिए, राष्ट्र ही रथ है। और उसी प्रकार इस भारत राष्ट्र रूपी रथ में जुड़े हुए यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रवर्ण रूप चार अश्व, इस राष्ट्र रथ में, इस राष्ट्र को परम वैभव तक ले जाने के लिए, राष्ट्रात्मा ऋषियों ने इसमें संयुक्त किये। इस राष्ट्र रथ में लगे हुए चतुर्वर्णात्मक ये चारों अश्व समान रूप से सर्वोत्कृष्ट हैं। किसी भी वर्ण कर्म का महत्व किसी अन्य वर्ण के कर्म-महत्व से थोड़ा भी कम नहीं है। ये सब अपने-अपने कर्म में दत्तचित्त हुए, अपने-अपने परस्पर सहयोगात्मक कर्म में, साथ-साथ लगे हुए, ही इस राष्ट्र रूपी रथ को परम वैभव तक पहुँचा सकते हैं। इसके विरुद्ध यदि इनमें अपने को एक दूसरे से श्रेष्ठ, अथवा दूसरों को अपने से हेय सिद्ध करने का विवाद शुरू होता है, तो यही इस राष्ट्र के पतन का कारण भी है। जैसा कि इस श्रुति के विरुद्ध, वर्तमान में स्वयंभू ब्राह्मणमन्य, कुछ ब्रह्म बन्धु सिद्ध करने में तत्पर हैं जो विकृत वर्णवाद की व्याख्या द्वारा, स्वयं की श्रेष्ठता स्थापन के कलह से, राष्ट्र के पतन में प्रयासरत हैं। इस प्रकार की कल्पना भी वेदों की एवं वैदिक ऋषियों की नहीं थी, अपितु वे तो चतुष्टोम याग रूप चातुर्वर्ण्य पक्षी को आनन्द के पुण्य लोकों में विचरण करता हुआ देख रहे थे।

३- वैदिक वर्ण समरसता ज्ञापक वैदिक चातुर्वर्ण्य पक्षी

अहो! यह श्रुति भावना कितनी अद्भुत है, जहाँ चारों वर्णों द्वारा अपनी-अपनी निष्ठा से किये जा रहे कर्म द्वारा समग्र मानवता के उत्कर्ष में संलग्नता ही, पवित्र चतुष्टोम यज्ञ है। वहाँ अपने अपने कर्म में सत्यनिष्ठा पूर्वक लगे हुए, ये चारों वर्ण ही उक्त ज्योतिष्टोम रूप चतुष्टोम यज्ञ को सम्पादित करते हुए, समग्र मानवता की उपासना में संलग्न भारतात्मा, राष्ट्रात्मा पक्षी रूप हैं। यह पक्षी ही उड़ता हुआ, समग्र मानवता के चरमोत्कर्ष रूप आनन्दमय पुण्यात्मक शिखरों पर संचरण करता है। जैसा कि श्रुति स्वयं वर्णन करती है—

''पक्षी वा एष स्तोमः।[१]''

---

१. ताण्ड्य.१९/१०/१।

अथवा यह चातुर्वर्ण्य के कर्म रूप चतुष्टोम-ज्योतिष्टोम यज्ञ को सम्पन्न करने में लगा हुआ, चातुर्वर्ण्य के कर्मों के सम्पादन में लगा हुआ, यह मानव समुदाय चातुर्वर्ण्य पक्षी है।

मीमांसा- राष्ट्र को भिन्न-भिन्न कर्मों के करने के लिए लोगों की योग्यता और रुचि के अनुरूप कार्यों का विभाजन करके, उन-उन कार्यों में संलग्न करना रूप वर्ण-व्यवस्था से युक्त करना, राष्ट्र को पंखों से युक्त करना है। ऐसा क्यों करना है? इस तथ्य को श्रुति अगले मंत्र में स्पष्ट कर रही है—

''न वा अपक्षः पक्षिणमाप्नोति। अथैष पक्षी पक्षिणि निधीयते। तस्मात्पक्षिणः पक्षैः पतन्ति।[१]''

क्योंकि बिना पंखों वाला पंख वाले को ऊँचे-ऊँचे शिखरों तक उड़ने में नहीं पा सकता है। यह पक्षी पंखों में ही स्थित रहता है। इसलिए पंखों से ही उड़ता है।

मीमांसा– जिस प्रकार पंख वाले को बिना पंख वाला पक्षी उड़कर नहीं पा सकता है, उसी प्रकार लोगों की क्षमता एवं योग्यता के अनुसार, कर्म विभाग की व्यवस्था से सम्पन्न मानव समुदाय को, राष्ट्र को विकास की, उत्कर्ष की उड़ान में सभी लोगों को कर्म प्रदान करने वाले, कर्म विभाग व्यवस्था से रहित मानव समुदाय वाला राष्ट्र भी नहीं पा सकता है। क्योंकि सभी लोगों को उनकी योग्यता एवं क्षमता के अनुरूप कर्म प्राप्त होने पर और निष्ठापूर्वक उस कर्म करने में ही किसी मानव समुदाय की, राष्ट्र की उन्नति होती है। अपने-अपने कर्मों में लगा हुआ वह राष्ट्र, वह मानव समुदाय निरन्तर विकास एवं आनन्द के उत्कर्ष की ओर बढ़ता रहता है।

पक्षी आकाश में उड़ता है, तो यह भारत राष्ट्रात्मा पक्षी कहाँ उड़ता है? ऐसी आकांक्षा का श्रुति स्वयं समाधान करती है—

''पक्षी ज्योतिष्मान् पुण्यान् लोकान् सञ्चरति।[२]''

यह भारत राष्ट्रात्मा पक्षी विकास के ज्योतिर्मय समस्त राष्ट्र के सुखदायी पुण्यलोकों में संचार करता है। अर्थात् सत्कर्मजन्य विकास के वैभव में उड़ता है।

---

१. ताण्ड्य.१९/१०/३।   २. ताण्ड्य.१९/१०/४।

मीमांसा– विदेशी इतिहासकारों ने इस भारत राष्ट्रात्मा पक्षी को, उन्नति के शिखरों पर परम वैभव में उड़ता हुआ देखा था। इसलिए उन्होंने उस समय, भारत को सोने की चिड़िया कहा था। और सारी दुनियाँ के विदेशी, कालांतर में जब उनका सम्बन्ध भारत से, प्रकृति की किन्हीं घटनाओं के कारण छूट गया, तो भारत की खोज करते रहे। दुनिया जानती है कि, भारत की खोज करता हुआ ही कोलम्बस अमेरिका पहुँच गया, और चिल्लाने लगा की भारत मिल गया, भारत मिल गया। किन्तु वहाँ उस समय वैसा उत्कर्ष न देखकर उन विदेशियों ने जाना कि अभी उन्हें भारत नहीं मिला है। इस कारण उन्होंने आगे भी भारत की खोज जारी रखी और अंत में इस खोज में विदेशी वास्कोडिगामा को सफलता मिली। वह भारत पहुँच गया। क्या इससे ही विश्व के प्राचीनतम वैभव सम्पन्न राष्ट्र भारत की महत्ता स्वयं स्पष्ट नहीं हो जाती? अपितु इसी से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि, कभी विश्व का केन्द्र भारत था और अयोध्या विश्व की प्रथम राजधानी व महाराज मनु सम्पूर्ण विश्व के प्रथम सम्राट थे। जैसा कि वाल्मीकि ने अपनी रामायण में बाली के प्रश्नों के उत्तर में राम द्वारा स्पष्ट घोषित कराया है—

इक्ष्वाकूणामियं भूमिः सशैलवनकानना।
मृगपक्षिमनुष्याणां निग्रहानुग्रहेष्वपि।।
तां पालयति धर्मात्मा भरतः सत्यवानृजुः।
धर्मकामार्थतत्त्वज्ञो निग्रहानुग्रहे रतः।।[१]

गिरि, पर्वत और जंगलों सहित, यह सम्पूर्ण धरती मनु पुत्र इक्ष्वाकुवंशियों की है। पशु, पक्षी और मनुष्यों को आवश्यकता अनुसार व्यवस्थित करने, अपराध पर दंड देने और सत्कर्मों के लिए पुरस्कृत करने का उनका अधिकार है।

इस समय सम्पूर्ण धरती के पालन का केन्द्र महाराज मनु की राजधानी अयोध्या के सिंहासन का दायित्व सरल, सत्यनिष्ठा-सम्पन्न, धर्मात्मा भरत निर्वहन कर रहे हैं।

इस भारत राष्ट्र आत्मा, चातुर्वर्ण्य पक्षी का, उक्त चातुर्वर्ण्य स्तोम

१. वा.रा.किष्किन्धा.१८/६,७।

रूप स्वरूप कैसा है? इस आकांक्षा का समाधान श्रुति आगे के मंत्र में कर रही है—

" त्रिवृत् शिरो भवति।[1]"

त्रिवृत् शिक्षण में लगा हुआ शिक्षण समुदायात्मक ब्राह्मण वर्ण ही इस भारत राष्ट्रात्मा पक्षी का शिर है।

"अन्नं वा अर्को वा ब्रह्मवर्चसं गायत्र्यन्नाद्यं चैवेभ्यो ब्रह्मवर्चसञ्च मुखतो दधाति।[2]"

क्योंकि अन्न, जल और ज्ञान की तेजस्विता, यह भारत राष्ट्रात्मा पक्षी, ज्ञान-विज्ञान का शब्दों से प्रकाश करने वाले, ज्ञानदाता मुख से ही प्राप्त करता है। इसलिए यह ब्रह्मकुल, ब्रह्मचारी, ब्रह्मचर्या और ब्रह्म के रूप में गतिमान ब्राह्मण वर्ण अर्थात् शिक्षा कुल, शिक्षालय, विश्वविद्यालय, शिक्षार्थी, शिक्षाचर्या में, ज्ञान की वृद्धि के रूप में संलग्न इस देश का शिक्षण समुदाय ही इस भारत राष्ट्रात्मा पक्षी का मुख है।

"पञ्चदशसप्तदशौ पक्षौ भवतः। पक्षाभ्यां वै यजमानो वयो भूत्वा स्वर्गं लोकमेति।"

पञ्च ज्ञानेन्द्रियों, पञ्च कर्मेन्द्रियों, पञ्चप्राणों की पूर्ण सन्नद्धता से, राष्ट्र की प्रशासनिक एवं रक्षा सेवा में लगा हुआ, पञ्चदश स्तोमरूप प्रशासक वर्गात्मक क्षत्रिय वर्ण, और बारह महीनों व पाँच ऋतुओं में पूर्ण सावधानी से जागृत, देश के कृषि एवं वाणिज्य में लगा हुआ, कृषक एवं वाणिज्य समुदायात्मक वैश्य वर्ण ही, इस भारत राष्ट्रात्मा चातुर्वर्ण्य पक्षी के दोनों पंख हैं। क्योंकि प्रशासन एवं कृषि वाणिज्य समुदायात्मक, इन दोनों पंखों के द्वारा ही, यह मानव समुदाय उन्नति के मूर्तिमान पंखों द्वारा, सम्पूर्ण समाज के परम वैभव तक पहुँचने के परम आनन्द को प्राप्त करता है।

श्रुति चातुर्वर्ण्य के चतुर्थ वर्ण का महत्व दर्शाते हुए कहती है—

"एकविंशः पुच्छं भवति।[3]"

बारह महीनों और पाँच ऋतुओं में मन, वाणी, कर्म और आत्मा से पूर्ण तल्लीनतापूर्वक, स्वयं को, समाज को और राष्ट्र को, आधारभूत रूप से सक्षम बनाने में लगा हुआ, एकविंश स्तोम रूप, कृषि, वाणिज्य, रक्षण

१. ताण्ड्य.५/१/२। २. ताण्ड्य.५/१/९। ३. ताण्ड्य.५/१/१६।

प्रशासन आदि सभी कर्मों के लिए, अपेक्षित संसाधनों, उपकरणों, तकनीकी यंत्रों के निर्माण में लगा हुआ, शिल्पी समुदाय, साथ ही सभी प्रकार के कर्मों में अपेक्षित, अतिरिक्त श्रम के लिए, श्रम करने में लगा हुआ श्रमिक वर्ग ही, अर्थात् एकविंश स्तोमरूप शूद्र वर्ण ही, भारत राष्ट्रात्मा इस पक्षी का पुच्छ है।

''एकविंशो वै स्तोमानां प्रतिष्ठा, तस्माद्वयः पुच्छेन प्रतिष्ठायोत्पतति, पुच्छेन प्रतिष्ठाय निषीदति।[१]''

यह शूद्र वर्णात्मक, शिल्प श्रमात्मक, एकविंश स्तोम ही, चातुर्वर्ण्य के अपने सत्कर्मों के द्वारा संपादित किये जा रहे ज्योर्तिमय विकाशात्मक चतुष्टोम याग का मूल आधार है। क्योंकि सभी वर्ण विभागों के, अपने-अपने कर्मों का सम्पादन भी, श्रम के बिना सम्भव नहीं है, श्रम ही सभी कर्मों की प्रतिष्ठा है। सभी वर्णों का अवलम्बन करने वाले, श्रमपूर्वक ही अपने-अपने कार्यों को सम्पन्न कर स्थापित होते हैं। जिस प्रकार पक्षी अपनी पूँछ के सहारे ही उड़ता है व पूँछ के सहारे ही उतरता है, उसी प्रकार से सभी वर्णों का उपकारक, श्रम शिल्पात्मक एकविंश स्तोम रूप शूद्र वर्ण है।

''पक्षी वा एतच्छन्दः, पक्षी ज्योतिष्मान् पुण्यान् लोकान् सञ्चरति। य एवं वेद।[२]''

निश्चय ही चतुष्टोम यज्ञात्मक, चातुर्वर्ण्य रूप, यह भारत राष्ट्रात्मा पक्षी ही, ज्ञानात्मा वेद है। अर्थात् यह चातुर्वर्ण्य व्यवस्था भलीभाँति ज्ञान-पूर्वक चिंतन से निर्धारित की गयी है। ज्ञान से ही सभी वर्ण अपने-अपने कर्मों में दक्षता प्राप्त करके, अपने अपने कर्मों की भली भाँति शिक्षा ग्रहण करके, प्रत्यक्ष जीवन में उन्हीं कर्मों के द्वारा सफलता प्राप्त करते हैं। यह वेद ज्ञान विरचित, चतुष्टोम यागात्मक चातुर्वर्ण्य पक्षी ही, ज्योतिर्मय विकास के, जीवन आनन्द के, राष्ट्र के परम वैभवात्मक पुण्यात्मक लोकों में संचार करता है। जो इस रहस्य को इस प्रकार जानते हैं, वे ही वेद के रहस्य को जानते हैं। वे ही इस वेदात्मा भारत राष्ट्रात्मा पक्षी की रक्षा करते हैं।

---

१. ताण्ड्य.५/१/१७। २. ताण्ड्य.१९/११/१८

४- महाराज वैवस्वत मनु और उनका ऋग्वेदीय धर्म मानव सूक्त

महात्मा वैवस्वत मनु के राज्य में, इस भारत राष्ट्रात्मा पक्षी को, उन्नति के पुण्य शिखरों पर उड़ता हुआ ऋषियों ने देखा था। जिसकी स्वयं श्रुति उद्घोषणा करती है—

''मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह। तस्य मनुष्या विशः।[१]''

वैवस्वत मनु को ही राजा कहा। सभी मनुष्य उनकी प्रजा हैं। उन महात्मा राजा ने सम्पूर्ण प्रजा को अपनी आत्मा के समान पाला, इसलिए वैवस्वत मनु के मुख से ही मानव सूक्त रूपा वेद की कल्याणी वाणी निकली। उसकी ही श्रुति उद्घोषणा करती है।

मनो ऋचः समिधेन्यो भवन्ति।
मनुर्वै यत्किञ्चावदत्तद्भेषजम्भेषजतायै।।[२]

मनु की ऋचायें सामिधेनी होती हैं। जो कुछ भी मनु ने कहा वह सब औषधि के लिए भी औषधि है।

मीमांसा— यहाँ लोगों को जन्मना श्रेष्ठ और हेय स्थापित करने के इच्छुक, स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करने में लगे हुए कुछ लोगों ने, जनता को भ्रान्त करने के लिए, जो कुछ मनु ने कहा वह औषधि के लिए भी औषधि है, इस श्रुति को कहकर, मनुस्मृति के जन्मना जातिवाद के पोषक श्लोकों को प्रस्तुत कर देतें हैं, और मंत्र की पहली पंक्ति कि, मनु की ऋचायें सामिधेनी हैं, इसे छिपा लेते हैं, या नहीं जानते। क्योंकि यहाँ श्रुति अपने से बहुत बाद में बनायी गयी, किसी भी स्मृति के सम्बन्ध में बताये, इसकी कल्पना ही नहीं हो सकती। यह ब्राह्मण श्रुति, मनु के द्वारा दृष्ट ऋग्वेद के मानव सूक्तों की चर्चा कर रही है। न कि किसी स्मृति की। इन श्रुतिओं के लिखे जाने तक स्मृतियों की रचना नहीं हुई थी। बहुत कम लोगों को मालूम है कि, महाराज मनु स्वयं ऋग्वेदीय मानव सूक्तों के द्रष्टा ऋषि हैं। और महाराज मनु के शासनकाल में ही, प्रकृति के त्रिकाल सत्य ज्ञान रूप वेद मंत्रों का संग्रह, उन मंत्रों के द्रष्टा ऋषियों के नाम के साथ किया गया। यह प्रक्रिया महाराज मनु के समय से प्रारम्भ होकर भगवान राम के समय

---

१. शतपथ.१३/४/३/३। २. ताण्ड्य.२३/१६/६,७

तक चलती रही। यह श्रुति महाराज मनु के स्वयं दृष्ट मानव सूक्तों के महत्व को बता रही है। इन सूक्तों में मनु ने जो कुछ कहा है, वह औषधियों के लिए भी औषधि है।

यह भी सम्भव है कि, महाराज मनु के मानव सूक्तों का कालांतर में, जब लोग उन सूक्तों का अर्थ समझने में असमर्थ हाने लगे हों, तब किसी विद्वान् ने, इन्हीं सूक्तों के आधार पर उनकी श्लोकात्मक व्याख्या रूप में, मनुस्मृति नाम से एक स्मृति ग्रन्थ की रचना कर दी हो। किन्तु वर्तमान मनुस्मृति तो मनु विरुद्ध, दुष्टों के द्वारा प्रक्षेपित, क्षेपकों का संग्रह रूप हो गयी है। महाराज मनु के मानव सूक्तों की श्लोकात्मक व्याख्या, उन श्लोकों के विपरीत मानसिकता वाले दुष्टों के द्वारा योजित, प्रक्षिप्त श्लोकों से आवृत्त हो गयी है। इन सूक्तों का भलीभाँति अध्ययन-मनन कर, सुधीजनों के द्वारा मानव सूक्तों के स्मृति रूप व्याख्यान से उन श्लोकों के विरुद्ध, दुष्टों द्वारा कूटरचित इस ग्रन्थ में योजित, प्रक्षिप्त श्लोकों को निकाल कर मूल मनुस्मृति का उद्धार करना चाहिए। दृष्टान्त के लिए मानव सूक्तों के दो मंत्रों को मैं यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ—

अस्ति हि वः सजात्यम् रिशादशो देवासोऽस्त्याप्यम्।
प्र णः पूर्वस्मै सुविताय वोचत मक्षू सुम्नाय नब्यसे।। [१]

रिशादशः- रोगों, दोषों और शत्रुओं का नाश करने वाले **देवाशः**- विद्या प्राप्त कर ज्ञान से प्रकाशित होने के इच्छुक व ज्ञान सम्पन्न विद्वानों! **हि** – निश्चय ही **वः** – आप लोगों का मेरे साथ **सजात्यम्** – सजातीय सम्बन्ध है, **आप्यम् अस्ति** – ग्रहण करने योग्य बन्धुत्व है। अर्थात् आपस में आत्मीय सम्बन्ध प्रकृति प्रदत्त है। **पूर्वस्मै सुविताय**– प्रारम्भ से जो श्रेष्ठतम ऐश्वर्य हैं, उनको प्राप्त करने के लिए, **नब्यसे सुम्नाय**– अतिशयता से नवीनतम सुखों की **प्र णः वोचत** – भलीभाँति प्राप्ति के लिए हमारा और आप सबका आपस में संवाद **मक्षू**- शीघ्र हो।

मीमांसा- यहाँ इस मंत्र के द्रष्टा ऋषि महाराज वैवश्वत मनु सम्पूर्ण मानव जाति की, जो ज्ञान के प्रकाश में उन्नति करना चाहती हैं। ऐसे सभी मनुष्य मात्र को सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं, कि हे मनुष्यों! जो पहले

---

१. ऋग्वेद ८/२७/१०।

से मनुष्यों के उत्कर्ष के लिए श्रेष्ठतम ऐश्वर्य हैं, और जो नवीनतम सुख सम्भव हैं, उन सबको अच्छी तरह प्राप्त करने के लिए, हम सबका आपस में ज्ञान के विकास के लिए संवाद होते रहना चाहिए। यहाँ एक अत्यन्त सूक्ष्म बात कही जा रही है कि, ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में, आपस में संवाद के द्वारा ही, एक दूसरे के ज्ञान से, एक दूसरे की ज्ञान-वृद्धिपूर्वक ही, हम अतिशयता से उन्नति कर सकते हैं।

देवन्देवं वोऽवसे देवन्देवमभिष्टये ।
देवन्देवं हुवेम वाजसातये गृणन्तो देव्या धियः।।[१]

मनु कहते हैं कि मैं मनु **देव्या धिया** – देदीप्यमान प्रज्ञा के द्वारा **गृणन्तः** - ज्ञान-सम्पन्न वाणी से **देवन्देवम् वः**– जो ज्ञान के प्रकाश से द्योतित होना चाहते हैं, ऐसे आप सब जन जन का **अवसे**- न्याय, नीति, चरित्र, धर्म आदि की रक्षा के लिए, **देवन्देवम्** – जन-जन की **अभिष्टये**- अभीष्ट-सिद्धि के लिए, **देवन्देवम्** – जन-जन को **वाजसातये** – धन एवं ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए **हुवेम**– आवाहन करता हूँ।

मीमांसा – यहाँ मंत्र द्रष्टा ऋषि महाराज मनु सम्पूर्ण मानव जाति का दिव्य ज्ञान के प्रकाश से, जन-जन को उनकी अपेक्षित आवश्कताओं की पूर्ति के लिए, समाज में न्याय-नीति, चरित्र-धर्म आदि की स्थापना के लिए तथा धन एवं ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए, अपनी-अपनी रुचि एवं योग्यता के अनुरूप कार्य में लगने के लिए, अपनी पवित्र वाणी द्वारा आवाहन करते हैं। अभिप्राय यह है कि, जब सभी लोग अपनी-अपनी योग्यता के अनुरूप कार्यों को करने में लग जायेंगे, तो सम्पूर्ण मानव जाति की अपेक्षित उन्नति हो सकेगी। सभी लोग सुखपूर्वक जीवन यापन कर सकेंगे।

हमारे ऋषियों का चतुष्टोम यागात्मक वेदात्मा भारत राष्ट्रात्मा चातुर्वर्ण्य पक्षी जिसे उन ऋषियों ने ज्योतिर्मय पुण्य लोकों में उड़ते हुए देखा था, वह पक्षी राक्षसी मानसिकता वाले, दूसरों का धन छीनने की मानसिकता वाले, वाह्य आक्रमणकारी और कुछ अपने देश के ही लोभी दुष्टों के द्वारा, पवित्र शास्त्रों ने प्रक्षेपित क्षेपकों के द्वारा, जो शास्त्र के

---
१. ऋग्वेद ८/२७/१३ ।

मौलिक रूप में मारे गये पत्थरों की भाँति उसके स्वरूप को क्षति पहुंचाने वाले हैं, उन क्षेपक रूप पत्थरों से घायल हो गया है। कहीं इस वेदात्मा राष्ट्रात्मा पक्षी के कानों को शीशा और रांगा से भरने का प्रयास दिखता है। कहीं जिह्वा काट लेने का प्रयास, और कहीं तो मार डालने का भी प्रयास स्पष्ट दिखता है। कहीं अफगानिस्तान, पाकिस्तान, बाँग्लादेश और तिब्बत के रूप में इसके पंखों को उखाड़ लिया गया है। तो कहीं अरुणाचल, मणिपुर, मिजोरम रूप इसकी पूँछ को काटने का प्रयास हो रहा है। ऐसा प्रयास करने वाले विदेशी आक्रामक राक्षसी मानसिकता के कुछ वे दुष्ट लोग हैं, जो अपने वैदिक मूल से भटक गये हैं। इसलिए उनका इस प्रकार का प्रयास आश्चर्यजनक नहीं है। किंतु आश्चर्य इस बात का है कि, जो अपने को ऋषियों का वंशज कहते हैं, वह ही आज उन राक्षसी मानसिकता से युक्त लोगों की पंक्ति में खड़े हुए, इस वेदात्मा, भारत राष्ट्रात्मा पक्षी के प्रति आक्रमण करने के लिए उद्यत दिखाई पड़ते हैं। आपलोग भी अपने अन्तःकरण का अवलोकन करें, और देखें कि आपकी अन्तः स्थिति किस प्रकार की है। इस पक्षी के प्रति आक्रमण करने की? अथवा इसकी रक्षा करने की? जब आप लोग जागृत होकर अपने में, और अपने सम्पूर्ण देशवासियों में, ऋषियों के रक्त का प्रवाह समान रूप से देख सकेंगे, तो मै यह घोषित कर सकता हूँ कि, यह वेदात्मा भारत राष्ट्रात्मा पक्षी, पुनः पूर्ण स्वास्थ्य को प्राप्त कर लेगा। पुनः यह ज्योतिर्मय ज्ञान प्रकाश के पुण्य लोकों में उड़ता हुआ दिखाई देगा।

जिस श्रेष्ठ भारत को ऋग्वेद का यह मंत्र जगाता है—

श्रेष्ठ यविष्ठ भारताऽग्ने द्युमन्तमाभर। वसो पुरुस्पृहं रयिम्[१]।।

अर्थ– हे अग्निस्वरूप तेजस्वी! श्रेष्ठ, बलिष्ठ, सबको बसाने वाले भारत! मनुष्यों की स्पृहामयी, मानवता से द्युतिमान् सम्पत्तियों से स्वयं को और सारे विश्व को अच्छी तरह भर।

मीमांसा– यहाँ अपने-अपने कर्म में लगे हुए 'भा'-प्रतिभा में रत भारत को श्रुति ने सम्बोधन किया है। तथ्य स्पष्ट है कि प्रतिभा संग्रहण में रत जन-जन ही भारत है और जहाँ ऐसे लोग रहते हैं वह देश भारत है। ऐसे

---

१. ऋग्वेद २/७/१।

ही भारत को दुनिया खोज रही थी। किन्तु आज हमने ही अपने भीतर का भारत और अपना राष्ट्रीय भारत खो दिया है। हमें ही अपने भीतर के श्रुति में कहे गये भारत को जगाना होगा, और तभी हम वेद में उक्त भारत को प्राप्त हो सकेंगे।

ऋग्वेद में सम्बोधित भारत को जगाने की आवश्यकता इस भारत के लिए तो है ही, साथ-साथ आतंकवाद, मजहबी उन्माद और कुनबावाद से त्रस्त सम्पूर्ण विश्व के लिए भी है। क्योंकि वेद का भारत तो सारे विश्व की मानवता को आत्मसात करता है। अतः वेद के द्वारा सम्बोधित हे भा-रत जन! व भारत देश! जागो और वेद के अर्थों में हो जाओ भा-रत, भा-रत, भा-रत।

श्रीमद्भगवद्गीता का सहयज्ञ

भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता के तृतीय अध्याय में, सत्कर्म को ही यज्ञ बताते हुए, विविध प्रकार के आवश्यक कर्मों को, विविध प्रकार की योग्यता एवं कला से सम्पन्न लोगों के द्वारा, किये जाते हुए और परस्पर एक दूसरे के कर्म के फल से एक दूसरे को लाभ पहुँचाते हुए, मानवीय उत्कर्ष के लिए किये जाने वाले कर्मों को ही सहयज्ञ बताया है। श्रीमद्भगवद्गीता के तृतीय अध्याय के वे श्लोक निम्नलिखित हैं—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।।४।।

मनुष्य न तो कर्मों का आरम्भ किये बिना, कर्म फल की अनाशक्ति रूप निष्कर्मता को प्राप्त होता है, और न ही कर्मों का त्याग कर देने से मोक्ष की सिद्धि मिलती है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।५।।

निःसंदेह कोई भी मनुष्य, किसी भी समय क्षण भर के लिए भी, बिना कर्म किये नहीं रह सकता। क्योंकि सम्पूर्ण प्राणी समुदाय अपनी-अपनी प्रकृति के गुणों से कर्म करने के लिए बाध्य किया जाता है।

मीमांसा- तथ्य यह है कि, सक्रियता ही जीवन है। यदि शरीर पूर्णरूप से क्रियारहित हो जाय, तो वह मृत होगा। तभी तक जीवन है, जब तक शरीर में क्रियाशीलता है। हृदय का धड़कना, श्वास का लेना और छोड़ना, देखना, सुनना, समझना सब कुछ कर्म है। इसी तथ्य को भगवान ने यहाँ स्पष्ट किया है कि, क्षण भर भी कोई प्राणी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। वह अपनी प्रकृति मनुष्य, पशु, जलचर, थलचर, अथवा वृक्ष आदि की अलग-अलग प्रकृति से विवश हुआ, जीवित रहने के लिए कर्म

करता है। यह कर्म उस मनुष्य आदि की प्रकृति के गुणों के द्वारा, उससे बलपूर्वक कराया जाता है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।६।।

जो मूढ़बुद्धि मनुष्य, कर्मेन्द्रियों को रोककर, मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहता है, उसे मिथ्याचारी कहा जाता है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।७।।

किन्तु हे अर्जुन! जो मन से इन्द्रियों को वश में करके, आसक्तिरहित हुआ, कर्मेन्द्रियों के द्वारा, कर्मयोग का अच्छी तरह आचरण करता है। वही विशिष्ट है, श्रेष्ठ है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।।८।।

इसलिए तू आवश्यक निश्चित कर्तव्य कर्म कर, क्योंकि अकर्मण्यता से कर्म करना श्रेयस्कर होता है, और कर्म न करने से तेरी शरीर-यात्रा भी सिद्ध नहीं होगी।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।।९।।

परमात्मा ही सर्वकर्ता है, सभी कर्म उस परमात्मा की सेवा के लिए हैं। यह सारा प्राणी समुदाय परमात्मा ही हुआ है, जीवन भी परमात्मा का ही है, सामाजिक जीवन के उन्नयन हेतु किया जाने वाला कर्म परमात्मा की सेवा है। इस परमात्म सेवा भावना से किया जाने वाला कर्म ही यज्ञ है। इस यज्ञ के लिए किये जाने वाले कर्मों से अतिरिक्त जो अन्य कर्म हैं, वे बन्धन कारक हैं। अर्थात् जो परमात्म भावना से, अनासक्तिपूर्वक कर्म नहीं किये जाते, वे शरीरगत आसक्ति से युक्त कर्म बन्धन कारक हैं। इसलिए हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! तू आसक्ति रहित होकर परमात्मा की सेवा रूप कर्तव्य कर्मों को कुशलतापूर्वक कर।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।१०।।

सहयज्ञ- प्रजा का पालन करने वाले आदि प्रजापति महाराज मनु ने प्राणी समुदाय और मनुष्यों की विविध आवश्यकताओं को देख समझ कर, समझ कर यह पाया कि, मनुष्य की जो अपनी विविध आवश्कतायें हैं, वह अपनी उन सभी आवश्यकताओं को अकेले स्वयं कर्म करके कभी पूरा नहीं कर सकता। जैसे मनुष्य को रहने के लिए घर चाहिए, पहनने के लिए वस्त्र चाहिए, भोजन पकाने के लिए बर्तन चाहिए, अन्न चाहिए, अन्न उपजाने के लिए हल, फाल, कुदाल और जुताई करने के लिए बैल, व दूध-दही के लिए गाय-भैंस, ऊन के लिए भेड़ और इन पशुओं के खाने के लिए चारा, इनके रहने के लिए आवास आदि अनेक प्रकार की आवश्यकतायें हैं, इन्हें व्यक्ति-व्यक्ति करके पूरा नहीं कर सकता। किन्तु यदि यही सभी कार्य लोग आपस में मिलकर एक दूसरे का सहयोग करते हुए करें, तो ये सभी कार्य बहुत सरलतापूर्वक हो सकते हैं। ऐसा चिन्तन कर उन्होंने लोगों की योग्यता, रुचि एवं क्षमता के अनुरूप उन्हें अलग-अलग कार्यों में लगाया, और सभी के कार्यों का लाभ सबको मिले ऐसी व्यवस्था किया यही सहयज्ञ है।

उन आदि प्रजापति मनु ने, इस प्रकार के सहयज्ञ की रचना करके, लोगों से कहा कि, इस सहयज्ञ के द्वारा आप सब उन्नति को प्राप्त होवो। यह सहयज्ञ तुम लोगों को इच्छित भोग प्रदान करने वाला हो।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।।११।।

इस सहयज्ञ के द्वारा जो द्योतित होना चाहते हैं, प्रकाशित होना चाहते हैं, वे सभी देव हैं, और अपने-अपने कर्म में लगे हुए सभी लोग, उस कर्म रूप यज्ञ के कर्ता है। इस प्रकार सभी लोग अपने कर्म के कर्ता, यज्ञकर्ता हैं, और उससे लाभ लेकर द्योतित होने वाले सभी लोग देव हैं, इसलिए सभी परस्पर एक दूसरे के लिए देव हैं और सभी अपने कर्म के याज्ञिक हैं। इस प्रकार सभी अपने-अपने कर्म के द्वारा, अपने उस कर्म के फल के उपभोक्ता देवताओं को प्रसन्न करें और वह सारे लोग भी जो उस कर्म के फल का उपभोग करते हैं, वह उस कर्म कर्ता याज्ञिक को उसके उस कर्म

का उचित प्रतिफल प्रदान करें। इस प्रकार आप सभी एक-दूसरे के याज्ञिक होकर एक-दूसरे को उसके कर्म का उचित फल प्रदान करते हुए, परम कल्याण को प्राप्त हो जाओगे।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।।१२।।

इस प्रकार आपके यज्ञरूप कर्म से उस कर्म का फल प्राप्त करने वाले देव! आपके यज्ञ का अभीष्ट फल (आपके सत्कर्म का मूल्य) प्रदान करेंगे। जो कोई अपने कर्मयज्ञ के द्वारा उस यज्ञ के फल उपभोक्ता देवों को बिना सन्तुष्ट किये उनसे फल की आकांक्षा करता है, अथवा जो उपभोक्ता देव! उस यज्ञकर्ता को उसका उचित प्रतिफल दिये बिना ही उसका उपभोग करता है। वे दोनों ही चोर हैं।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।१३।।

इस प्रकार इस सहयज्ञ रूप सत्कर्म से अपने सभी उपभोक्ता देवों को उपभोग प्रदान करता हुआ, उसके प्रतिफल रूप प्राप्त यज्ञ शेष को उपभोग करता है, वह सारे पापों से मुक्त हो जाता है। इसके विपरीत जो अपने स्वार्थ में अपने यज्ञरूप सत्कर्म से उस सत्कर्म के उपभोक्ता जन को बिना सन्तुष्ट किए हुए छलपूर्वक केवल अपने सुखोपभोग के लिए ही जीता है, वह पाप का ही उपभोग करता है।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।१४।।

अन्न से प्राणी जीवन प्राप्त करते हैं, वह अन्न सब प्रकार से कृषि कर्म और वर्षा से उत्पन्न होता है। वह कृषि व वर्षा सहयज्ञजन्य, सहयज्ञ कर्मजन्य है।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।१५।।

कर्म ज्ञानपूर्वक ही होता है, ज्ञान अविनाशी परमात्मा, प्रकृति और गुरु परम्परा से प्राप्त होता है। इसलिए सर्वसमर्थ ज्ञान की नित्य ही इस सहयज्ञ में प्रतिष्ठित है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।।१६।।

इस प्रकार से परस्पर आश्रित सहयज्ञ रूप चक्र का जो अनुवर्तन नहीं करते, वे इन्द्रियों के भोग में आसक्त पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीते हैं।

मीमांसा– आज भी ग्रामीण संस्कृति में देखा जाता है कि पूजा-पाठ कराने वाले पुरोहित की ही यजमानी नहीं होती, अपितु प्रत्येक काम को करने वाला व्यक्ति चाहे वह बढ़ई का, लोहार का, कुम्हार का, नाई का, मणिकार का, दर्जी का, चर्मकार का अथवा अनेकों प्रकार के काम करने वाला व्यक्ति हो, उन सबकी अपनी यजमानी होती है। जो भी उनके कर्म के उपभोक्ता हैं, वे सभी उपभोक्ता उस यज्ञकर्म कर्ता के यजमान हैं और वह कर्म करने वाला अपने उस कर्म का पुरोहित याज्ञिक है। इस प्रकार सभी एक-दूसरे के यजमान और एक-दूसरे के याज्ञिक हैं। उन सबका कर्तव्य है कि वे अपने कर्म द्वारा अपने उपभोक्ता देवों को संतुष्ट करें और उसी प्रकार से उन सभी उपभोक्ता देवों का भी यह कर्तव्य है कि वे उस यज्ञकर्ता को उसका उचित प्रतिफल प्रदान करे। जो ऐसा नहीं करते, अपने सत्कर्म से अपने उपभोक्ता को सन्तुष्ट नहीं करते अथवा कर्मकर्ता के कर्म का सुन्दर फल प्राप्त करके भी उसको उचित फल प्रदान नहीं करते वे दोनों ही इस परम्परा में स्तेन हैं। अपने स्वार्थ में लगे हुए जो इस यज्ञचक्र का अनवर्तन नहीं करते, उन पापात्माओं का जीवन व्यर्थ है। हम सबको सहयज्ञ के इस उत्कर्ष रूप का पालन करते हुए एक-दूसरे का सहयोग करना चाहिए। न तो कोई जन्म से और न ही कर्म से हेय है। सभी अपने उत्कृष्ट ज्ञान के द्वारा उत्कृष्ट कर्म को करते हुए सच्चे अर्थों में भा-रत हैं, हमें अपने भीतर में इस सच्चे भा-रत को जगाना होगा और फिर अपने देश और विश्व को उत्कृष्ट भारत बनाना होगा।

***

सन्दर्भित सहायक ग्रन्थ-सूची

क्र.सं.	ग्रन्थनाम	लेखक/संपादक/प्रकाशक	प्रकाशन
१ (क)	ऋग्वेद-संहिता माधवीयवेदार्थप्रकाशसहित,	सायणाचार्य, श्रीमोक्षमूलरभट्ट, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी	१९८३.
(ख)	ऋग्वेद-संहिता	श्रीपाददामोदरसातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल पारडी, बलसाड, गुजरात	१९८५.
(ग)	ऋग्वेद भाषाभाष्य	पं. राकेशरानी, दयानन्द संस्थान दिल्ली।	
२ (क)	शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिन संहिता	उव्वट के मन्त्रभाष्य और महीधर के वेददीपभाष्यसहित, सम्पादक जगदीशलाल शास्त्री, प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	१९९९.
(ख)	यजुर्वेद माध्यन्दिन संहिता	श्रीपाददामोदरसातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल पारडी, बलसाड, गुजरात	१९८५.
(ग)	ऋग्वेद भाषाभाष्य	पं. राकेशरानी, दयानन्द संस्थान दिल्ली।	
३ (क)	यजुर्वेद-काण्व संहिता	श्रीपाददामोदरसातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल पारडी, बलसाड, गुजरात	१९४०.
(ख)	शुक्लयजुर्वेद काण्वसंहिता	सायणाचार्यस्य माधवीयवेदार्थ प्रकाशसहित सं. डॉ. भगीरथ प्रसाद त्रिपाठी, (वागीशशास्त्री), प्र. संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी	१९७८.
४ (क)	सामवेद संहिता	श्रीपाददामोदरसातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल पारडी, बलसाड, गुजरात	१९८५.
(ख)	सामवेद-भाषाभाष्य	पं. राकेशरानी, दयानन्द संस्थान, दिल्ली।	
५ (क)	अथर्ववेदसंहिता,	शंकरपाण्डुरंगपंडित, सायणाचार्य माधवीयवेदार्थप्रकाश सहित प्र. कृष्णदास अकादमी, वाराणसी	१९८९.

(ख)	अथर्ववेदसंहिता,	श्रीपाददामोदरसातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल पारडी, बलसाड, गुजरात	१९८५.
(ग)	अथर्ववेद-भाषाभाष्य	पं. राकेशरानी, दयानन्द संस्थान दिल्ली।	
६	कृष्णयजुर्वेदीय-तैत्तिरीयसंहिता,	श्रीपाददामोदरसातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल पारडी, बलसाड, गुजरात	१९५८.
७	कृष्णयजुर्वेदीय-काठक संहिता,	श्रीपाददामोदरसातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल पारडी, बलसाड, गुजरात	१९५८.
८	कृष्णयजुर्वेदीय-मैत्रायणीसंहिता,	श्रीपाददामोदरसातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल पारडी, बलसाड, गुजरात	१९५८.
९ (क)	ऐतरेयब्राह्मण, सायणभाष्यसमेत	सत्यव्रतसामाश्रमी, एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता (बंगाल)	१९०६.
(ख)	ऐतरेयब्राह्मण	नागप्रकाशक, दिल्ली	१९७१.
१०	कौषीतकि-ब्राह्मण	बी. लिंडर जेना	१९८७.
११	शाङ्खायन-ब्राह्मण	गुलाबराय, आनन्दाश्रम, पूना	१९९१.
१२(क)	शतपथब्राह्मण	सायणभाष्यसहित, नाग प्रकाशक, दिल्ली	१९९०.
(ख)	शतपथब्राह्मण	माध्यन्दिनीय, अजमेर	१९०३.
१३	तैत्तिरीय-ब्राह्मण सायणभाष्यसहित,	नारायणशास्त्री, आनन्दाश्रम, पूना	१८९९.
१४	ताण्ड्यमहाब्राह्मण, सायणभाष्यसहित,	चौखम्भासंस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली	१९८९.
१५	दैवतब्राह्मण तथा षडविंश-ब्राह्मण सायणभाष्यसहित,	जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता,	१८८१.
१६	मन्त्रब्राह्मण	सत्यव्रतसामाश्रमी, कलकत्ता	१८९१.
१७	संहितोपनिषद् ब्राह्मण	ए.सी. बर्नेल मंगलोर,	१८७७.

१८	आर्षेयब्राह्मण	ए.सी. बर्नेल मंगलोर,	१८७७.
१९	वंशब्राह्मण	सत्यव्रतसामाश्रमी, कलकत्ता	१८९३.
२०	सामविधानब्राह्मण सायणभाष्यसहित	केन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठ, तिरुपति	१९८५.
२१	जैमिनि उपनिषद् ब्राह्मण	हंस अर्टेल, देवनागरी, संस्करण	१९२१.
२२	जैमिनि आर्षेय ब्राह्मण	ए.सी. बर्नेल मंगलोर	१८७८.
२३	गोपथब्राह्मण	सुश्री प्रज्ञादेवी, मेधादेवी, डॉ. इन्द्रदयालसेठ, अथर्ववेदभाष्य कार्यालय, इलाहाबाद	१९७७.
२४	ईशावास्योपनिषद्	शाङ्करभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर	१९८५.
२५	केनोपनिषद्	,, गीताप्रेस, गोरखपुर	१९८५.
२६	कठोपनिषद्	,, गीताप्रेस, गोरखपुर	१९८५.
२७	प्रश्नोपनिषद्	,, गीताप्रेस, गोरखपुर	१९८५.
२८	मुण्डकोपनिषद्	,, गीताप्रेस, गोरखपुर	१९८५.
२९	माण्डूक्योपनिषद्	,, गीताप्रेस, गोरखपुर	१९८५.
३०	तैत्तिरीयोपनिषद्	,, गीताप्रेस, गोरखपुर	१९८५.
३१	ऐतरेयोपनिषद्	,, गीताप्रेस, गोरखपुर	१९८५.
३२	छान्दोग्योपनिषद्	,, गीताप्रेस, गोरखपुर	१९९४.
३३	बृहदारण्यकोपनिषद्	,, गीताप्रेस, गोरखपुर	१९९४.
३४	श्वेताश्वतरोपनिषद्	,, गीताप्रेस, गोरखपुर	१९८५.
३५	उपनिषद्संग्रह	(१८८ उपनिषत्संग्रह) मोतीलाल बनारसीदास,	१९८५.
३६	आपस्तम्बीय श्रौतसूत्र	प्राच्यविद्यासंशोधनालय मैसूरविश्वविद्यालय, मैसूर	१९६०.
३७	आपस्तम्बगृह्यसूत्र	प्राच्यविद्यासंशोधनालय, मैसूर मैसूरविश्वविद्यालय, मैसूर	१९८७.
३८	बोधायनगृह्यसूत्र	प्राच्यविद्यासंशोधनालय, मैसूर मैसूरविश्वविद्यालय, मैसूर	१९८३.
३९	निरुक्त (निघण्टु)	यास्काचार्य प्रणीतम्, कलकत्ता, गुरुमण्डलग्रन्थमाला	१९५२.

४० निरुक्त यास्कमुनिप्रणीत, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, नई दिल्ली १९८२.

४१ पाणिनीय-अष्टाध्यायी अनीता आर्ष प्रकाशन, पानीपत, हरियाणा १९९०.

४२ उणादिकोष युधिष्ठिरमीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत (हरियाणा) १९७४.

४३ शिक्षासूत्राणि (आपिशलि पाणिनि-चन्द्रगोमिविरचितानि) युधिष्ठिरमीमांसक, १९८३.

४४ पाणिनीय धातुपाठ रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत हरियाणा, १९७५.

४५ व्याकरणमहाभाष्य पतञ्जलिमुनिप्रणीत चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली १९९७.

४६ वाक्यपदीय सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि. वि., वा.

४७ अमरकोश रामाश्रमी चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान टीकायुक्त १९८४.

४८ शिवतत्त्वरत्नाकर प्राच्यविद्यासंशोधनालय मैसूर १९६४.

४९ (क) श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण, महर्षि वाल्मीकिप्रणीत गीताप्रेस, गोरखपुर १९८९.

(ख) श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण, महर्षि वाल्मीकिप्रणीत प्राच्यविद्याशोधसंस्थान, मैसूर १९७५.

५० अध्यात्मरामायण वेदव्यासकृत, गीताप्रेस, गोरखपुर १९७४.

५१ रामचरितमानस गोस्वामी तुलसीदास, ,, ,, १९८५.

५२ योगवासिष्ठ मोतीलालबनारसीदास १९८४.

५३ महाभारत वेदव्यास, गीताप्रेस, गोरखपुर १९८९.

५४ श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर १९८९.

५५ श्रीमद्भगवद्गीता रामानुजभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर १९८९.

५६ महाभारत खिलभाग (श्रीहरिवंशपुराण) गीताप्रेस, गोरखपुर १९८९.

५७ मनुस्मृति कुल्लूकभट्टटीकासहित, मोतीलाल बनारसीदास १९९०.

५८ याज्ञवल्क्यस्मृति नाग प्रकाशन, दिल्ली १९८५.

५९ नारदस्मृति नाग प्रकाशन, दिल्ली १९८५.

६० गौतमस्मृति नाग प्रकाशन, दिल्ली १९८५.
६१ विष्णुस्मृति अड़ियार लाइब्रेरी, मद्रास १९८४.
६२ (क) ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, सत्यानन्द गोविन्दमठ टेढ़ीनीम, वाराणसी १९७२.
(ख) ब्रह्मसूत्र श्रीभाष्य रामानुजाचार्यकृत श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ, प्रयाग १९७४.
(ग) ब्रह्मसूत्र श्रीनिम्बार्कवेदान्त श्रीनिम्बार्काचार्यकृत, श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ, प्रयाग १९७३.
(घ) ब्रह्मसूत्र पूर्णप्रज्ञभाष्य, मध्वाचार्यकृत श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ, प्रयाग १९७४.
(ङ) ब्रह्मसूत्र अणुभाष्य, वल्लभाचार्यकृत श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ, प्रयाग १९८०.
(च) ब्रह्मसूत्र आनन्दभाष्य, बालकृष्णाचार्यकृत राम चौक, सिद्धपुर १९७०.
(छ) ब्रह्मसूत्र श्रीकरभाष्य, प्राच्यविद्यासंशोधनालय श्रीपतिपण्डिताचार्यकृत, मैसूर १९७८.
६३ तत्त्वबोध श्रीमदाद्यशंकराचार्यकृत खेमराज श्रीकृष्णदास, मुम्बई २०००.
६४ विवेकचूड़ामणि श्रीमदाद्यशंकराचार्यकृत गीताप्रेस, गो. १९९६.
६५ अपरोक्षानुभूति श्रीमदाद्यशंकराचार्यकृत गीताप्रेस, गो. १९९६.
६६ दक्षिणामूर्तिस्तोत्र श्रीमदाद्यशंकराचार्यकृत सं. पं. अम्बाचरण दूबे १९७७.
६७ चर्पटपञ्जरिकास्तोत्र श्रीमदाद्यशंकराचार्यकृत गीताप्रेस, गोरखपुर १९९६.
६८ योगतारावली, श्रीमदाद्यशंकराचार्यकृत वाराणसेय-संस्कृत संस्थान, वाराणसी १९८२.
६९ खण्डनखण्डखाद्य श्रीहर्षप्रणीत, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी १९७९.
७० तत्त्वप्रदीपिका चित्सुखमुनिकृता, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी १९८७.
७१ न्यायामृताद्वैतसिद्धी मेहरचन्दलक्ष्मनदास, नई दिल्ली १९८४.
७२ सिद्धान्तबिन्दु मधुसूदनसरस्वती, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी १९९०.

७३	सिद्धान्तलेशसंग्रह	अप्पय्यदीक्षित, चौखम्भा विद्या भवन,	१९९०.
७४	द्वादशदर्शनसंग्रह	काशिकानन्द, काशिकानन्दगिरि ट्रस्ट	१९८८.
७५	गायत्रीमहामन्त्र	शांकरभाष्य जयमंगलीविवरण-वर्तिका संवलित, स्वामी काशिकानन्दगिरि ट्रस्ट	१९९०.
७६	पंचदशी विद्यारण्य	भार्गव पुस्तकालय, वाराणसी	१९५६.
७७	मीमांसादर्शन शावरभाष्यसहित	तारा प्रिंटिंग प्रेस, वाराणसी	१९८५.
७८	मीमांसादर्शन	जैमिनिमुनिकृत, संस्कृत संस्थान, बरेली	१९८५.
७९	वैशेषिकसूत्र वृत्तिसहित	केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, प्रयाग	१९७९.
८०	प्रशस्तपादभाष्य	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी	१९७७.
८१	न्यायदर्शन वात्स्यायनभाष्यसहित	गौतममुनिकृत चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी	१९८८.
८२	सांख्यदर्शन	कपिलमुनिकृत, संस्कृत संस्थान, बरेली	१९८५.
८३	सांख्यतत्त्वकौमुदी	चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी	१९७९.
८४	पातञ्जलयोगदर्शन व्यासभाष्य	चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी	१९९३.
८५	शिवसूत्र भक्तिसूत्र	वसुगुप्तकृत शाण्डिल्यमुनिकृत पीताम्बरापीठ, दतिया	१९६१.
८६	विष्णुपुराण	गीताप्रेस, गोरखपुर	१९८९.
८७	हितोपदेश	चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी	१९८७.
८८	नारदभक्तिसूत्र	गीताप्रेस, गोरखपुर	१९९७.
८९	सर्वदर्शनसंग्रह	माधवाचार्यकृत चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी	१९८४.
९०	श्रीमद्भागवतमहापुराण	गीताप्रेस, गोरखपुर	१९८९.
९१	श्रीमत्स्यपुराण	गीताप्रेस, गोरखपुर	१९८९.
९२	श्रीकूर्मपुराण (मूलसहित)	वर्ष ७१, गीताप्रेस, गोरखपुर	१९९७.

९३	श्री देवीभागवत	(मूलसहित) गीताप्रेस, गोरखपुर	२००३.
९४	रघुवंश	कालिदासकृत, चौखम्भा ओरियण्टालिया	१९८७.
९५	अभिज्ञान शाकुन्तल	कालिदास ग्रन्थावलि उ. प्र. संस्कृत अकादमी	१९९८.
९६	मेघदूत	कालिदास ग्रन्थावलि उ. प्र. संस्कृत अकादमी	१९९८.
९७	शिशुपाल वध	चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी	२०००.
९८	मृच्छकटिक	कृष्णदास अकादमी	१९९९.
९९	विमानार्चनाकल्प (वैखानसागम)	मरीचि, वेंकटेश्वर मुद्रणालय, मद्रास	१९२६.
१००	वैखानसागम	मरीचि, अनन्तशयनग्रन्थमाला त्रिवेन्द्रम्	१९३५.
१०१	सात्वतसंहिता पांचरात्रागम	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी	१९८२.
१०२	जयाख्यसंहिता पांचरात्रागम	ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा	१९६७.
१०३	अहिर्बुध्न्यसंहिता पांचरात्रागम	अडियार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च सेण्टर, मद्रास	१९८६.
१०४	लक्ष्मीतन्त्र पांचरात्रागम	अडियार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च सेण्टर, मद्रास	१९८६.
१०५	विष्णुसंहिता पांचरात्रागम	नाग प्रकाशन, दिल्ली	१९९१.
१०६	भार्गवतन्त्र पांचरात्रागम	केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ इलाहाबाद	१९८१.
१०७	श्रीप्रश्नसंहिता पांचरात्रागम	केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ तिरुपति	१९६९.
१०८	नारदीयसंहिता पांचरात्रागम	केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ तिरुपति	१९७१.
१०९	रुद्रयामल (उत्तरतन्त्र)	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी	१९९१.

११०	मालिनीविजयोत्तरतंत्र	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी	१९९१.
१११	मृगेन्द्रतन्त्र	पाणिनि, नई दिल्ली	१९८२.
११२	शिवसूत्र	मार्कण्डेय संन्यासाश्रम ओंकारेश्वर, म. प्र.	१९८५
११३	योगिनीहृदय	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी	१९७९.
११४	वातुलशुद्धागम	प्राच्यविद्यासंशोधनालय मैसूर वि. वि.	१९८३.
११५	वीरागमोत्तर	प्राच्यविद्यासंशोधनालय मैसूर वि. वि.	१९८८.
११६	चिद्गगनचन्द्रिका	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी	१९८०.
११७	ललितास्तवरत्न दुर्वासामुनि	केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू	१९८१.
११८	शिवदृष्टि सोमानन्द	वाराणसेय संस्कृत संस्थान, वाराणसी	१९८६.
११९	परात्रिंशिका	मोतीलाल बनारसीदास	१९८५.
१२०	स्पन्दकारिका, वसुगुप्त,	मोतीलाल बनारसीदास	१९८४.
१२१	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनीयुता भास्करी	मोतीलाल बनारसीदास	१९८६.
१२२	श्रीतन्त्रालोक,	अभिनवगुप्त, मोतीलाल बनारसीदास	१९८७.
१२३	तन्त्रसार	अभिनवगुप्त, मोतीलाल बनारसीदास	१९८५.
१२४	परमार्थसार	अभिनवगुप्त, मोतीलाल बनारसीदास	१९८४.
१२५	परमार्थसार	आदिशेष, मोतीलाल बनारसीदास	१९८४.
१२६	विज्ञानभैरव	चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी	१९९१.
१२७	पूर्णता प्रत्यभिज्ञा	म.म. रामेश्वर झा, अरुणकृष्ण जोशी विजयकृष्ण जोशी, वाराणसी	१९८४.
१२८	स्तोत्ररत्नावली	गीताप्रेस, गोरखपुर	१९९७.
१२९	प्रत्यभिज्ञाहृदय	क्षेमराज, ठाकुर जयदेव सिंह	१९८३.
		मोतीलाल बनारसीदास	१९८४.
१३०	स्पन्दसन्दोह	क्षेमराज, कश्मीरसंस्कृत सीरीज श्रीनगर, कश्मीर	१९१७

१३१	षट्त्रिंशत तत्त्वसन्दोह	कश्मीरसंस्कृत सीरीज श्रीनगर, कश्मीर	१९१७.
१३२	पराप्रावेशिका	क्षेमराज, कश्मीरसंस्कृत सीरीज श्रीनगर, कश्मीर	१९१७.
१३३	अनुभवसूत्र	मायिदेव, प्राच्यविद्यासंशोधनालय मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर	१९८३.
१३४	सद्धान्तशिखामणि	जंगमबाडीमठ, वाराणसी	१९८६.
१३५	गणकारिका	ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा	१९६६.
१३६	शैवपरिभाषा	शिवाग्रयोगीन्द्रज्ञानशिवाचार्य	१९५०.
१३७	शिवमहिम्न स्तोत्र	कैलाशविद्या प्रकाशन, ऋषिकेश	१९८६.
१३८	सौन्दर्यलहरी	श्रीमदाद्यशंकराचार्य प्राच्यविद्यासंशोधनालयः मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर	१९६९.
१३९	भावनोपनिषद	प्राच्यविद्यासंशोधनालयः मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर	१९६९.
१४०	भर्तृहरिशतकत्रयम	भर्तृहरिः, मनोज पब्लिकेशसन्स, दिल्ली	२००२.
१४१	बहुरूपगर्मस्तोत्रम्	केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली	१९८६.
१४२	विराडविवरण	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी	१९८२.
१४३	अद्वय तारकोपनिषद	प्राच्यविद्यासंशोधनालयः मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर	१९६९.
१४४	आगममीमांसा	व्रजवल्लभद्विवेदी, केन्द्रीय सं० विद्यापीठ, दिल्ली	१९८२.
१४५	तन्त्रसंग्रह	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी	१९८२.

॥ इति ॥

लेखक परिचय

नाम : आचार्य भक्तिपुत्र रोहतम

पिता : स्व. श्री रघुराज सिंह

माता : श्रीमती तारादेवी

शैक्षणिक योग्यता :

-आगमाचार्य स्वर्णपदक सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

-वेदान्ताचार्य-सभी तीन स्वर्णपदक- संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-२२१००५

-विद्यावारिधि (पीएच.डी) जे.आर.एफ. नेट, सन् १९८६

सम्प्रति - आचार्य धर्मागम विभाग, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-२२१००५

दूरभाष - कार्यालयीय - ०५४२-६७०१९२९

मोबाइल - +९१९४५०५७५७६५, ७९८५४२८३०३

जन्मभूमि - ग्राम माँझगाँव, पत्रालय - पालपुर, जनपद-अयोध्या (फैजाबाद) २२४१५३ (उ. प्र.), भारत।

सहायक लेखक परिचय

नाम : **एकात्मदेव**

पिता : **आचार्य भक्तिपुत्र रोहतम**

शैक्षणिक योग्यता : एम.ए. संस्कृत वेदग्रुप, संस्कृत विभाग, कला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-२२१००५

जे.आर.एफ. नेट यूजीसी.

अनुसंधानरत - संस्कृत विभाग काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

जन्मभूमि - ग्राम माँझगाँव, पत्रालय - पालपुर, जनपद-अयोध्या (फैजाबाद) २२४१५३ (उ. प्र.), भारत।
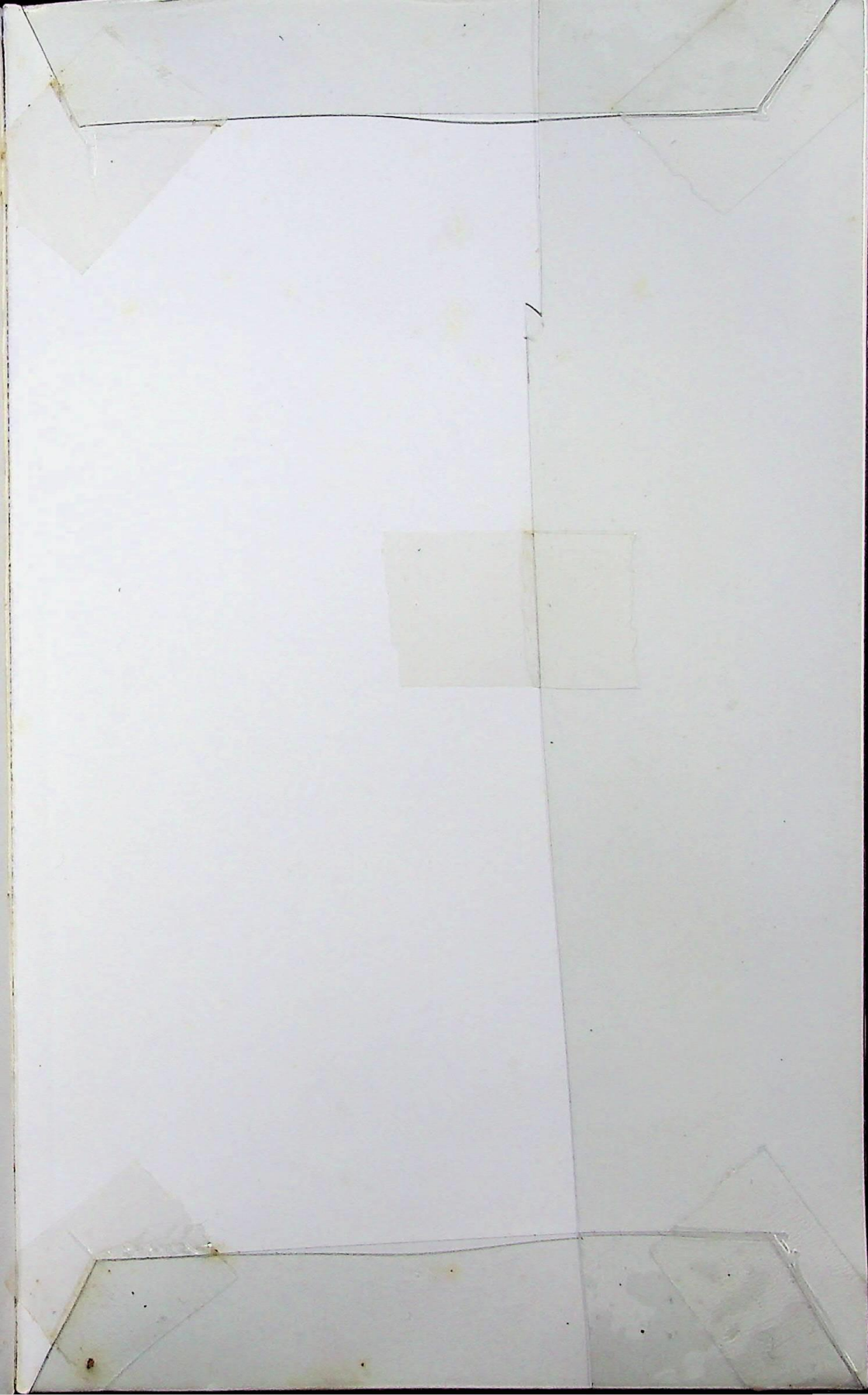
वैदिक समाज संरचना की अङ्गभूत वैदिक वर्णव्यवस्था सहयज्ञ है, न कि जन्मना या कर्मणा ऊँच-नीच जाति। मानवीय आवश्यकता के अनेक आयाम- जल, भोजन, वस्त्र, आवास, शिक्षा, शिक्षालय उसके विविध प्रकार, चिकित्सा, आरोग्य, न्याय, नैतिकता, संरक्षण, प्रशासन, पालन, कृषि, पशुपालन, वाणिज्य विविध प्रकार के शिल्प, अस्त्र, शस्त्र, हल, फाल, कुदाल, भवन निर्माण सामग्री, काष्ठशिल्प, मृत्तिकाशिल्प, वस्त्रशिल्प, आभूषण, आमोद-प्रमोद आदि हैं, जिनकी आवश्यकता सबको है। किन्तु सभी मनुष्य सभी कार्यों को करके अपनी सभी आवश्यकताएँ पूरी कर लें, यह कभी संभव नहीं। लेकिन इन्हीं कार्यों को लोग यदि रुचि और शिक्षा के अनुरूप बाँटकर करने लग जायँ, साथ ही सभी अपने-अपने उत्पादन का लाभ परस्पर एक दूसरे को देने लग जायँ, तो सहज ही सबको सभी लाभ सुलभ हो जायेंगे। केवल इतना ही नहीं, बल्कि हर क्षेत्र का शिल्प अपने कला-कौशल में नित्य नव-नव आयाम जोड़ता चला जायेगा, मानवता अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त होगी। यही है वैदिक वर्णव्यवस्था का रहस्य। यही सहयज्ञ है। सभी एक-दूसरे के पुरोहित, सभी एक दूसरें के यजमान, सबके यहाँ सबकी यजमानी। यही वाणिज्य है, सभी सबके उत्पादनों के उपभोक्ता, सभी अपने उत्पादन के विक्रेता। वेदों के इसी सत्य को भगवान् कृष्ण ने गीता में इस प्रकार कहा है-

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।। (गीता 3/10)
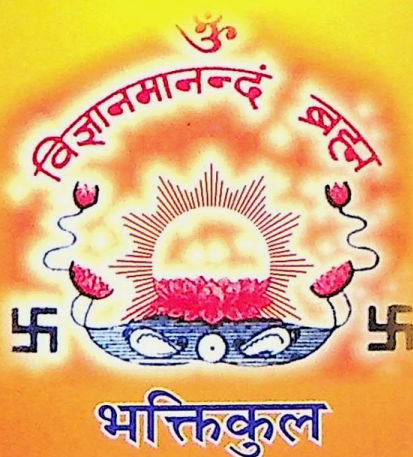
भक्तिकुल

भक्तिकुल ग्रन्थमाला का द्वितीय पुष्प

PILGRIMS PUBLISHING
◆ Varanasi ◆
www.pilgrimsonlineshop.com
www.pilgrimspublishing.in

वैदिक वर्ण समरसता सहयज्ञ
₹ 300/-

ISBN 978-93-5076-152-6